

वैखानस आगम : एक अध्ययन

**A Study of
Vaikhānasa Āgama**



डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय

वैखानस आगमः एक अध्ययन A Study of Vaikhāṇasa Agama

डॉ० शीतलोप्रसाद पाण्डेय

वैखानस आगम : एक अध्ययन
A Study of
Vaikhānasa Āgama



डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय

वैखानस आगमः एक अध्ययन A Study of Vaikhāṇasa Āgama

डॉ० शीतलप्रसाद पाण्डेय

वैखानस आगम : एक अध्ययन A Study of Vaikhānasa Āgama

लेखक

डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय

असिस्टेंट प्रोफेसर, धर्मागम-विभाग

संस्कृतविद्या धर्मविज्ञानसङ्घाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-५

प्रकाशक :

कला प्रकाशन

बी. ३३/३३-ए-१, न्यू साकेत कालोनी

बी.एच.यू., वाराणसी - ५

वैखानस आगम : एक अध्ययन
A study of vaikhānasa Āgama

Published with the 50% Financial Assistance

From Rastriya Sanskrit Sansthan (Deemed University)

New Delhi

© डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय

प्रथम संस्करण : २०११ ई०

ISBN : 978-93-80467-59-7

प्रति ५००

मूल्य : रु. १६९.००

प्रकाशक :

कला प्रकाशन

बी. ३३/३३-ए-१, न्यू साकेत कालोनी

बी.एच.यू., वाराणसी - ५

फोन नं. ०५४२-३१०६८२

पुरोवाक्

भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं साधना के अनादि स्रोतद्वय हैं— निगम एवं आगम। इतिहासकार आज तक यह निर्णय नहीं कर सके कि इनमें प्राचीन कौन है ? किन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि जिस प्रकार तर्कशास्त्र में निगमन एवं आगमन एक दूसरे के पूरक हैं उसी प्रकार निगम एवं आगम एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। निगम द्वारा प्रकाशित सत्य का साक्षात्कार करने का साधन है आगम। निगम सिद्धान्त पक्ष है तो आगम उसका क्रियात्मक पक्ष।

आगमों की एक विशेषता यह है कि वे इस लोक में अभ्युदय एवं सुख की प्राप्ति कराते हुए निःश्रेयस् के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। उनके अनुसार भोग एवं मोक्ष में कोई विरोध नहीं है। आगमों ने भोग का उदात्तीकरण कर उसे मोक्ष का उपाय बनाया है। आगमों का सिद्धान्त मन्त्र है—‘इहलोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं व्रजेत्’। अतः आगमों में सभी व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान का बीज विद्यमान है। अनुभव आधारित होने के कारण यह विज्ञान है। ऐन्द्रिक ज्ञान के अतिरिक्त आगमों में दिव्य ज्ञान की सम्भावना को भी स्वीकार किया गया है, यही मनुष्य का तृतीय नेत्र है। जिसके खुलने पर तुच्छ लौकिक ऐषणाओं की गर्हता भस्मीभूत हो जाती है, वे परमश्रेय के साधन बन जाते हैं।

आगमों ने जो जीवन दर्शन प्रस्तावित किया वह सर्वग्राही है और इसके आधार पर एक अत्यन्त उन्नत एवं स्वस्थ समाज की स्थापना की जा सकती है। लिङ्गभेद एवं जातिभेद से ऊपर उठकर आगमों ने परमार्थ के मार्ग का अनुसरण करने का अधिकार सबको दिया तथा स्त्रीशक्ति के प्रति आदर भाव की स्थापना की। सर्वग्राही एवं सर्वसुलभ होने के लिये ही आगमों ने भक्तिमार्ग को प्रधानता दी। आगम अनुष्ठानपरक हैं एवं अत्यन्त सहज क्रियाओं को अपनी साधना में अपनाते हैं। इसी कारण आगमिक पूजा

पद्धति का विस्तार भारत से लेकर बाली, कोरिया एवं जापान तक दीखता है। आगमिक धारा देवता की पूजा स्वयं देव बनकर करने का उपदेश देती है। आगमिक पूजा का लक्ष्य भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा स्वयं भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिए विवश कर देना है। आगमों की ध्यातव्य दृष्टि है कि मानव-शरीर उसके पापों का फल नहीं, वरन् सुकृतों का फल है। यह देह सर्वश्रेष्ठ साधन है अतः देव-शरीर से भी अधिक स्पृहणीय है।

आगम साहित्य अत्यन्त विशाल है। उनके दो प्रधान प्रकार हैं— १. वेदानुकूल या वेद के अविरोद्ध तथा २. वेद बाह्य। कुछ आगमों एवं उनके आचारों का मूल स्रोत वेदों से ही प्रवाहित होता है। समयाचार की इन्हीं में गणना है। पाञ्चरात्र एवं शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं तथापि इन्हें वेदबाह्य माना जाता है। कौलाचार, वामाचार इत्यादि को अवैदिक कहा जाता है। एक अन्य प्रकार से आगमों का विभाजन वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, जैनागम एवं बौद्धागम में किया जाता है। वैष्णवागम के वैखानस एवं पाञ्चरात्र दो भेद हैं। इनमें पाञ्चरात्र की प्रसिद्धि एवं प्रचलन अधिक है। वैखानस आगम का अधिक प्रचलन दक्षिण में है और वहीं से इसका प्रचुर साहित्य भी प्रकाशित है। वर्तमान में तिरुपति के बालाजी मन्दिर में वैखानस विधि से पूजन-अर्चन की परम्परा चल रही है। किन्तु कभी वैखानसागमों का अवश्य बोलबाला रहा होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि का.हि.वि. में संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय के धर्मागम विभाग के असिस्टेन्ट प्रोफेसर डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने वैखानसागम के लुप्तप्राय सम्प्रदाय को पुनः विद्वानों एवं जनसाधारण के मध्य प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया और 'वैखानस आगम' विषय पर एक बृहद् शोध प्रबन्ध की रचना कर डाली। इस प्रबन्ध में इन्होंने वैखानस-साहित्य, तत्त्वदर्शन, मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-विज्ञान, भगवत्प्रतिष्ठा, भगवत्पूजन, दीक्षा, प्रायश्चित्त इत्यादि विषयों पर वैखानस दृष्टिकोण से विस्तार से विचार किया है और वैखानस-आगम की वैदिकता प्रदर्शित की है। वस्तुतः निगम एवं आगम धारा का सुचिन्तित समन्वय एवं संगम है—वैखानस आगम।

यत्र-तत्र विद्वान् लेखक ने वैखानस आगम की पाञ्चरात्रागम से तुलना एवं श्रेष्ठता भी प्रदर्शित की है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग के द्वितीय भाग में प्रतिमोपादान द्रव्य की चर्चा करते समय विद्वान् लेखक ने प्रसंगतः वैखानस आगम के आधार पर शिला के तीन भेद—स्त्रीशिला, पुंशिला तथा नपुंसकशिला एवं वृक्ष के तीन भेद—पुंवृक्ष, स्त्रीवृक्ष तथा नपुंसक वृक्ष का उल्लेख किया है। यह भारतीय मनीषा का चरमोत्कर्ष ही था जिसने न केवल पत्थरों एवं वृक्षों में जीवतत्त्व को देखा वरन् उनमें लिङ्गभेद को भी पहचाना।

मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के अध्येताओं के साथ-साथ वास्तुकला, स्थापत्यकला एवं मूर्तिकला में रुचि रखनेवालों के लिये भी उपयोगी होगा। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं प्रवाहयुक्त है और विशेष बात यह है कि यह राष्ट्रभाषा हिन्दी में रचित है। अतः सामान्य जन भी इसका लाभ उठा सकेंगे।

का.हि.वि. के संस्थापक महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी ने अक्टूबर सन् १९०५ में प्रस्तावित विश्वविद्यालय की योजना की रूपरेखा विभिन्न प्रान्तों के संभ्रान्त लोगों के पास भेजी थी। इस योजना का प्रथम लक्ष्य था प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं संस्कृतविद्या का संवर्द्धन, अनुरक्षण एवं जनसामान्य में प्रचार। प्रस्तुत ग्रन्थ मालवीय जी और इस विश्वविद्यालय के उद्देश्यों के अनुरूप एक सत्प्रयास है और इस ग्रन्थ के प्रकाशन से मालवीय जी की आत्मा अवश्य प्रसन्न होगी ऐसा मेरा विश्वास है। मैं इस ग्रन्थ के प्रणयन हेतु लेखक को साधुवाद देता हूँ साथ ही प्रो. प्रेमलता शर्मा के स्नेहभाजन एवं उनके 'आम्नाय'- ग्रन्थ-भण्डार-विगत अनेक वर्षों तक की देखरेख करते रहने वाले स्वाध्यायशील डा. शीतलाप्रसाद पाण्डेय (लेखक) को सस्नेह आशीष भी देता हूँ कि इनके स्वाध्याय का प्रसाद उत्तरोत्तर अनेक ग्रन्थों में फलित होता रहे।

श्री मालवीय जयन्ती

पौष कृ. अष्टमी,

वि.सं. २०६५ (सन् २००८)

स्वा. सोमास्कन्दन्

भूतपूर्व उपकुलसचिव

का.हि.वि., वाराणसी

प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी - २२१००२



दूरलेख शुभम्
दूरभाषण कार्यालय (०५४२) २२०४०८९
निवास (०५४२) २२०४२०३
पैक्स (०५४२) २२०६६९७

पत्राङ्क V.C./1203/129/2010

दिनाङ्क 26/5/10

॥ श्रीः ॥

प्रशस्ति

यह शाश्वत सत्य है कि समग्र भारतीय चिन्तनों की पृष्ठभूमि में निगम और आगम अति प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित रहे हैं। साधना के समस्त पक्ष भी इन्हीं दोनों पर अवलम्बित हैं। शास्त्रकारों की व्याख्या और उसके प्रवचनों से उद्घाटित होता है कि निगम पद का तात्पर्य समस्त वैदिक वाङ्मय में तथा आगम पद का तात्पर्य सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय में निहित है। रामायण, महाभारत, पुराण और धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में बहुत पहले से ही निगम और आगम में समन्वय स्थापित करने का कार्य हुआ है। वस्तुतः निगम और आगम एक दूसरे के पूरक हैं।

विद्वानों ने वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, बौद्धागम और जैनागम आदि नामों से आगमों का विभाजन किया है। प्रत्येक आगमों के अवान्तर विभाग भी हैं, जैसे—वैष्णवागम में वैखानस, पाञ्चरात्र और भागवत सम्प्रदाय। शैवागम में पाशुपत, सिद्धान्तशैव, वीरशैव, कापालिक, भैरव, वाम आदि तथा शाक्तागमों में दस महाविद्या आदि के सम्प्रदाय, इत्यादि।

वैष्णवागमों में वैखानस आगम को वैदिक तथा पाञ्चरात्र आगमों को तान्त्रिक माना गया है। इन दोनों को क्रमशः सौम्य और आग्नेय भी कहा गया है। इनके आगमों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि वैखानस आगमों का पूर्ण वैदिकत्व और पाञ्चरात्र आगमों का अंशतः वैदिकत्व स्वयंसिद्ध है। पाञ्चरात्र आगमों में तान्त्रिक-तत्त्व प्रचुर मात्रा में सहजता से उपलब्ध हो जाते हैं, इसीलिए इनको मिश्र भी कहा गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैखानस तथा महाभारत में पाञ्चरात्र का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त वैखानसों के अपने श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र भी उपलब्ध होते हैं। वैखानस वैष्णव-ग्रन्थ अपने साथ आगम पद का प्रयोग न करके “भगवच्छास्त्र” के नाम से उल्लेख करते हैं।

(vii)

डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने वैखानस मतावलम्बियों एवं इनकी मान्यताओं का सटीक विश्लेषण करते हुए आगम-तन्त्र पर गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ को तीन भागों में सम्पूरित किया है। प्रथम भाग में वैखानस आगमों का परिचय, तत्त्वदर्शन, ब्रह्मतत्त्व, सृष्टि-प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए भाष्य किया गया है। साथ ही लेखक ने मन्त्र, योग तथा नाडी-चक्र आदि का भी विभिन्न संदर्भों के साथ प्रस्तुति की है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में मूर्तिकला, प्रासादलक्षण एवं तृतीय भाग में भगवत्प्रतिष्ठा, उत्सव एवं अर्चन, दीक्षा स्वरूप का भी गम्भीर चिन्तन एवं मनन है।

विद्वान् लेखक डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय जी ने वैखानस-आगम पर गम्भीर चिन्तन एवं मनन करते हुए संस्कृत जगत् को गम्भीर कृति प्रदान की है, जिसके लिए वे अभिनन्दनीय एवं वन्दनीय हैं।

26.5.10

(प्रो० वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री)
कुलपति

समीक्षा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या धर्मविज्ञानसंकाय के धर्मागम विभाग में कार्यरत डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने “वैखानस आगम-तन्त्र का सांस्कृतिक अनुशीलन” शीर्षक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया था, जिसे “वैखानस आगम : एक अध्ययन” के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। ‘ए स्टडी’ अंग्रेजी भाषा का अनुसरण करती हुई हिन्दी भाषा के लेखकों में भी इस प्रयोग की प्रवृत्ति हुई है। हमारी समझ में यह उचित नहीं है। इसके स्थान पर ‘एक गवेषणा’ का प्रयोग उचित होगा। वैष्णव आगम की एक विधा वैखानस आगम पर अभी बहुत कम काम हुआ है। इस स्थिति में विद्वान् लेखक का यह साहस प्रशंसनीय है। प्रारम्भ में दिये गये विषयानुक्रम से ग्रन्थ का सारगर्भित स्वरूप प्रकट होता है।

भारतीय चिन्तन तथा साधना के दो आधारभूत स्रोत हैं, जो निगम और आगम के नाम से प्रख्यात हैं। दोनों ही परम्पराओं में भक्ति, ज्ञान तथा उपासना की स्रोतस्विनी अनादि काल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है और आज भी उसीसे साधनालोक को नित्य नयी दिशाएँ प्राप्त होती हैं। निगम और आगम का सुस्पष्ट स्वरूप महान् कश्मीरी शैवविद्वान् अभिनवगुप्त से बहुत पहले निरुक्तकार यास्क ने ‘इत्यपि निगमो भवति’ कह कर श्रुतियों को उद्धृत किया है। इसी प्रकार वाक्यपदीयकार भर्तृहरि तथा इनके टीकाकार वृषभदेव और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के देवसूरि ने आप्तवचन के रूप में उद्धृत किया है। ‘आप्त’ शब्द की सुन्दर व्याख्या चरकसंहिता जैसे ग्रन्थों में भी दी गई है। प्रस्तुत लेखक ने इन दोनों शब्दों की व्याख्या अतिविस्तार से अनेक विद्वानों के वचनों को उद्धृत करते हुए की है। प्रारम्भ में विद्वान् लेखक ने निगम और आगम शब्दों की व्युत्पत्ति देते हुये इनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त उद्धरण—वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका, उपासकाध्ययन, मनुस्मृति की कुल्लूकभट्ट की टीका आदि के वचनों को पेश करते हुये इनकी अर्थ-

परम्परा को स्पष्ट किया है और ईश्वरसंहिता तथा पौष्करसंहिता के प्रमाणों से इस विषय को प्रमाणित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राक्कथन और विषयप्रवेश के अतिरिक्त तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग को चार-चार अध्यायों में बाँटा गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इनका परिचय दे दिया गया है। 'आगम' शब्द वैचारिक यात्रा में विविध सोपानों से होता हुआ कभी वेद, कभी शास्त्र, कभी प्रमाणभूत तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ अपनी यात्रा विशाल साहित्य के रूप में पूरी करता है। इस विषय को आगे बढ़ाते हुये लेखक ने आगम और निगम शब्द की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है, इस सम्बन्ध में लेखक ने आचार्य रामेश्वर झा की उक्ति को भी उद्धृत किया है। परवर्ती बौद्धों ने आप्तवचन आदि कह कर आगम शब्द को प्रमाणित किया है। विद्वान् लेखक ने आगम शब्द के चार समृद्ध रूप बताये हैं। आगम शब्द का दूसरा पक्ष प्रचलित भाषा में तन्त्र शब्द से कहा गया है। विद्वान् लेखक ने तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये विभिन्न कोषकारों तथा अनेक विद्वानों के कथन की स्पष्ट चर्चा की है और प्रभूत प्रमाणों के द्वारा तन्त्र (आगम) शब्द का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। आगमों के रचनाकाल पर भी पर्याप्त विचार प्रस्तुत है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का पाञ्चरात्र से गहरा सम्बन्ध है। इसके परिचय के बिना यह कार्य अधूरा रह जाता। इसलिए यहाँ इसका परिचय भी दिया गया है। प्रारंभ में पाञ्चरात्र शब्द की निरुक्ति के ऊपर विस्तार से विचार किया गया है। बाद में महाभारत के नारायणीय पर्व के आधार पर इसका परिचय दिया है। हम समझते हैं कि पाञ्चरात्रागम का महाभारत से और वैखानस आगम का वाल्मीकि रामायण से गहरा सम्बन्ध है। पाञ्चरात्र संहिताओं के आधार पर इस शास्त्र का परिचय देते हुए आगे चल कर पाञ्चरात्र आगम की प्राचीनता, पाञ्चरात्र साहित्य का परिचय दिया है, साथ ही पाञ्चरात्र और वैखानस आगमों के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है।

प्रथम भाग

ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में (पृष्ठ ४४-५८) प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के अनुरूप वैखानस आगम का विस्तार से परिचय

दिया गया है। वैखानस आगम-साहित्य का परिचय भी विस्तृत रूप में विवेचित है।

द्वितीय अध्याय में वैखानस आगमों में प्रतिपादित तत्त्वदर्शन का प्रामाणिक स्वरूप दिखाया गया है और पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा स्वरूप का सुस्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत है। प्रस्तुत आगम की सृष्टिप्रक्रिया पर भी गम्भीर निरूपण हुआ है। वैखानस आगम में स्वीकृत जीव के स्वरूप पर तथा अपवर्ग के स्वरूप पर भी विस्तृत विचार वर्णित है।

तृतीय अध्याय में इस आगम में निर्दिष्ट मन्त्रों के स्वरूप पर विचार हुआ है। अष्टाक्षर मन्त्र के स्वरूप पर यहाँ विशेष विचार किया गया है। गायत्री मन्त्र के साथ ही मन्त्र के न्यास की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में वैखानस आगम में वर्णित योग तथा नाडीचक्र के स्वरूप को सुस्पष्ट प्रदर्शित किया गया है। हम कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के तत्त्वदर्शन के साथ योग का गहरा सम्बन्ध है।

द्वितीय भाग

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में प्रतिमा-विज्ञान या मूर्तिकला के स्वरूप पर चर्चा की गई है। प्रतिमा के विभिन्न अर्थों के साथ ही मत्स्य आदि अवतारों का सप्रमाण निरूपण किया गया है। विभिन्न विभवावतारों के विवेचन के साथ ही अर्चनोपयोगी पात्रों पर भी प्रकाश प्रदर्शित है।

द्वितीय अध्याय में प्रतिमोपादान द्रव्य—शिला, रत्न, धातु, दारु तथा मृद् का पृथग्-पृथग् विस्तार से निर्देश किया गया है। प्रतिमा बनाने की विधि, ध्रुवबेर के किरिट, पीठ तथा आय आदि की परीक्षा के साथ ही बेरों की स्थापन विधि पर भी विचार वर्णित है।

तृतीय अध्याय में प्रतिमा-मान—अङ्गुलादिमान, मानादिविभाग तथा तालमान के स्वरूपों को प्रदर्शित किया गया है। यहीं आगे मानाङ्गुलप्रमाण, मात्राङ्गुलप्रमाण तथा देहाङ्गुल का लक्षण भी लिखित है। पाञ्चरात्रागम की पद्धति से मानोन्मानादि शब्दों का विवरण पूरी स्पष्टता से प्रदर्शित किया गया है। साथ ही यह भी प्रतिपादित है कि मानादि की न्यूनता से विग्रह में दोष

की पूरी सम्भावना रहती है, इसलिए मूर्तिनिर्माण के समय पूरी तरह से सावधान रहना चाहिए। इसी स्थल पर मूर्ति के गुण-दोष के परिणाम भी वर्णित है।

इसके बाद चतुर्थ अध्याय में प्रासाद-लक्षण पर विचार किया गया है। आलय-कल्पन तथा उसके निर्माण की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। 'वास्तु' शब्द की यहाँ दी गई व्याख्या विशेष रूप से अवधेय है। आलय का निर्माण कहाँ हो, इसके लिए शान्तिक-देश तथा पौष्टिक-देशों का लक्षण सुस्पष्ट बताया गया है। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुये यहाँ वैष्णव से लेकर पैशाच पर्यन्त नवविध देशों का परिचय दिया गया है। आगे वास्तुदेश से सम्बद्ध विविध विषयों का—यथा भूमि-परीक्षण, भूमि-शोधन के लिये आवश्यक विषयों पर भी विचार किया गया है। इसी प्रसंग में भूमि के कर्षण की पद्धति बतायी गयी है। बीजवपन की पद्धति को बता कर आगे यहाँ वास्तुपूजा का विधान प्रदर्शित है। प्रकृत अध्याय में विद्वान् शोधकर्ता ने वास्तुपद-कल्पन के साथ नगर-सन्निवेश की पद्धति को बताते समय ग्रामादि के विभिन्न भेदों का भी स्वरूप दिखाया है। यह प्रकरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रासादनिर्माण की विधि को बताते समय विमानों का स्वरूप विवेचित हुआ है। देवालय-कल्पन के क्रम में आद्येष्टका-न्यास का अपना महत्त्व है। आगे गर्भन्यास की चर्चा की गयी है। इसी प्रसंग में शिलाघट-स्थापन, स्तूपी-न्यास, स्तूपी-कील, स्तूपीदण्ड जैसे विषय वर्णित हैं। प्राकार-कल्पन इनमें से एक है। कूप, तडाग (तालाब) आदि के साथ विभिन्न शालाओं (स्थानों) का निर्माण कहाँ किया जाय ? इनका निरूपण करते हुए, यह प्रकरण समाप्त होता है। हम समझते हैं कि प्रासाद-लक्षण वाला यह अध्याय इस शोधप्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है।

तृतीय भाग

प्रथम तथा द्वितीय भाग के समान इस तृतीय भाग में भी चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भगवत्प्रतिष्ठा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इसमें 'प्रतिष्ठा' शब्द की व्युत्पत्ति के साथ ही प्रतिष्ठा के विविध भेद प्रदर्शित हैं। अंकुरार्पण, सामग्री का एकत्रीकरण, यज्ञशाला का निर्माण, ध्रुवबेर आदि का अक्षि-उन्मीलन, बिम्बशुद्धि, वास्तुशुद्धि, कुम्भपूजा, कलशस्थापन,

अग्निप्रतिष्ठापन, प्रतिसरबन्धन, शयनाधिवास, रत्नन्यास तथा कलान्यास आदि विषयों का सांगोपांग स्वरूप प्रदर्शित है। केशव आदि चौबीस ध्रुवबेरों की प्रतिष्ठा, सूर्यप्रतिष्ठा, दुर्गाप्रतिष्ठा, भक्तबेर प्रतिष्ठा तथा गृहार्चाप्रतिष्ठा भी ग्रन्थ में प्रतिपादित हैं। प्रतिष्ठाविधि की अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिए। प्रतिष्ठाफल का भी प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अर्चन, उत्सव एवं स्नपन विषय का विवेचन किया गया है। अर्चन प्रकरण में आलयार्चन तथा गृहार्चन विधि बताई गयी है। नित्य एवं नैमित्तिक तथा काम्यार्चन का स्वरूप भी प्रतिपादित है। अर्चन उपकरण के साथ ही पूजा के विभिन्न भेद होते हैं, पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि। इनका विस्तार से विधान वर्णित है। नित्यार्चन के उपक्रम में अर्चनांगभूत चतुर्दश कर्मों का विवरण भी दिया गया है। मन्त्रासन, स्नानासन, अलंकारासन, भोज्यासन, यात्रासन तथा पर्यकासन का विशेष विवेचन किया गया है। उत्सव के स्वरूप के साथ ही यहाँ विभिन्न प्रकार के उत्सवों का विशेष विवरण भी विवेचित है। पवित्रारोपण प्रयोगविधि का विशेष महत्त्व है। ब्रह्मोत्सव के समय द्रविडदेश में भव्य समारोह तिरुपति में होता है। स्नपन के स्वरूप का सम्यक् विवेचन करते हुये, स्नपनकाल, स्नपन के भेद, कलश आदि की संख्या तथा अभिषेक विधि का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप तथा महत्त्व को सविशेष प्रदर्शित किया गया है।

तृतीय अध्याय में दीक्षास्वरूप पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। पाञ्चारात्रागम के विपरीत वैखानस विधान में साक्षात् विष्णु के द्वारा गर्भस्थ शिशु को दीक्षा दी जाती है। यहाँ दीक्षित शिष्य के नियम तथा पुण्ड्रधारण का विधान भी प्रतिपादित है।

चतुर्थ तथा अन्तिम अध्याय में प्रायश्चित्त के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसमें 'प्रायः' तथा 'चित्त' की विशेष व्याख्या बताई गयी है। प्रायः का अर्थ बुराई तथा चित्त का अर्थ दूर करना है। वैखानस आगम में प्रायश्चित्त का प्रधान उद्देश्य यह है कि भगवान् की निर्बाध तथा निर्दोष पूजा करनी चाहिए। इसमें यदि कोई त्रुटि हो जाय, तो इसके मार्जन के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है। साङ्गोपाङ्ग प्रायश्चित्त की विधि बताई गयी है। अन्त में वैखानस आगम के ऊपर आपत्ति तथा उसके समाधान का स्वरूप भी वर्णित है।

उपसंहार के साथ ग्रन्थ के अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थसूची, विशिष्ट शब्दों की विवरणी, सप्तावरणदेवमण्डल तथा विशिष्ट शब्दसूची को दिया गया है, जो ग्रन्थ की उपादेयता को और भी विशिष्ट रूप से बढ़ाते हैं।

इस प्रकार हमने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में यह देखा है कि अपने विषय के ऊपर पूरा न्याय करते हुए प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध में विस्तार से महत्त्वपूर्ण विषयों का परिचय दिया ही है। वैखानस आगम की पद्धति से उन सभी पक्षों पर विचार किया है, जिनकी सुधी पाठक को जिज्ञासा रहती है। हम किन शब्दों में प्रस्तुत गवेषणा की प्रशंसा करें, हमारे लिए दुरूह सा लगता है। विद्वान् लेखक डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय भगवती शीतला के प्रसाद स्वरूप हैं। अपने गम्भीर चिन्तन-मनन से आगमशास्त्र की इस विधा को पूरी तरह समझा है। राष्ट्रभाषा में अभी तक इस विषय पर ऐसा कार्य मुझे देखने को नहीं मिला है। उत्तर भारत में उद्गीथ और दक्षिण भारत में प्रवर्द्धमान इस महती वैष्णव धारा की यह अनुपम कृति है। हमने अपनी पूरी हार्दिक प्रसन्नता के साथ इन्हीं शब्दों के रूप में इस विषय का परिचय और महत्त्व दिखाने का प्रयास किया है। इन्हीं शुभ शब्दों के साथ हम अपने इस वक्तव्य को पूरा करते हैं।

हमें आशा है कि सुधीजन इसका लाभ उठाने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होंगे।

विद्वद्वशंवद

ब्रजवल्लभ द्विवेदी

राष्ट्रीय पण्डित ब्रजवल्लभ द्विवेदी

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष

सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

एवं

निदेशक

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

जंगमवाडी मठ, वाराणसी

शुभाशंसा

ब्रह्म-कण्ठ का भेदन करके प्रकट हुयी थीं दो शुभ-ध्वनियाँ,
‘अथ ओंकार’ रूप धारण कर बिखरीं व्यापकता की कड़ियाँ ॥
विष्णु शिवादि रूप धारण कर फूटीं अमियभरी फुलझड़ियाँ,
जिनके आकर्षण से खिंचकर जीव-कणों की खिलीं पँखुड़ियाँ ॥
ऋषियों के मानस पर उतरीं तन्त्रागम की विविध विधाएँ,
भेदभाव से रहित जिन्होंने, कीं पल्लवित नवीन दिशाएँ ॥
विष्णु सदाशिव, सूर्यदेव से अनुप्राणित हेरम्ब-कथाएँ,
शक्तिस्त्रोत में मज्जित होकर निकलीं विविध-स्त्रोत धाराएँ ॥
वैदिक विधियों पर आधारित वैखानस आगम की धारा,
पाञ्चरात्र ने आप्तागम पर नारायण की भक्ति-प्रसारा ॥
विग्रह शीतल सौम्य विष्णु का श्रीशीतला के मन भाया,
तप, स्वाध्याय, भक्ति-निष्ठा से वैखानस को साध्य बनाया ॥
शोधपूर्ण पुस्तक का प्रणयन एकात्मा की अभिनव काया,
बने विश्व-मानस की प्रहरी जिससे कटे आसुरी माया ॥
शिव-संकल्प सदा अभ्युदय यश की प्रसरे शीतल छाया,
पथ प्रशस्त हो संकल्पों का, जीवन की सुरभित हो काया ॥

रामनिवास तिवारी

अतिथि अध्यापक

धर्मागम-विभाग

बी.एच.यू., वाराणसी-५

प्राक्कथन

काशी अध्यात्म विद्या का केन्द्र है और यहाँ अनादि काल से भगवान् केशव की आराधना होती रही है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य का परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष बिना उपासना के सम्भव नहीं है, चाहे वह उपासना ज्ञानमार्ग की हो अथवा भक्तिमार्ग की। ज्ञानमार्गीय उपासना असिधार पर चलने के समान है, किन्तु भक्ति प्रेम रूप होने के कारण सर्वजन-सुलभ तथा सुकर है। “वैखानस आगम : एक अध्ययन” इसी भक्ति मार्ग के प्रतिपादनों का संग्रह करने वाला अनन्य ग्रन्थ है।

संस्कृत-साहित्य के जिन क्षेत्रों में जो कार्य हुए हैं, उनकी तुलना में इन आगमिक ग्रन्थों तथा साहित्य से सम्बद्ध किये गये कार्य सर्वथा नहीं के बराबर हैं। सच तो यह है कि इस आगम की विपुल साहित्य-सम्पदा का काफी अंश अभी तक प्रकाश में भी नहीं आया है, अतएव जिज्ञासु जगत् को इनका समुचित परिचय नहीं है।

आगमशास्त्र की महत्ता को रेखांकित करते हुए आपस्तम्ब ने लिखा है— “अङ्गसमुदायस्तन्त्रम्” (१/१५/१), अर्थात् सभी शास्त्रों को जोड़ने का अनुपम शास्त्र है — तन्त्र अथवा आगम। इसीलिए शैवागमपरिभाषामञ्जरी में स्पष्ट निर्दिष्ट है —

वैदिकं ब्राह्मणानां तु राज्ञां वैदिकतान्त्रिकम् ।

तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा ॥ (13/155)

वैदिक प्रक्रियायें ब्राह्मणों के लिए, वैदिक-तान्त्रिक क्षत्रियों के लिए, तान्त्रिक प्रक्रियायें वैश्य एवं शूद्रों के लिए अलग-अलग होते हुए भी “सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा” कहकर यह उद्घोषित किया कि कोई भी शास्त्र या आचरण बिना आगमिक प्रक्रिया के सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सकता। अत एव जो लोग तन्त्र की अवहेलना करने का उपदेश देते हैं अथवा उनकी सामयिक उपयोगिता पर अंगुली उठाते हैं, उनका आधार विचारहीन तथा अमान्य होने योग्य है, क्योंकि धर्म-अधर्म दोनों का साङ्गोपाङ्ग विवरण देने वाला शास्त्र आगम ही है—

आ समन्ताद् गमयति धर्माधर्मौ परं पदम् ।

आगमस्तेन कथित इति वेदविदो विदुः ॥

(आगमसुषमा, पृ० ८)

उदाहरणार्थ लन्दन के स्काटलैण्डयार्ड पुलिस ने १९८६-८७ में लन्दन हाईकोर्ट में एक वाद प्रस्तुत किया, जिसका विषय था—तमिलनाडु के हिन्दू मन्दिर में नटराज की जो मूर्तियाँ भूमि में गड़ी थीं, उन्हें चोरों द्वारा लन्दन पहुँचा दिया जाना। इन उत्तम कलाकृतियों को प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने अपना दावा प्रस्तुत किया। तद्देशीय हाईकोर्ट ने समस्या के स्पष्टीकरण के लिए प्रश्न उठाये कि हिन्दू मन्दिर क्या है? कई शताब्दियों तक भूमि में रखी गयी मूर्तियाँ क्या पुनः पूजा के प्रयोग में लाई जा सकती हैं? उनको भूमि खोदकर गहरे भीतर क्यों रखा जाता है? और बाहर निकालने के पश्चात् भी क्या वे अपनी अर्चना पात्रता रखती हैं?— तथा क्या उनका वैधानिक स्वरूप (legal personality) यथापूर्व स्थित रहता है? इन प्रश्नों पर माननीय न्यायाधीश ने भारत सरकार से प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करने को कहा। भारत सरकार की ओर से विद्यावाचस्पति डॉ० आर० नागास्वामी ने उपस्थित होकर मरीचिसंहिता तथा कामिकागम जैसे प्राचीनतम आगम ग्रन्थों से उद्धरण देकर इन प्रश्नों का समुचित समाधान किया। मरीचिसंहिता सन् १९२६ ई० में प्रथम बार तिरुपति से छपी थी। इसीसे इसकी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। उन्होंने श्रीविमान नामक एक शिव मन्दिर पर प्राप्त शिलालेख का भी उद्धरण दिया, जो श्री राजेन्द्र चोल (ग्यारहवीं शताब्दी के राजवंश) का माना जाता है। इससे यह भी प्रमाणित है कि आगमिक परम्परा प्राचीनतम काल से बिल्कुल खण्डित नहीं हुई, अपितु विविध रूपों में धार्मिक व्यक्तियों की धारणाओं तथा परम्पराओं को प्रवाहित करती रही है।

डॉ० नागास्वामी ने अपने कथन की पुष्टि में मन्दिरपूजा को विमानार्चन का नाम दिया और उसमें पूजा के दो स्वरूपों—अमूर्त तथा समूर्त का उल्लेख किया है—

“तस्मात् परम्ब्रह्म परं ज्योतिः अक्षरं सर्वभूतात्मकं सर्वधारं सनातनं परमपुरुषमर्चयेत्, तत् विमानार्चनम्। तदाराधनं द्विविधम्—अमूर्तं समूर्तमिति। अग्नौ हुतममूर्तं, प्रतिमाराधनं समूर्तम्। तच्छ्रेष्ठं यजमानाभावेऽप्यविच्छिन्नं भवति।” (विमानार्चनकल्प, पटल १)।

उन्होंने स्ट्रेला क्रामरिश की पुस्तक का भी उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिससे आगम की प्रासंगिकता को बल प्राप्त होता है। (The Hindu Temple, Vol. I, p. 132-133)

विद्वान् नागास्वामी ने अपने कथन के समर्थन में मरीचिसंहिता का उद्धरण प्रस्तुत कर यह बताया है कि मूर्तियों को किन परिस्थितियों में भूमिगत किया जाता है तथा स्नपनादि प्रक्रियाओं का सम्पादन करते हुए किस प्रकार मिट्टी के ऊपर नदी की सिकता का प्रक्षेपण किया जाता है। ये उद्धरण मरीचिसंहिता से प्रस्तुत किये हैं, जो अधोलिखित हैं—

“अथ भयरक्षार्थं निष्कृतिं वक्ष्ये—चोरैः शत्रुभिः परचक्रभयाद् वा ग्रामसङ्कुले सति भयरक्षार्थं कौतुकस्नपनोत्सवबलिबेरलौहिकप्रतिमानां देवीनां च तिरोधानं कारयेत्।

गुप्ते शुचौ देशेऽवटं खनित्वा सिकताः प्रक्षिप्य उपरि कुशान् आस्तीर्य अवटे महीं देवीमभ्यर्च्य आपो हिष्ठेति प्रोक्ष्य...अवटे अप्रमादं संन्यस्य यद्वैष्णवम् इति प्राक् शिरसः शाययेत्। अवटं सिकताभिर्मृदा वा पूरयित्वा-ऽवटच्छिद्रं सुदृढं कारयेत्।” (विमानार्चनकल्प, पटल-७०)। यह ध्यातव्य है कि वैखानस आगम का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ मरीचिसंहिता है।

माननीय न्यायालय ने उनके तर्कों को प्रामाणिक मानने के लिए उस ग्रन्थ का प्रामाणिक अनुवाद कराया और तत्सम्बन्धी विद्वानों से उक्त विषय पर मन्त्रणा कर भारत सरकार के पक्ष में निर्णय दिया। डॉ० नागास्वामी का कहना है कि वर्तमान समय में आगमिक अध्ययन की प्रासंगिकता का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। उन्हीं के शब्दों में—

"Thus the Agamic texts like *Marici Samhita*, and *Kamikagama*, etc., were found relevant in deciding the case in

favour of India, and I was happy that a knowledge of Agamic studies helped me in proving in a foreign court the famous London Nataraja case.

I would like to state that this is an excellent example of the relevance of Agamic studies in modern times. There are many intricate questions that require answers based on textual material. In my opinion this study has been neglected far too long and deserves to be given immediate attention." (Relevance of Agamic studies in Modern Times - A case study, Dr. R. Nagaswamy, Agama Susama, p. 267-274)

यह ग्रन्थ जिनकी समर्थ दृष्टि की सृष्टि अथवा अकुण्ठ ईक्षण का फल है, तथा जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उभयविध कृपा से पुष्ट होता हुआ यह चित्त इस ग्रन्थ का उपादान बन पाया है, वे हैं पूजितचरण, सर्वदा सश्रद्ध प्रणम्य गुरुजन हैं महामहोपाध्याय आचार्य कमलेशदत्त त्रिपाठी, एमेरिट्स प्रोफेसर, बी.एच.यू., डॉ० बाबूलाल मिश्र, पूर्व अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, डॉ० रामनिवास तिवारी सम्मानित आचार्य धर्मागम विभाग। ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर आज प्रथम त्रयी के चरणों में ही अनन्त प्रणाम निवेदित कर रहा हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य कमलेशदत्त त्रिपाठी जी ने मेरी नानाविध सहायता की है, उसे शब्दों से नहीं कहा जा सकता है।

पूज्य गुरुदेव डॉ० रामनिवास तिवारी तथा परमश्रद्धेया डॉ० ऊर्मिला शर्मा जी की इस ग्रन्थ पर सविशेष कृपा रही है। ग्रन्थ को अक्षरशः शुद्ध करवाना प्रकाशनार्थ लेखक में साहस भरना तथा आशीर्वचन से इसकी समृद्धि करना इस कृपा के ही परिणाम हैं। जिनकी मेरे ऊपर अहैतुकी कृपा रही है, वे हैं—पुरोवाक् के प्रणेता प्रातःस्मरणीय पूज्य पं. सा. सोमास्कन्दन् जी। आपके युगल चरणों में सश्रद्ध प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। आचार्य ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की समीक्षा लिख कर मुझे कृतार्थ किया। अनेक स्थल पर मार्गनिर्देशन कर ग्रन्थ को परिष्कृत किया। अतः इनके चरणों में सादर नतमस्तक हूँ। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय ने कृपा पूर्वक प्रशस्ति लिखकर मुझे उपकृत किया। मैं एतदर्थ उनके

प्रति प्रणति भाव से आभार व्यक्त करता हूँ। पूना के विद्वान् डॉ० पी.पी. आपटे ने अपनी महत्वपूर्ण शोध-सामग्री मुझे प्रेषित किया है। इस शुभ अवसर पर मैं सादर उन्हें प्रणाम करता हूँ।

तदनन्तर जिन गुरुजनों ने सुदीर्घ अवधि तक अपना मुझे स्नेह दिया, उनके प्रति अतिशय कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए सविनय प्रणाम निवेदित करना है, वे हैं— संस्कृत जगत् के अमिट हस्ताक्षर एवं पूर्व सङ्कायप्रमुख, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय प्रो० कृष्णकान्त शर्मा, न्यायशास्त्र के मान्य विद्वान् प्रो० जी० आज्जनेय शास्त्री, साहित्य विभाग के अध्यक्ष प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी तथा धर्म-दर्शन के आचार्य प्रो० एस. विजय कुमार। इन समस्त विद्वज्जनों की कृपा दृष्टि सर्वदा मेरे ऊपर बनी रही है।

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय के प्रमुख प्रो. आर.सी. पण्डा का सदा मेरे ऊपर कृपादृष्टि रही है। इस शुभ अवसर इन्हें सादर सहस्रशः प्रणाम करता हूँ। धर्मागम विभाग के अध्यक्ष प्रो० कमलेश झा सदा मुझे इस सत्कार्य की ओर प्रेरित करते रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। इस अवसर पर इन्हें शतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ। मित्रवर डॉ० भक्तिपुत्र रोहतम अपने ही हैं, अत एव इन्हें हार्दिक धन्यवाद से मण्डित करता हूँ।

प्रातःस्मरणीय पूज्य पं० विद्यानिवास मिश्र, प्रो० प्रेमलता शर्मा तथा बिहार के डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी तथा स्वा. सोमास्कन्दन् इन विद्वद्वर्यों की मनीषी कृतियों से कार्य करने की सही दृष्टि मिली है। इन सबको सादर वन्दन करता हूँ।

भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली ने मुझे फेलोशिप प्रदान कर इस कार्य को सम्पादित कराया तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली ने इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ सहायताराशि प्रदान की, इन उभय संस्थाओं के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। डॉ० झिनकू यादव, निदेशक, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी ने अपनी संस्था के द्वारा इस शोधकार्य को करने के लिए संस्तुतिपूर्वक अग्रसारण किया तथा शोध-निर्देशक रहे। इनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

पूज्यपिता पं० श्री रामनाथ पाण्डेय और प्रातःस्मरणीया माँ अखण्ड सौ० श्रीमती सुदामा देवी के स्नेहाशीष व धैर्य-उत्साह-वर्धन का ही यह परिणाम है कि मैं ज्ञान की दिशा में इतनी दूर तक आ सका। उन्हें मेरा बारम्बार नमन—“पितरौ वन्दे ।” सहधर्मिणी श्रीमती आशापाण्डेय को आशिराशि से अभिषिक्त करता हूँ।

भूल होना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अन्यथा वह देवता हो जाय। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी संग्राह्य है, वह सभी गुरुजनों के आशीर्वाद का फल है। मैंने पूरे मनोयोग तथा निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पादित किया है, किन्तु टाइप की तकनीक तथा अनवधानतावश इसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है विद्वज्जन इसकी अनदेखी करेंगे। इस ग्रन्थ की सफलता इन्हींकी सन्तुष्टि पर निर्भर है—

“आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।”

ग्राम—कुरहुआ, वाराणसी
सन् - २०११ ई०

विद्वत्कृपाकांक्षी
शीतलाप्रसाद पाण्डेय

विषयानुक्रम

	पृष्ठ संख्या
विषय-प्रवेश	१-४३
आगम-तन्त्र का सामान्य परिचय	१-२४
पाञ्चरात्रागम	२५-४३
प्रथम भाग	४५-१०६
प्रथम अध्याय - वैखानस आगम का परिचय	४७-६३
द्वितीय अध्याय - तत्त्वदर्शन	६४-८६
तृतीय अध्याय - मन्त्र-विचार	८७-९६
चतुर्थ अध्याय - योग तथा नाडीचक्र	९७-१०६
द्वितीय भाग	१०७-२०३
प्रथम अध्याय - प्रतिमाविज्ञान या मूर्तिकला	१०९-१४५
द्वितीय अध्याय - प्रतिमोपादान-द्रव्य	१४६-१६२
तृतीय अध्याय - प्रतिमा-मान	१६३-१७०
चतुर्थ अध्याय - प्रासाद-लक्षण आलय-कल्पन तथा निर्माण	१७१-२०३
तृतीय भाग	२०५-२७२
प्रथम अध्याय - भगवत्प्रतिष्ठा	२०७-२३९
द्वितीय अध्याय - अर्चन, उत्सव एवं स्नपन	२४०-२६१
तृतीय अध्याय - दीक्षास्वरूप	२६२-२६७
चतुर्थ अध्याय - प्रायश्चित्त	२६८-२७२
उपसंहार	२७३-२७७
● सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची	२७८-२८४

● विशिष्ट शब्दों की विवरणी	२८५-२८९
१. परिशिष्ट- सप्तावरण-देवमण्डल	२९०-२९२
२. परिशिष्ट-वैखानसागमोक्त वैष्णवालयसप्तावरणदेवाः	२९३
३. परिशिष्ट- विशिष्टशब्दसूची	२९४-२९७



विषय-प्रवेश

आगम-तन्त्र का सामान्य परिचय

भारतीय चिन्तन तथा साधना के दो आधारभूत स्रोत हैं, जो निगम, आगम अथवा तन्त्र के नाम से प्रख्यात हैं। दोनों ही परम्पराओं में भक्ति, ज्ञान तथा उपासना की स्रोतस्विनी अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही है और आज भी उसी से साधनालोक को नित्य नयी दिशायेँ प्राप्त होती हैं। महाभारत का उद्घोष है कि श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणों का विचार तथा आगमशास्त्र में बताये हुए मङ्गलमय साधनों का अनुष्ठान करने से मनुष्य जरा-मृत्यु के भय से रहित होकर सुख से सोता है।^१

आगम और निगम दोनों शब्दों की व्याख्यायें भारतीयशास्त्र तथा आधुनिक नृतत्त्वशास्त्र अपने-अपने ढंग से करते हैं, परन्तु शब्दावली-भेद के बावजूद निष्कर्ष बहुत कुछ समान है। शास्त्र की दृष्टि से निगम कूटस्थ ब्रह्म की शुद्ध-विद्या है और आगम अधःस्थित पृथ्वी-विद्या। यह पृथ्वी-विद्या ही प्रकृति है और नृतत्त्व की भाषा में लोकविद्या है।^२ निगम के केन्द्र में 'सूर्य' है, जो ब्रह्म का प्रतीक है और आगम के केन्द्र में 'पृथ्वी' है, जो प्रकृति अथवा लोकजीवन का प्रतीक है। व्यवहार में शुद्ध रूप में हमें निगम या आगम प्राप्त नहीं होता, जो प्राप्त होता है, वह है वस्तुतः 'निगमागम'। उपनिषदों में निगम तत्त्व अर्थात् ब्रह्मविद्या का प्राधान्य है, तो तन्त्रग्रन्थों में आगम तत्त्व अर्थात् पृथ्वीतत्त्व या लोकतत्त्व का। वस्तुतः निगम की आध्यात्मिक विद्या को विज्ञान बनाने का श्रेय आगम को है।

संस्कृत वाङ्मय में 'आगम' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है, किन्तु प्रतीयमान विरोधों के होते हुए भी उनमें प्रायः एकरूपता है। आगम

१. श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः—शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व-२१९/४६.

२. द्र. चिन्मय भारत, पृ. ५४.

शब्द 'आ' उपसर्ग के साथ 'गम्' धातु से निष्पन्न है, अर्थात् 'आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगमः'। इसी प्रकार 'निगम' भी 'नि' उपसर्ग के साथ गम् धातु से निष्पन्न होने के कारण 'निःशेषेण अर्थं गमयति इति निगमः' दोनों का ही अर्थ किसी ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। गम् धातु गत्यर्थक होने के साथ ही साथ ज्ञानार्थक भी हैं—“ये गत्यर्थाः धातवः ते ज्ञानार्थाः”।^१ 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूर्णता है। इस प्रकार आगम का अर्थ हुआ पूर्ण ज्ञान, पवित्र ज्ञान, स्वतःस्फूर्तज्ञान, विमलज्ञान, निराकुलज्ञान, गुह्याद्गुह्यतरज्ञान, शिवज्ञान, दिव्यशास्त्र, अवबोधरूपज्ञान और सिद्धान्त आदि।^२ इस प्रकार 'आगम' वह शास्त्र है, जिसके द्वारा सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्ववैशारदी में यह प्रतिपादित किया है कि आगम यह बताने की प्रक्रिया है कि मनुष्य किस प्रकार इस लोक में सुख प्राप्त करते हुए भी मुक्ति प्राप्त करता है।^३ 'उपासकाध्ययन' में आगम शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि हेय तथा उपादेय रूप से धर्मार्थकामादि चतुर्वर्ग समाश्रय पूर्वक त्रिकालगत अर्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या आगम है।^४

कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका में दो प्रकार की श्रुतियों का प्रतिपादन किया है। वैदिकी श्रुति तथा तान्त्रिकी श्रुति।^५ यहाँ टीकाकार ने दोनों आगम तथा निगम को श्रुतिमूलक माना है। स्वयं मनु ने श्रुति का अर्थ वेद किया है।^६ अर्थात् वेद ही श्रुति है। अतः आगम की मौलिकता वेद से ही सिद्ध हो जाती है, दोनों ही अनादि हैं और दोनों के ही कर्ता का स्मरण नहीं है।

स्वामी करपात्री जी ने 'निगम' की परिभाषा करते हुए यह प्रतिपादित

१. जर्नल ऑफ़ कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज- १९७०, पृ० २९.

२. जर्नल ऑफ़ कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज- १९७०, पृ० ३०

३. “आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।” तत्त्ववैशारदी १-७.

४. हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्। कालो भयागतानर्थान् गमयत्यागमः स्मृतः॥ उपासकाध्ययन, श्लोक १००.

५. टीका कुल्लूकभट्ट मनुस्मृति २/१.

६. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो। तत्रैव.

किया है कि “सम्प्रदायाविच्छिन्ने सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं निगमत्वम्”— अर्थात् जिस वाणी या ज्ञानधारा की परम्परा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही हो और जिसके कर्ता का स्मरण न हो वही निगम है।^१ कुछ संशोधन के साथ यही परिभाषा आगम के ऊपर भी चरितार्थ होती है। आगम भी अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त होते हैं, किन्तु इसके कर्ता के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। नैयायिक सामान्य पुरुष के द्वारा वेद की संरचना को असम्भव मानते हुए उसे भी ईश्वररचित ही मानता है, और पुरुष शब्द का अर्थ अलौकिक पुरुष या सर्वशक्तिमान् ईश्वर करता है।

इस प्रकार आगम तथा निगम दोनों ही परमेश्वरकृत हुए। ‘ईश्वरसंहिता’ में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है कि आगम का मूल वेद के सदृश ही है। ईश्वरसंहिता में तो यहाँ तक कहने का प्रयास किया गया है कि वेदरूपी महान् वृक्ष का यह मूल है, ऋग् आदि इसकी शाखाएँ हैं।^२ पौष्करसंहिता में भी इसे इतिहास, पुराण तथा वेद-वेदान्त से युक्त माना गया है।

मूल शब्द से यह नहीं समझना चाहिए कि निगम की उत्पत्ति आगम से हुई है बल्कि यहाँ मूल का अभिप्राय वेद का क्रियात्मक रूप अभिप्रेत है। अर्थात् आगम के बिना निगम का लोकोपयोगी होना या व्यवहार में आना असम्भव है। आगम परम्परा भी इस विचार से असहमत नहीं है। ‘कुलार्णवतन्त्र’ में कृतयुग में आचार का मूल श्रुति को बताया गया है तथा वही त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण तथा कलियुग में आगम के रूप में प्रतिपादित है।^३ इससे इतना स्पष्ट है कि सिद्धान्त तथा व्यवहार या आचार दोनों ही साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि कोरा सिद्धान्त कभी उपयोगी नहीं होता। भर्तृहरि ने आगम का बीज वेदों में ही माना है।^४ उनका कहना है कि पूर्वगमों के उच्छिन्न हो जाने पर तथा वेद में ही बीजरूप में सन्निविष्ट रहने के कारण उन्हीं के

१. सन्मार्ग, आगम विशेषांक, पृ० १.

२. ईश्वरसंहिता - १-२४.

३. कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः। द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥
कुलार्णवतन्त्र, उद्धृत, भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ६६४.

४. वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड - १३४, टीका, पृ० ५१-५२.

आधार पर आगमान्तरों का निबन्धन किया जाता है। अतः आगमों के प्रवाह से ही अनादिता सिद्ध हो जाती है। आगम का मौलिक अर्थ परम्परा प्राप्त ही है और परम्परा का स्रोत वेद या निगम ही है। गुरु-शिष्य परम्परा रूप से जो शिष्ट परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आती है, उसी को आगम कहते हैं। वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभदेव ने “यौ असौ शिष्टानाम् अविच्छिन्नः उपदेशः”^१ तथा ‘अनादिः अगृह्यमाणकारणाचारोपदेशागमः’^२ कहकर इसी बात का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं वाक्यपदीयकार ने यह दृढतापूर्वक प्रतिपादित किया है कि आगम के अतिरिक्त केवल तर्क से धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक ही है।^३

वेदों में “एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति”, “स्वर्गकामो यजेत”, “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” आदि वाक्य मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं। इन वाक्यों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि “एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति” से लेकर “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” तक का बोध कोई भी व्यक्ति कैसे प्राप्त करे ? इसकी जिज्ञासा हो जाती है। इस जिज्ञासा को अधिक स्पष्ट रूप से “स्वर्गकामो यजेत” का ‘यजेत’ शब्द व्यक्त करता है। भावनाद्वय से समन्वित इस शब्द के लिए द्रव्य, देवता, मन्त्र तथा विधि की अपेक्षा होती है। ये विधियाँ भी किसी न किसी साधक ऋषि के प्रयोग-विज्ञान से सिद्ध हैं। जैसे कोई वैज्ञानिक H₂O से पानी को पहचानता है अथवा जैसे कोई विधायिका अपने द्वारा बनाये गये कानून को लागू कराने लिए नियम, उपनियम बनाती है, उसी प्रकार साधक ऋषि ने स्वानुभूत स्वर्गकामना की सत्याभिव्यक्ति के लिए द्रव्य, देवता और मन्त्र आदि का अनुभूत प्रतिपादन किया। इस प्रकार जिस भाँति मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने ब्रह्माण्ड में व्याप्त नित्य मन्त्र का साक्षात्कार किया, उसी भाँति उसके प्रयोग का अभ्यास भी किया तथा

१. वाक्यपदीय-वृषभदेव-१/२७.

२. वाक्यपदीय-वृषभदेव-१/२७.

३. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते। ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्॥

उसका प्रयोगात्मक स्वरूप स्थिर किया। मूलतः यही आगम है। अर्थात् निगम सिद्धान्त पक्ष है तथा आगम उसका क्रियात्मक स्वरूप। अन्तर केवल इतना ही है कि आगम रूप दृष्ट ज्ञान का क्रियात्मक स्वरूप किसी व्यक्ति द्वारा उपस्थापित किया गया माना जाता है, जब कि निगम क्रियात्मक स्वरूप रहित दृष्ट ज्ञान की अभिव्यक्ति है।

देवसूरि ने अपने 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' में आगम की परिभाषा देते हुए बताया है कि 'आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।^१ अर्थात् किसी आप्त पुरुष द्वारा अर्थ विशेष का परिज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ आप्त पुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्ट ज्ञान का उपदेशक, क्योंकि 'सांख्यसप्तति' की जयमङ्गला व्याख्या में यह कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगे हुए अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं।^२ इसमें 'स्वकर्मणाभियुक्तो' शब्द महायान बौद्ध धर्म के 'महायानार्थकोविदम्' विशेषणधारी कल्याण मित्र की भाँति है। चरकसंहिता में कहा गया है कि "जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती हो, जो रागद्वेष के वश में नहीं होते और जो पक्षपातशून्य हैं, वे ही आप्त हैं"^३ इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगम का व्यवहार पक्ष ही आगम है।

माना यह गया है कि वेद अपौरुषेय है, जब कि आगम पौरुषेय है। पुरुष विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण 'ऋजु' अथवा कुटिल अनेक मार्गों से अपना लक्ष्य प्राप्त करता है^४, अतः कभी-कभी वह दृष्ट रूप में वेद के विरुद्ध भी चला जाता है, साधक निरन्तर अभ्यास से स्वयं ही समाधान करता है और इसी अवस्था में उसे विरुद्ध भी जान पड़ता है, किन्तु आध्यात्मिक धरातल

१. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार- ४-१.

२. स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। निर्वैरः पूजितः सद्भिः आप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥ सांख्यकारिका ५, टीका जयमंगला।

३. चरकसंहिता, विमानस्थान ४/४

४. रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ शिवमहिम्नः स्तुतिः-७.

अथवा मानसिक पृष्ठभूमि में निगम तथा आगम दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों ही शिष्य-परम्परा से समन्वागत होते हैं। एक श्रुतिपरम्परा से प्राप्त है, और दूसरा प्रयोगात्मक विधि से।

वाराहीतन्त्र में सात लक्षणों से युक्त क्रियाओं को आगम माना गया है।^१ धर्म एवम् आध्यात्मिक ज्ञान का यह दावा होता है कि वह अनादि अथवा ईश्वर से समुद्भूत है। भारतीय परम्परा में भगवान् शंकर को समस्त विद्याओं का मूल स्रोत माना जाता है। अस्तु, आगम को अपनी त्रैकालिक सत्यता प्रतिपादित करने के लिए भगवान् के मुख से निःसृत माना जाता है।^२

आगम का अर्थ 'परमज्ञान' भी होता है।^३ अपने स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान को भी आगम कहते हैं। स्वरूप का अभिप्राय है पारमेश्वरस्वरूप से अभेद-विमर्श।^४ स्वरूप ज्ञान का अभिप्राय है शिवोऽहं की भावना। स्वच्छन्दतन्त्र में लिखा है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, अनुभव तथा अर्थि-प्रत्यर्थिभाव से प्रवर्तित ज्ञान ही आगम है।^५ अर्थि-प्रत्यर्थि का अभिप्राय है द्रष्टा तथा वक्ता दोनों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव। सभी शास्त्रशब्दात्मक है, क्योंकि विश्व में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है, जो शब्दात्मक न हो।^६ हाँ यह निश्चित है कि सभी अनुभवात्मक ज्ञान शब्द रूप में अभिव्यक्त नहीं होते। अभिप्राय यह है कि इस अनुभूत ज्ञान का कोई न उच्चारक है और न कोई प्रतिहन्ता।^७ इस प्रकार आगम वह ज्ञान है, जो आत्मदर्शन की ओर प्रेरित

१. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां समर्चनम्। साधनश्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥ षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः॥ वाचस्पत्यम्, पृ० ६१८.

२. आगतं शिवक्रेभ्यो गतं च गिरिजानने। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥
-सर्वोल्लासतन्त्र १/१५.

३. "आगमो ज्ञानमित्युक्तम्" आगमरहस्य, उद्धतत्रिपुरार्णवतन्त्रभूमिका, पृ० ४

४. आसमन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेश्वरस्वरूपमिति आगमः, तत्रैव

५. गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च। अर्थि - प्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते॥

स्वच्छन्दतन्त्र-४/३३९.

६. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥—वाक्यपदीयम् १/११५.

७. नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते। स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनानामुरसि स्थितः॥

तत्रैव ७/५९

करता है। डा० एच०वी०ग्लासेम्पा का यह मानना है कि संसार के सभी दृश्य पदार्थ तथा उनका स्वरूप एक पूर्णता है। इसका छोटा से छोटा भी बड़े से बड़े भाग को प्रभावित करता है, क्योंकि ये एक रहस्यमय सूत्र से संग्रथित हैं विश्व की नित्य सत्ता इससे कभी अलग नहीं होती, तान्त्रिक दर्शन का यही मूलाधार है।^१ इससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि विश्वात्मक सत्ता के साथ जीवात्मा का अभेद ज्ञान ही आगमिक या तान्त्रिक ज्ञान है।

आगम शब्द अपनी वैचारिक यात्रा में विविध सोपानों से होता हुआ कभी वेद, कभी शास्त्र, कभी शब्द के प्रमाणभूत तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, जैसा कि विविध शास्त्रों में इस शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। निगमागम शब्द की व्याख्यायें निरुक्त से लेकर काव्यग्रन्थों तक बिखरी पड़ी हैं।

इन विविध व्याख्याओं में 'निगम' अनादि श्रुतिपारम्पर्यात्मक 'वेद', तार्किक निगम तथा वाणिज्य की दृष्टि से संघात्मक रूप चले आते 'निगम' के अर्थ में प्रयुक्त है।^२ दूसरी ओर 'आगम' 'आगमन' एवम् 'आगत' परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त है।^३ अतः निष्कर्ष रूप में वह पारम्पर्य प्राप्त ज्ञान आगम

१. The Notion that the whole universe with the totality of its phenomena forms one single whole, in which even the smallest element has an effect upon the largest, because secret threads connect the smallest item with the eternal ground of the world. This is the proper foundation of all tantric Philosophy.: H.V. Glasenappa, "Tantrismus and Schaktismus", *Ostasiatische Zeitschrift*, Vol. 22, p. 120, Berlin, 1936.

२.क. निगमाः पूर्वणिगवेदनिश्चाध्ववणिक्पथाः - हैमः।

ख. न्यायमतसिद्धे पञ्चावयवन्यायमध्ये चरमावयवे निश्चयार्थे निगमशब्दप्रयोगः : तर्कसंग्रहः

ग. वाणिक्पथं पुरं वेदोनिगमाः-अमरकोशः

घ. निगमशब्दो वेदवाची यास्केन तत्र तत्र 'निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारित्वात्। - ऋग्वेदभष्यभूमिकायाम्।

ङ. निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्, इति भागवते-१-३

च. नित्यता निर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे नित्ये निगमयममापि स्तुतिमिमाम्-सौन्दर्यलहरी-१००

३. "श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः"

-ईशावास्योपनिषद्भाष्ये-१०

है, जो गुरु-शिष्य पद से चला आया है। उस ज्ञान को निबद्ध करने वाले ग्रन्थ भी उपलक्षण से 'आगम' कहलाते हैं।^१ आचार्य रामेश्वर झा ने "समन्ताद् गमयन्नर्थमागमः परिभण्यते" कह कर यह प्रतिपादित किया है कि आगम विमर्श रूप है।^२

'आगम' शब्द ने इन सभी उपर्युक्त प्रयोगों में भी अपनी मौलिकता बनाये रखी और दार्शनिकों ने इसे प्रमेय की सिद्धि के लिए एक सफल प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया। परवर्ती बौद्धों ने भी बुद्धवचन को आगम कहकर इसे प्रामाणिक माना है।^३ इस प्रकार आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों ने इसे एक ऐसे प्रबल प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों की गति नहीं है।^४ सम्प्रदायसिद्ध अनेक विद्वानों ने इसी आधार पर इसे सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त कराने के साधन के रूप में स्वीकार किया है।^५ दार्शनिक प्रस्थानों के अन्तर्गत प्रमाणों की परिगणना के प्रसंग में आगम का आप्तोपदेश के रूप में न केवल उल्लेख ही हुआ है, अपितु उसकी अनिवार्य स्वीकृति भी देखी जाती है। आगम की व्याख्या चार प्रकार से सम्भव है—(१) आप्तोपदेशात्मक आगम, (२) अनिबद्धप्रसिद्धिरूप आगम, (३) निबद्धप्रसिद्धिरूप आगम एवं (४) प्रतिभात्मक आगम। सामान्य जन की प्रज्ञा मलिन मान्यताओं एवं पक्षपात से संवलित होने के कारण जनता के जीवन में प्रमाण रूप से प्रतिष्ठित नहीं होती, किन्तु वक्तव्य वस्तु का जिसे निर्बाध एवं पूर्ण बोध है,

१.क. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः—वाक्यपदीय २/४८४ क.

ख. आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः—रघुवंश १/१५.

ग. न्याये चतुर्विधं प्रमाणं स्वीकृतमस्ति चतुर्थमागमप्रमाणम्—तर्कसंग्रहः ।

२. अन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम्। अन्तरङ्गस्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवितम्॥ यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम्। आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः॥ उपयोगितया तत्र उपचारेण कथ्यते। शब्दोप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वतः॥—सन्मार्ग, आगम विशेषांक, पृ० ६०.

३. बोधिचर्यावतार ९/४२ टीका प्रज्ञाकरमति।

४. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥ तैत्ति० भाष्यभूमिका॥

५. आज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यते त्यागमो मतः॥—पिंगलमत, पाण्डुलिपि, दरबार पुस्तकालय, नेपाल, उद्धृत टी०एस०आर०एल०, पृ० २

उस आप्त के उपदेश की प्रामाणिकता के प्रति किसी को सन्देह नहीं होता।^१ पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् आप्तता देखी जाती है। पाणिनि और वररुचि आदिकों की आप्तता व्याकरण में प्रसिद्ध है, किन्तु अक्षपादादिकों की नहीं। इस प्रकार ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आप्तता प्रसिद्ध है। यही चरणाप्तवाद या शास्त्राप्तवाद है। पुरुषाप्तवाद की व्याख्यागत उपलब्धियों को जब लोक में पूर्ण समादर प्राप्त हो जाता है, तब पुरुषाप्तवाद ही लोकाप्तवाद के रूप में परिणत हो जाता है। 'आगम' शब्द के मूल में 'परम्परा-ख्याति' की प्रधानता है। इन सबका आदिस्त्रोत प्रतिभा अथवा पराशक्ति का विमर्श है।^२

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट है कि आगम शास्त्र तथा प्रमाण दोनों हैं। शास्त्र का अभिप्राय ज्ञान की उस समग्रता से है, जिसके द्वारा अनुशासन के साथ ही साथ व्यवहार तथा अभ्यास की सीमा भी निर्धारित की गयी हो। यदि आगम के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि प्रारम्भिक काल में वेदविहित कार्यों के अतिरिक्त योगक्षेम के लिए वेदबाह्य प्रक्रियाएँ भी प्रचलित थीं, जिसमें वैदिक मन्त्रों के आधार पर नये मन्त्रों की भी रचना की गयी थी, जो स्वर आदि के नियमों से रहित थे।^३ अतः विद्वानों ने आगम के दो प्रधान भेद किये—(१) वैदिक (२) अवैदिक। निगम सम्प्रदाय-निष्ठ उपासना आदि पद्धति को वैदिक माना गया तथा अनादिकाल से ही बौद्ध तथा जैन आदि निगमविरुद्ध प्रस्थान मानने वालों की परम्परा को अवैदिक। अस्तु, उनकी पूजापद्धति को भी अवैदिक ही कहते हैं। तन्त्रवार्तिक में आगमों की एक लम्बी एवं विशद सूची के साथ ही साथ उनके कार्यकलापों का विवरण प्राप्त होता है।^४ वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व-

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग-२, वि० ३, पृ० १०२.

२. "प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्यआगम एवेति" ई०प्र०वि०वि०, पृ० ९३

३. क. वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः। न तु कल्पैर्विना केचिद् मन्त्रब्राह्मणामात्रकात्॥ मीमांसादर्शनम् तन्त्रवार्तिक १/३/६/५२७, कुमारिलभट्ट, भाग १, तारा प्रिण्टिंग वर्क्स, वाराणसी, १९८४, पृष्ठ ४५७.

ख. स एवं श्रुतिमन्त्रः याद्वेदस्वरविवर्जितः। तान्त्रिकं मन्त्रमित्युक्तं तदेव श्रुतिचोदितम्॥ पराशरसंहिता-१२.

४. सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपतशाक्यग्रन्थपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि विषयचित्सावशीकरणोच्चा-टनोन्मादनादिसमर्थकतिपयमन्त्रौषधिकादाचित्कसिद्धिनिदर्शनबलेन-अहिंसा-सत्यवचनदमदयादि-

कौमुदी में शाक्यादि तन्त्रों को तन्त्राभास स्वीकार किया है।^१ वीरमित्रोदय आदि प्रबन्धों में अधिकारि-भेद के आधार पर सभी आगमों को प्रमाण माना गया है।^२ पराशरमाधवीय में वैदिक भक्तिमार्गीय आगमों की संख्या छः बतायी गयी है—शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, वैनायक, स्कान्द।^३ लक्ष्मीतन्त्र की भूमिका में आगमों के दो भेद स्वीकार किये गये हैं—वैदिक एवं अवैदिक। वैदिक में निगम, इतिहास, पुराण एवं आगम। आगम के तीन भेद—शैव, शाक्त एवं वैष्णव किये गये हैं। पुनः शैव के चार, शाक्त के दो एवं वैष्णव के भी दो भेद किये गए हैं। अवैदिक में बौद्ध आदि आते हैं।^४

‘आगम’ का एक दूसरा पक्ष प्रचलित भाषा में ‘तन्त्र’ कहा जाता है। वैसे सामान्य व्यक्ति के लिए तन्त्र शब्द का प्रयोग जादू, टोना, अभिचार आदि के प्रतीक रूपमें होता है। इसका प्रधान कारण है—तन्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के ज्ञान का अभाव एवं उसमें प्रवेश करने की क्षमता का अभाव। इस प्रकार की अज्ञानताओं ने भ्रान्तियाँ पैदा कर दी हैं। अगेहानन्द भारती आदि विद्वानों के अनुसार पारिभाषिक शब्दावली का अभाव या यों कहिये कि इस प्रकार के शब्दों का परिज्ञान न होना, जो तन्त्र के वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त कर सके^५, तान्त्रिक विश्वास और आगम की आलोचना-भ्रान्ति का मुख्य कारण है। तन्त्र शब्द “तनु विस्तारे” धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है कि मूल वस्तु का अत्यधिक विस्तार करना। वाचस्पति मिश्र, आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द ने इस शब्द की निष्पत्ति ‘तत्’ धातु से मानी है, जिसका अर्थ है व्युत्पादन

श्रुतिस्मृतिसंवादिस्तोकाथगन्धवासित-जीविका-प्रार्थान्तरपदेशीनि, यानि च बाह्यन्तराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजनाचरणनिबन्धनानि, तेषामेवैतत्श्रुतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते—मीमांसादर्शनम् तन्त्रवार्तिक, तत्रैव, पृष्ठ ३२८.

१. शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति।—सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लोक ५ की व्याख्या।
२. दर्शनोदयः, लक्ष्मीनिवासपुरम्, मैसूर १९३३, पृष्ठ ४५५
३. शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा। स्कान्दं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि॥ - पराशरमाधवीये ६८ पु०
४. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० १
५. The Tantric Tradition, Agehanand Bharati, P. 13.

अर्थात् ज्ञान का मूल स्रोत।^१ यहाँ तक कि ईशानशिव ने अपने 'ईशानशिव-गुरुदेवपद्धति' में भी तन्त्र की निष्पत्ति तत् धातु से ही मानी है।^२ अजितागम में तत्त्व तथा मन्त्र के विस्तार बताने वाले ज्ञान को तन्त्र माना गया है।^३ विष्णुसंहिता में तन्त्र का अर्थ भय से रक्षा करना है।^४ तन्त्र का उद्देश्य साधक की सर्वदा रक्षा करना है, इस बात का उल्लेख नेपाल के दरबार पुस्तकालय में प्राप्त 'पिंगलमत' में किया गया है।^५ सामान्य रूप से तन्त्र शब्द का प्रयोग उन प्रत्येक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक निबन्धों के लिए था, जिनमें किसी विषय का वर्णन क्रमबद्ध तथा विस्तारपूर्वक किया गया हो। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस शब्द का अर्थ संक्षिप्त करना माना है, जिसका अभिप्राय है मन्त्र या किसी सिद्धान्त को बीजगणितीय सूत्र की तरह से उपनिबद्ध करना, जिससे अन्यन्त विस्तृत अर्थ भी संक्षिप्त रूप से अधिगत हो जाय।^६ डॉ० एस०एन० दासगुप्त ने यह माना है कि तन्त्र साहित्य की यह विशेषता है कि उसने भारतीय संस्कृति के उन सभी परिणामों का समावेश किया है, जो वैदिक काल से चले आ रहे थे और जिन्होंने अपने-अपने ढंग से विरोधपरिहार किया।^७ सुश्रुत के अनुसार तन्त्र आयुर्वेद का अपर पर्याय है।^८ वास्तव में तन्त्र का शाब्दिक अर्थ शक्तिस्वातन्त्र्य और चेतना का विकास है।

तन्त्र शब्द का प्रयोग शास्त्र अर्थ में भी मिलता है। शङ्कराचार्य ने सांख्यदर्शन के लिए तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।^९ विभिन्न कोशकारों ने

१. श्री आशुतोष मुखर्जी सिलवरजुबली वाल्यूम्स २, भाग १, पृ० २५३, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता.
२. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति-तन्त्रीति धातोरिह धारणार्थता भाग ३, पृष्ठ २८.
३. अजितागम, बाल्यूम १, क्रियापाद, पटल १, श्लोक ११५, पृष्ठ १०.
४. क. विष्णुसंहिता, अध्याय-२, श्लोक १०, सम्पादक प०म०टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९२६.
ख. तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्यं विदुर्बुधाः-काशिकावृत्ति.
५. "तन्यते ज्ञायते नित्यं तन्त्रमित्यं विदुर्बुधाः"-पिंगलमत, (Mss. D.L. Nepal) Quoted in TSRL.
६. शक्ति एण्ड शाक्त, सर जान वुडरफ, प्रकाशित गणेश एण्ड कम्पनी, तृतीय संस्करण, मद्रास, १९२९, पृ० ५०.
७. श्री आशुतोष मुखर्जी सिलवरजुबली वाल्यूम तृतीय भाग, १, पृ० २५४.
८. इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादितः प्रकाशितम्॥ सुश्रुता।
९. 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता', ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २/११.

तन्त्र शब्द के विविध अर्थ बताये हैं—१. कुटुम्बभरणादिकृत्य, २. सिद्धान्त, ३. औषधि, ४. प्रधान, ५. परिच्छेद, ६. वेदशाखाभेद, ७. हेतु, ८. उभयार्थक प्रयोग, ९. इतिकर्तव्यता, १०. तन्तुवाय, ११ राष्ट्र, १२. परछन्दानुमान, १३. स्वराष्ट्रचिन्ता, १४. प्रबन्ध, १५. शपथ, १६. धन, १७. गृह, १८. वयनसाधन, १९. कुल, २०. शिवादिशास्त्रभेद।^१

वस्तुतः भावी विश्व की रूप-रेखा जहाँ बनती है या तानी जाती है, वह सूक्ष्मकृतिसम्पन्न अभेद का रूप वस्तु-तत्त्व रूप ही तन्त्र है। बाद में वही वस्तुतत्त्व, जब कुछ पूर्व दशा से उन्मिषित होता है, तब भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ तन्त्र कहलाता है और भेदात्मक पूर्ण प्रसार तो तन्त्र ही है। इस प्रकार तन्त्र की त्रिधा स्थिति संभव है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तन्त्रालोक में बताया गया है कि भैरव अभेद दशा है, शिव भेदाभेद दशा और रुद्र भेद दशा है। पीछे कहा गया कि त्रिक ही तन्त्र का सार है।^२ यही बात वेद के लिए भी प्रसिद्ध है। ऋक्, यजुः और साम यह त्रयी वेद का सार है। ऋक् अभेदावस्था है, यजुः भेदाभेदवस्था है और साम भेदावस्था। सूर्य के रूप में त्रयी तप रही है। सूर्य के अन्तराल में अधिष्ठाता रूप से विद्यमान पुरुष यजुः, मण्डल ऋक् है और साम है सूर्य की त्रिभुवन व्यापिनी रश्मिमाला।^३

‘आगम’ की ही भाँति तन्त्रशास्त्र का मूल ऐतिह्यात्मक है। निरुक्तकार तो उसे इतिहास ही मानते हैं।^४ यह कभी-कभी शिव-शक्ति के संवाद के रूप में माना जाता है और कभी-कभी साक्षात्कार के रूप में। रुद्रयामलतन्त्र में यह उल्लिखित है कि देवी ने स्वयं ही इस शास्त्र का प्रणयन किया है अतः इस शास्त्र को आगम न कहकर निगम कहा जाता है।

१. वाचस्पत्यम्-पृ० ३२२३.

२. जज्ञे तत्रैव रुद्रशिवभैरवाख्यामिदं त्रिधा। वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते। भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।।-तन्त्रालोकटीका, प्र०आ०, पृ० ४५.

३. सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो, यजूंषि, सामानि। सा या वागसौ स आदित्यः। मण्डलमेवर्चः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि।-शतपथब्राह्मण १०.

४. तन्त्रेतिहासमाचक्षते-निरुक्त २/५/२४/२.

भास्करराय के अनुसार तन्त्र की एक परम्परा है। इस पवित्र शास्त्र का सर्वप्रथम उपदेश पूर्णब्रह्म ने स्वच्छन्द को किया, जो भैरव तथा उसके पश्चात् क्रमशः अनाश्रित ईश्वर, देवी, सदाशिव, ईश्वर, विद्येश्वर तथा श्रीदण्ड से होते हुए यह शास्त्र पृथ्वी पर अवतरित हुआ।^१ शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृतिशास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड, उपासनाकाण्ड के अन्तर्गत स्वीकार किया है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर शैवभाष्य लिखते हुए तन्त्रों को वेदवत् प्रमाण स्वीकार किया है, क्योंकि तन्त्र और वेद दोनों के निर्माता शिव हैं। अतः दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि वेद त्रैवर्णिकों के लिए है, किन्तु तन्त्र में सभी वर्णों का प्रवेश मान्य है।^२ इससे यह नहीं समझना चाहिए कि तन्त्र में अधिकारी का विचार नहीं है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि तन्त्र में भी अधिकारी का बड़ी गम्भीरता से विचार किया जाता है। बिना योग्यता के साधक इसमें पारंगत नहीं हो सकता और यह काम गुरु की दीक्षा से ही सम्भव है। जैसे वैज्ञानिक यन्त्र सामने रहने पर भी जब तक उसका ज्ञाता प्रयोग करने की शिक्षा नहीं देता, तब तक उसका प्रयोग अत्यन्त हानिकारक होता है, वैसे ही तन्त्र की स्थिति है। बिना योग्य गुरु से दीक्षा लिए साधक अपने साध्य को कथमपि नहीं प्राप्त कर सकता।

तन्त्र एवं वेद दोनों का सिद्धान्त अनेक आधारभूत स्थलों पर समरूपता का आभास कराता है। दोनों में अध्वर की निर्वाहयित्री त्रयी है—वाक्, प्राण तथा चित्त। इस त्रयी के पूर्ण सहयोग से ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है। वाक् की मुख्यता से मध्यमा और सत्त्वविशाला बुद्धि के स्पन्दनों के प्राधान्य से वह पश्यन्ती है। स्थूल-सूक्ष्म और कारणभूमि पर्यन्त इन तीनों की गति है। अव्यक्त समता तथा समग्रता की कारणभूमि इन तीनों से परे है। वह परम कारणता का स्थल है। इस परास्थल पर परम तत्त्व स्वयं ही सब कुछ

१. योगिनीहृदयतन्त्रम् १/१-३. टीका भास्करराय.

२. ब्रह्मसूत्र श्रीकण्ठभाष्य-२/२/२८.

है। परमतत्त्व वेद तथा तन्त्र दोनों का उद्भावक है। इन दोनों में जिस पारस्परिक भेद का प्रतिपालन होता है, उसे मात्र देश-कालजनित दृष्टिकोण ही मानना चाहिए।

त्रयी वाक्प्राणचित्तानां निर्वाहयति याऽध्वरम्
वाङ्मुख्या वैखरी तत्र प्राणमुख्या च मध्यमा ।
सत्त्वविशालधीमुख्या पश्यन्ती च पराऽपरा
क्रियादिभ्यः स्वतन्त्रा या जप्तर्षिश्च परीयतः ॥^१

निष्कर्ष रूप से तन्त्र सार्ववर्णिक एवं सार्वभौम होने पर भी अधिकारी का ध्यान रखता है। पाञ्चरात्र ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेद की लुप्त शाखा से इस शास्त्र का प्रणयन हुआ।^२ अत्यन्त प्राचीन काल से ही शिष्ट जनों में तन्त्रों का आदर था। ऐसी ख्याति है कि बहुत से देवगण भी तान्त्रिक साधना के द्वारा सिद्धि लाभ करते थे। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र, स्कन्द आदि सभी श्रीमाता के उपासक थे। अनेक ऋषियों के नाम हैं जो शिवज्ञान के प्रणेता थे, उनमें उशना, दधीचि, नकुलीश, सनत्कुमार प्रमुख हैं।

जयद्रथयामल के मङ्गलाष्टक में तन्त्रप्रणेता अनेक ऋषियों के नाम हैं, जैसे—विष्णु, कश्यप, सनक, गौतम, विश्वामित्र आदि। वैदिक कर्मकाण्ड को कुछ लोगों ने तान्त्रिक अथवा आगमिक साधना की तैयारी माना है। कौल लोगों ने वेदाचार को सातवाँ आचार माना है, जो कुलाचार की आधारशिला है।^३ तान्त्रिक धर्म को वेद का सार अथवा सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माना गया है, जिसे भगवान् शिव ने वेदरूपी समुद्र का विवेकात्मक ज्ञान से मन्थन करके प्रादुर्भाव किया है। शुकनीतिसार के अनुसार तन्त्र अथर्ववेद का उपवेद है।^४

१. जपसूत्रम्, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, सम्पादिका- डॉ० प्रेमलता शर्मा, भारती विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९६६, भाग १, पृ० ६९.

२. मेडिवल लिटरेचर, गोंडा, पृष्ठ ४९.

३. History of Dharmasastra - P.V. Kane, Vol. 2 p. 1051.

४. "अथर्वणं चोपवेदस्तन्त्ररूपः स एव हि" शुकनीतिसार, ४.३.३९.

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रों और वेदों के विचारों में साम्य है। यद्यपि वेद एक है, किन्तु विभक्त होकर त्रयी और 'अनन्ता वै वेदाः' हो जाता है। यह वेद का ही वाक्य है। तन्त्र भी यही कहता है "आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः"^१।

अवश्य ही तन्त्र की अपनी एक अलग मौलिक दृष्टि है, जो वेद से इतर प्रतीत होती है। उसका कारण तान्त्रिक साधना का अपना वैशिष्ट्य है। कुछ भी हो ये दोनों मिलकर भारतीय संस्कृति के अभिन्न अङ्ग हो गये हैं। तान्त्रिक और वैदिक आदि सांस्कृतिक धारायें भारतीय संस्कृति को विशालतम बनाती हुई उसे पूर्णता देती हैं। तान्त्रिक साधना का मूल उद्देश्य प्रागैतिहासिक काल में, शत्रुविनाश के लिए किया गया प्रयोग था। वैदिक यागों में 'श्येन' या अभिचारादि याग की प्रक्रियायें इसी उद्देश्य से प्रवर्तित होती थीं, किन्तु कालान्तर में इनका निषेध कर दिया गया।

अरब समुदाय में तान्त्रिक प्रक्रिया को 'तसव्वुफ' कहते थे। प्रोफेसर राममूर्ति त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में इसकी जिस सामान्य प्रक्रिया का उल्लेख किया है, वह भारतीय तान्त्रिक एवं यौगिक पद्धति से अद्भुत साम्य रखती है।^२ मतङ्गपारमेश्वर तन्त्र में तन्त्रशास्त्र के चार पादों का उल्लेख है, जिनका नाम क्रमशः विद्या, क्रिया, योग और चर्या दिया है। टीकाकार रामकण्ठ ने प्रथम दो के स्थान पर उपास्या तथा सिद्धि—नामोल्लेख किया है।^३ तन्त्र को पूर्ण स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए विद्वान् साधकों ने इसका सम्बन्ध वेद से जोड़ा है। नेपाल के दरबार-पुस्तकालय में 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' नामक एक हस्तलिखित प्रति है, जिसे 'वाथुलमहातन्त्र' का अंश माना जाता है। इसके रचयिता ईश्वरशिव के शिष्य हृदयशिव हैं। ग्रन्थ में तान्त्रिक अथवा आगमिक संस्कारों का उल्लेख है, जिनकी तुलना वैदिक संस्कारों से की जा सकती है।^४ एक दूसरा ग्रन्थ जयाख्यसंहिता भी

१. स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ४/३४०.

२. तन्त्र और तसव्वुफ—प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं० १९८९, पृष्ठ ३७-३८.

३. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती पृष्ठ ३.

४. तत्रैव, पृष्ठ ५.

उपलब्ध है, जिसके रचयिता का नाम चक्रदत्त है। इस ग्रन्थ में भी श्राद्ध आदि का विधिवत् उल्लेख है।^१

शक्तिसंचय की प्रक्रिया में तन्त्र का मूल ढूंढने वाले विद्वानों में डा० फेजर का नाम उल्लेखनीय है, इन्होंने एक उद्धरण में इस बात का उल्लेख किया है कि सेमेटिक लोगों में यह प्रथा प्रचलित थी कि मोमबत्ती या प्लास्टिक में शत्रु का आकार बनाकर उसमें नाखून अथवा पिन चुभाकर कष्ट देने का कार्य किया जाता था।^२ डा० जे० जे० मोदी ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि ईरान में प्राचीन काल में आपत्तियों के निवारण हेतु नाखून तथा बाल कब्र में डाले जाते थे। जरथूस्तेनामेह में उल्लेख है कि जूरोस्टर जादूगर था। यूनान तथा रोम में भी इस प्रकार की प्रथायें प्रचलित थीं।^३

तन्त्र के विकास का दूसरा मूल स्रोत लोग लिङ्गपूजा को मानते हैं। ब्राउन की यह मान्यता है कि आदिवासी लोगों में लिङ्गपूजा का महत्त्वपूर्ण प्रचलन था।^४ ई० एच० हार्ट लैण्ड ने भी अपने शोधपूर्ण कार्य में यह मान्यता दी कि धर्म के इतिहास में लिङ्गपूजा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।^५ डॉ० वाल का तो यहाँ तक कहना है कि मिस्त्र, यूनान, रोम तथा आधुनिक ब्राह्मणों की शिवपूजा एवं ईसाइयों की रहस्य-पूजा का मूल भी लिङ्गपूजा पर आधारित है।^६ कुछ विद्वानों का मानना है कि आर्यों में लिङ्गपूजा का प्रचलन अनार्यों से हुआ है।^७ सामशास्त्री के अनुसार तान्त्रिक पूजा का प्रादुर्भाव ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था। इनका कहना है कि ईसा के पूर्व की छठी शताब्दियों में जो सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनसे तान्त्रिक पूजा के संकेत मिलते हैं।^८

१. तत्रैव, पृष्ठ ५.

२. तत्रैव, पृष्ठ ८.

३. तत्रैव, पृष्ठ ८.

४. तत्रैव, पृष्ठ ८.

५. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम, ९ पृ० ८१५-३१.

६. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ९.

७. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ १०.

८. इन्डियन ऐंटीक्वेरी-१९०६, पृ० २७७ एफ.

वेद से तन्त्र का विकास मानने वाले लोगों का निम्नलिखित तर्क है—

१. तैत्तिरीय आरण्यक तथा ऋग्वेद के मन्त्रों में फट्, खट्, आदि शब्दों का मिलना इस बात का संकेत देता है कि तान्त्रिक पद्धति प्रचलित थी।^१ ओंकारोपासना को भी ह्रींकारोपासना मानकर उपनिषदों में भी तन्त्र का बीज माना गया है।^२
२. वामदेव्य उपासना जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है तथा इस प्रकार का जो वक्तव्य ऐतरेय आरण्यक में है, उससे माना जाता है कि मैथुनी साधना का प्रचार वैदिक काल में था।^३
३. सौत्रामणी तथा वाजपेय यज्ञ में इन्द्र, अश्विनीकुमार तथा सरस्वती को सोमरस पिलाया जाता था। यह मादक होता था। एग्लिंग ने यह उल्लेख किया है कि अतिरात्र अश्वमेध में लोग रात भर शराब पीते तथा आनन्द मनाते थे। अनेक यज्ञों में तथा प्रधानतया अश्वमेध यज्ञ में विभिन्न प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी।
४. 'शिश्नदेवाः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। असुरों को शिश्नदेव कहा गया है। इस आधार पर लोगों का यह मानना है कि लिङ्गपूजा ऋग्वैदिक काल में भी प्रचलित थी।^४
५. वैदिक षट्कर्म तथा संग्रहणी नामक यागों को भी तन्त्र का मूल माना गया है।^५ अथर्ववेद में भी कौशिकसूत्र के आधार पर अभिचार, स्त्रीकर्म, साम्नस्य तथा पौष्टिक आदि क्रियाओं को तान्त्रिक क्रियाओं के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।^६

डा० सदाशिव अम्बादास डांगे महोदय ने भी अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में वैदिक एवं तान्त्रिक तत्त्वों के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए प्रायः वेदों की

१. तैत्तिरीय आरण्यक ४, २७, वाजसनेयीसंहिता, ७, ३.

२. छान्दोग्य उपनिषद, २, १३, १-२.

३. शतपथ ब्राह्मण ५, ४, ५ एफ

४. शतपथ ब्राह्मण ५, १, २, १०, १९.

५. ऋग्वेद, ७, २१, ३, ५.

६. अथर्ववेद ३, २, ५ कौशिकसूत्र ३५, २८.

महानग्नी परम्परा एवं पञ्चमकार की साधना को तन्त्र की उत्पत्ति का मूल माना है।^१

‘लोकायत’ के रचयिता डॉ० चट्टोपाध्याय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मातृपूजा तथा मिथुनाचार का प्रादुर्भाव प्रारम्भिक कृषि सम्बन्धी अर्थोपार्जन प्रक्रिया से है, जो वेद की पशुपालन-व्यवस्था के विपरीत है। इसी सर्जनात्मक क्रिया के प्रतीकभूत तत्त्वों का इसमें समावेश किया गया है।^२

जिस प्रकार सिद्धान्त एवं व्यवहार को काल की दृष्टि से अलग नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार साधना के सिद्धान्त तथा व्यवहार को भी अलग मानना समीचीन नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही मनुष्य ने जब अपने चिन्तन को कार्यरूप में परिणत किया होगा और दूसरों को कार्य करने की प्रक्रिया बतायी होगी, तभी से तन्त्र की उत्पत्ति मानना युक्तिसङ्गत है। शाङ्खायनश्रौतसूत्र में बहुतों के उपकारक उपदेश को ही तन्त्र माना गया है।^३

भारतीय लिङ्गपूजा को पाश्चात्य दृष्टि से देखना युक्तिसंगत नहीं है। किसी को देवता मानने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उसकी पूजा ही की जाती हो। जैसे—अतिथिदेव, पितृदेव इत्यादि। सायणाचार्य ने शिश्नदेव की व्याख्या में इसको स्पष्ट किया है कि असुर लोग अत्यधिक कामसेवक थे। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि ऋग्वेद काल में लिङ्गपूजा प्रचलित थी, लिङ्ग शब्द का अर्थ वहाँ प्रतीक या चिह्न है। अखिल ब्रह्माण्ड को अण्डाकार मान कर उसी के प्रतीकभूत शिवपूजा को भारतीय परम्परा में लिङ्गपूजा माना गया है।

कतिपय विद्वान् वैदिक घटनाओं को आर्थिक अथवा कृषि-सम्बन्धी क्रियाओं से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह विचारणीय है कि वैदिक काल मानव सभ्यता के चरम विकास का काल है। यह अवश्य है कि वेदों में सभी

१. डॉ० सदाशिव अम्बादास डांगे-सन्मार्ग का वेद विशेषांक, १९७९.

२. लोकायत, डी०पी० चट्टोपाध्याय, नयी दिल्ली १९५९, पृ० २३२.

३. “यत् सत्कृतं बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रमित्युच्यते” शाङ्खायनश्रौतसूत्र-१, १६, १.

बातों का विस्तृत उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित 'सिरीस्तन्त्रम्' का अभिप्राय यह है कि वैदिक काल के लोगों ने कृषि का विस्तार किया।^१ इसी प्रकार अथर्ववेद में उल्लिखित 'तन्त्र' का करघा आदि अर्थ इस बात का द्योतक है कि घरों में कपड़ा आदि का निर्माण होता था।^२ अतः इस आधार पर यह मानना कि मातृपूजा तथा लिङ्गपूजा का प्रादुर्भाव कृषिसम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है, समीचीन नहीं लगता, क्योंकि वैदिक काल में केवल पशुपालन का ही सर्वप्राधान्य रहा और बाद में कृषिकार्य प्रारम्भ हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रसन्नता तथा अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों से करता है, क्योंकि वह चेतन है, जड़ नहीं। अतः मैथुन आदि जीवमात्र की स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्ति है न कि कृषि आदि से उत्पन्न कोई आर्थिक व्यवस्था की उपज, आगमशास्त्र का उद्घोष है कि मोक्ष कोई अन्य वस्तु नहीं है, वह भोग से ही सुलभ है और इनका अनुवर्तन करने से एक ही जन्म में मुक्ति हो जाती है।^३

आगम और तन्त्र आजकल भारतीय वाङ्मय की एक विशेष शाखा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। विण्टरनिट्ज का कहना है कि सही-सही कहा जाय तो 'संहिताएं' वैष्णवों के, 'आगम' शैवों के और 'तन्त्र' शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं।^४ इस सन्दर्भ में यह कहना समुचित होगा कि 'आगम' शब्द से आजकल शैव और वैष्णव दोनों ही आगमों का बोध होता है। उसी तरह 'संहिता' शब्द से केवल वैष्णवागमों का ही बोध नहीं होता। पौष्करसंहिता के अनुसार कोई भी ग्रन्थ १२००० श्लोकों से युक्त होने पर संहिता कहा जाता है।^५ 'संहिता' शब्द का प्रयोग प्रायः वेद तथा आगम दोनों के लिए है, किन्तु

१. सिरीः सारिणो भूत्वा तन्त्रं कृषिलक्षणं तन्वते विस्तारयन्ति कुर्वन्ति।

—ऋग्वेद १०, ७१, ९.

२. तन्त्रमेके युवती। अथर्ववेद, १०, ७, ४२, २क पाणिनि- ५, २, ७.

३. "परमार्थसार पर योगराज" की टीका, पृष्ठ १९५.

४. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिंदी संस्करण) भाग-१, खण्ड २, पृष्ठ २४५ प्रकाशक-मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, सन् १९६६.

५. पौष्करसंहिता ४०/१५६.

इसका सर्वमान्य प्रयोग वेद के लिए ही है।^१ इस सन्दर्भ का उल्लेख करते हुए श्री एस०सी०नन्दीमठ ने कहा है कि 'संहिता' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग प्रायः हुआ है, वह वैदिक संहिताओं से भिन्न है, किन्तु जिस प्रकार वैदिक संहिताओं को माननेवाले उन संहिताओं को पूज्य मानते हैं, उसी प्रकार इन आगम संहिताओं को मानने वाले आगमानुयायी आगम संहिताओं को पूज्य मानते हैं।^२ विण्टरनिट्ज ने भी इसी बात को आगे मूल एवं टिप्पणी में कहा है कि इन शब्दों में स्पष्ट भेद करने वाली कोई रेखा नहीं है।^३ इस विवेचन से स्पष्ट है कि संहिता शब्द आगम तथा निगम दोनों के लिए ही प्रयुक्त है। अतः दोनों का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं के लिए प्राप्त है।

'आगम' और 'तन्त्र' के सम्बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक है। 'आगम' एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत 'तन्त्र' भी आते हैं। 'हिन्दू तान्त्रिज्म' डॉ० संयुक्तागुप्ता तथा डर्क जेन, ह्वेन्स ट्यून, गोड्रिअन के ग्रन्थ में 'तन्त्र' के कुछ व्यापक स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है—

१. तन्त्र के सिद्धान्त ने वैदिक साधना के साथ ही वैयक्तिक मुक्ति के लिए एक समानान्तर मार्ग प्रशस्त किया, क्योंकि वैदिक साधना को प्राचीन माना जाता था।
२. तान्त्रिक पद्धति आध्यात्मिक अभ्युत्थान के साथ ही साथ सांसारिक सुखों को भी अपना उद्देश्य बनाती है। अतः साधना की उपलब्धि का अभिप्राय ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों ही प्रकार का सुख है। इसमें देवत्वप्राप्ति भी एक उद्देश्य माना जाता है।^४

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने 'तन्त्रों' के दो मोटे भाग बताये हैं— शास्त्रानुवर्ती (आर्थोडाक्स) और शास्त्रानुवर्ती (हिटरोडाक्स) प्रथम में आगम, यामल, डामर, इनसे सम्बद्ध साहित्य हैं और द्वितीय में कुलाचार, वामाचार, सहजयान और वज्रयान तन्त्रों को माना है।^१ डॉ०जेम्स एच. कजिन्स का

१. जर्नल आफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी एण्ड ह्यूमनिटीज, १९७०, पृ० ३३.

२. जर्नल आफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी एण्ड ह्यूमनिटीज, १९६२, पृ० २.

३. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी संस्करण) पृ० २४५, मूल एवं टिप्पणी.

४. हिन्दू तान्त्रिज्म, संयुक्तागुप्ता एण्ड डर्कजेन, ह्वेन्सट्यून, गोड्रियन, ३० जे० बर्लिन, १९७६, पृ० ६-७.

कहना है कि तन्त्र एक प्रायोगिक तथा प्रदर्शनशील मनोविज्ञान पर आधारित है, इसे वैयक्तिक भक्ति ने विशदीकृत किया तथा दैनिक जीवन में इसका प्रयोग कर इसे प्रयोगशील बनाया। तन्त्रशास्त्र मानवता की आवश्यकताओं के विकास पर एक महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है, जिसकी पूर्ति विभिन्न प्रकार के तान्त्रिक संस्कारों के द्वारा होती है।^१

इस प्रकार आगम, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, निगम का ही व्यवहार पक्ष है, अतः दोनों ही समानान्तर चलते हैं। दूसरे शब्दों में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वैदिक कर्मकाण्ड जहाँ एक ओर साधक को तैयार करते हैं, वहीं दूसरी ओर आगम क्रिया-कलाप उसमें आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों का निवारण करते हैं, एक ओर दिव्यानुभूति की पृष्ठभूमि है तो दूसरी ओर अनुभव का योगदान। एक ओर शब्दब्रह्म है तो दूसरी ओर मूर्ति ब्रह्म। वस्तुतः निगम तथा आगम भारतीय ज्ञान की दो आँखें हैं। ये दोनों आगम और निगम साधना रूपी रथ के दो पहिए हैं, जिनके सहचार बिना अभीष्टसिद्धि संभव नहीं है।

आगमों का रचना-काल

‘आगम’ एक व्यापक संज्ञा है। ‘तन्त्र’ आगमिक साहित्य के अन्तर्गत है। आगम के क्रियात्मक पक्ष पर बल देने के लिए ‘तन्त्र’ शब्द का प्रयोग कालान्तर में व्यापक रूप से हुआ है।^२ आगम कब लिखे गये? यह अत्यन्त विवादास्पद प्रकरण है, फिर भी आगमों की लेखनशैली एवं आन्तरिक संघटना पर विचारोपरान्त डॉ. वी.वी. रमनशास्त्री का मानना है कि मध्य-एशिया के डॉ. स्टेन के अनुसन्धान द्वारा यह प्रमाणित होता है कि शैवागमों का समय प्रथम बौद्ध सभा के पूर्व का है। रौरवागम पर आधारित ‘शिवज्ञानबोधम्’

१. स्टडीज इन दि तन्त्राज, प्रबोधचन्द्र बागची, ४५-५५.

२. “The Tantrasastra being based on an experimental and demonstrable psychology and vivified by the breath of personal devotion and made practical by the application in daily life, is bound to exert an ever increasing influence on humanity as it rises towards the needs which the shastra supplies, including a ritual.”— Shakti and Shakta, by Sri John Woodroffe, Pub. Ganesh & Co., Third Edn., 1929, P. 669.

३. ‘सन्मार्ग’, आगम विशेषांक, १९८०, पृ. ८५.

के अनुवादक जे.एम. नल्लस्वामिन् का कहना है कि ज्योतिर्लिङ्ग की पूजा के पक्ष में याज्ञिक नीति परित्यक्त हो गयी, तो याज्ञिक आधार का प्रतीकवाद और अधिक आध्यात्मिक अभिप्राय से सम्पन्न हो गया। वह आगमों का समय हो सकता है।^१ श्री पी.टी. श्रीनिवास आयंगर का मत है कि शिवमन्त्रों की छाया तैत्तिरीयसंहिता में प्राप्त होती है। लेकिन तान्त्रिक स्वरूप वैचारिक रूप में ईसवी प्रारम्भिक शताब्दियों में आया।^२ श्री मल्लादि सूर्यनारायण शास्त्री का विचार है कि पाञ्चरात्रागम ईसवी चतुर्दश शतक से पूर्व के हो सकते हैं। श्री आर.आर. दिवाकर महाशय का कथन है कि शैवागम आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व के विरचित हैं।^३ प्रोफेसर मसहरु अनेत्सकी ने तान्त्रिक पूजा के प्रमाण में राजतरंगिणी से अशोक के समय को उद्धृत करते हुए प्रमाणित किया है कि तन्त्र नागार्जुन से भी पहले था।^४ शबरभाष्य में देवपूजा को याग कहा गया है।^५ आगमों में भी देवपूजा में अन्तर्याग और बहिर्याग शब्द प्रचलित हैं। पाणिनि बुद्ध से प्राचीन है, यह निर्विवाद है। अस्तु, आगमों में प्रचलित पूजादि को पाणिनि से पूर्व मानना समुचित है।

वास्तुशास्त्र के लेखकों का मत है कि वास्तुविद्या-विषयक शास्त्र शैवागमों से प्राचीन नहीं है। वास्तुविद्या की परम्परा हडप्पा और मोहनजोदड़ों की संस्कृतियों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। अतः शैवागमपरम्परा वेद के समकालीन ही नहीं, अपितु उससे भी पूर्व स्वीकार की जा सकती है। हडप्पा और मोहनजोदड़ों की खुदाइयों से उपलब्ध अवशेषों से इसकी पुष्टि की जा सकती है।

विद्वानों के विचारोपरान्त अभिलेखीय और साहित्यिक प्रमाण भी आगमों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में परीक्षणीय है। पांचवीं शताब्दी के कांची के शिलालेख में २८ शैवागमों का उल्लेख है।^१ वाराणसी के दैनिक

१. शिवसूत्रविमर्शिनी का अंग्रेजी अनुवाद, प्रारम्भिक टिप्पणी.

२. आध्रसंवत्सरादिसंचिका, संस्कृतवाङ्मयचरितम्, पृ. ७१.

३. वचनशास्त्ररहस्य, पृ. २८९-२९९.

४. हिस्ट्री ऑफ रिलीजन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया.

५. शबरभाष्य, ४/२/२/२७-२८.

समाचारपत्र 'आज' ५ फरवरी, १९७२ से पता चलता है कि मथुरा संग्रहालय में २३०० वर्ष प्राचीन मौर्य-शुङ्गकालीन यक्षी-प्रतिमा (मनसा देवी) है, जो मथुरा से २० कि.मी. दक्षिण की ओर 'झांग का नगला' नामक गांव से मिली है। उदयपुर के पुरातत्व-संग्रहालय में सन् ४९० ई. का एक शिलालेख सुरक्षित है, जिसमें देवी की स्तुति की गयी है। इस प्रकार शाक्त तन्त्र भी अत्यन्त प्राचीन है।^१

महाभारत में वर्णित है कि सत्ययुग में रुद्र ने योग में निविष्ट होकर तन्त्रशास्त्र बालखिल्य ऋषियों को बताया।^२ एतावता महाकाव्य काल में आगम प्रचलित थे। महर्षि बादरायण ने वेदान्तसूत्रों में पाञ्चरात्र और पाशुपतों का खण्डन किया है।^३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्वाश्रम में तपस्वियों को वैखानस कहा गया है।^४ तिरुमूलर के तिरुमन्दिरम् में आगम का वर्णन मिलता है।^५ भारविकृत किरातार्जुनीय,^६ आनन्दगिरि का शङ्करविजय,^७ मनुस्मृति पर कुल्लूकभट्ट की टीका^८ आदि में भी आगमों का दिग्दर्शन प्राप्त है।

इनके अतिरिक्त यतीन्द्रमतदीपिका नामक वैष्णवदर्शन ग्रन्थ में भी पाशुपत की चर्चा उपलब्ध है।^९ सर्वार्थसिद्धि नामक जैनदर्शन में जैनागम का प्रमाण स्वीकृत है।^{१०}

वाक्यपदीयम् भर्तृहरिकृत वैयाकरण दर्शन में आगम का पूर्ण अस्तित्व

-
१. साउथ इण्डिया इन्स्क्रिप्शन्स, भाग १, पृ. १५.
 २. एपिग्राफिया इण्डिका, वा. ३०, आ. ४, पृ. १२०-१३७ पर विवरण के साथ प्रकाशित है.
 ३. महाभारत, शान्तिपर्व, २५७+२७.
 ४. वेदान्तसूत्र, ५/५.
 ५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क.
 ६. तिरुमन्दिरम्, ७/२७६.
 ७. किरातार्जुनीयम्, ५/१८/२२.
 ८. शङ्करविजय, अध्याय ७-९.
 ९. मनुस्मृति, १/१०.
 १०. यतीन्द्रमतदीपिका, ३०-३१.
 ११. सर्वार्थसिद्धि, २/२०.

प्रतिपादित है।^१ पेरिस के प्रोफेसर फिल्लीओजात (Filliozat) ने अपने निबन्ध में संस्कृत ग्रन्थों का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि आगम, दक्षिण एवं पूर्व एशिया में विस्तृत रूप से बिखरे हुए थे।^२



१. वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड, ४८८-८९.

२. जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, १९७२-७७, वा. ४२-४६, पृ. १४५-१५३.

पाञ्चरात्र आगम

‘पञ्चरात्र’ दो शब्दों में मेल से बना है — ‘पञ्च’ तथा ‘रात्र’। ‘पञ्च’ शब्द का अर्थ स्पष्ट है पाँच संख्या,^१ रात्र शब्द प्रचलित रात्रि शब्द का अन्य रूप माना जाता है। ‘रा’ धातु से निष्पन्न ‘त्रिप्’ प्रत्यययुक्त शब्द से रात्रि शब्द बनता है,^२ जिसका अर्थ दिन न होना या प्रकाशाभाव माना जाता है। रात्रि शब्द से लाक्षणिक अर्थ में आनन्द की प्राप्ति भी मानी जाती है, अर्थात् वह अवस्था जिसमें आनन्द प्राप्त हो।^३ इस प्रकार पाञ्चरात्र शब्द का अभिप्राय हुआ पाँच रात्रियों का समय। परवर्ती विचारकों ने इसका अभिप्राय यह निकाला कि पाञ्चरात्र वह विद्या है, जो पाँच रात्रियों में पूर्ण रूप से प्राप्त की गयी।

पाञ्चरात्र या पञ्चरात्र दोनों ही समानार्थक शब्द माने गये हैं, जिनकी व्युत्पत्ति ‘पञ्चरात्रमधिकृत्य कृतम्’ की गयी है। पञ्चरात्र समास को तीन तरह से व्याख्यायित किया जाता है — (१) पञ्चानां रात्रीणां समाहारः, (२) पञ्चविधं रात्रम्, (३) पञ्च विद्यन्ते रात्रयो यस्मिन् तत्। तीनों ही प्रकार की व्याख्याओं में ‘रात्रि’ (रात्र) शब्द को लेकर ही उलझन है। पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या के लिए कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान अपेक्षित है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ‘पाञ्चरात्र’ सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण में दिखलायी पड़ता है। वहाँ पर प्रयुक्त पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ परोक्ष रूप से पुरुष तथा नारायण की एकता को निर्देशित करते हुए पाँच रात्रियों में समाप्त होने वाले यज्ञ का विधान बताया गया है।^४

१. ‘संख्यापूर्वरात्रे बहुलम्’ लिंगानुशासनम्, १३१.

२. ‘राशादिभ्यां त्रिप्’ उणादिसूत्र, ५०७.

३. नामलिंगानुशासनम्, १.४.४ टीका भानुजी दीक्षिता

४. स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्-शतपथब्राह्मण, १३/६.

महाभारत के नारायणीयपर्व में प्रयुक्त शब्द भी नारायण का सम्बन्ध पञ्चयज्ञों तथा पञ्चरात्रों में स्थापित करता है।^१ पञ्च आहुतियों! तुम्हें प्रणाम है, हे पञ्चरात्र! पञ्चकाल कृत्य करने वाले के तुम्हीं स्वामी हो। सामान्य रूप से इसमें पञ्चरात्रिक या पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या की गयी है। 'पञ्चरात्रिक' शब्द नारायण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इसका सम्बन्ध शतपथब्राह्मण के सन्दर्भ में विहित सा लगता है। इस सन्दर्भ में नारायण का सम्बन्ध पञ्चकाल अर्थात् पाँच रात्रियों में होने वाले कृत्यों से है।

महाभारत के मोक्षधर्मपर्व में पञ्चरात्र की एक परिभाषा दी गयी है—

एकमेकं सांख्ययोग वेदारण्यकमेव च ।

परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते ॥^२

प्रस्तुत श्लोक में पाँच प्रचलित मतों को परस्पर अवयव के रूप में माना गया है। 'एकम्' का अर्थ एकान्तिक धर्म तथा 'च' का अर्थ अतः मानने पर पञ्चरात्र शब्द का अभिप्राय इन पाँच प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हो जाता है। अतः 'रात्र' शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञान की एक प्रक्रिया है। ऐतिहासिक क्रम में इस शब्द का लाक्षणिक-दार्शनिक अर्थ देने का यह प्रथम प्रयास है। इन्हें हम पञ्चरात्र शब्द के क्रमिक विकास का रूप दे सकते हैं।

पाञ्चरात्र के पारम्परिक ग्रन्थों में सर्वप्रथम पौष्करसंहिता का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें दी गयी परिभाषा मोक्षधर्मपर्व से भिन्न है। इसमें दी गयी पाञ्चरात्र की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि इस ज्ञान का स्रोत पुराण, वेद, सांख्य तथा योग है।^३ इसीमें यह भी बताया गया है कि यज्ञ का ज्ञान धूमिल पड़ गया। इसके धूमिल पड़ने का कारण शास्त्रों की महत्ता का अधिकाधिक रूप में प्रतिपादन था। 'प्रस्तुत परिभाषा में उपर्युक्त पाँच शास्त्रों से तुलना करके इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

१. पञ्चयज्ञं पञ्चकालकर्तृपक्षे पञ्चरात्रिकम्, महाभारत, नारायणीयपर्व, १२/३३८/४.

२. मोक्षधर्मपर्व, १२/३३६/७६.

३. पुराणं वेदवेदान्तं तथान्यत्सांख्ययोगजम् ॥ पञ्चप्रकारं विज्ञेयं यत्र रात्र्यायतेऽब्जज ।

फलोत्कर्षवशेनैव पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥ पौष्करसंहिता, ३८/३०७-०८.

पाद्मसंहिता में तीन श्लोकों में यह प्रतिपादित किया गया है कि पाञ्चरात्र के अभ्युदय से ऊपर निर्दिष्ट पाँचों शास्त्र मलिन पड़ जाते हैं। इनकी अवस्था दिन उगने पर नक्षत्रों के छिप जाने जैसी हो जाती है। तीसरे श्लोक में उनकी तुलना उस रात्रि से की गयी है, जो सूर्योदय होते ही लजीली नायिका की भाँति छिप जाती है।^१ अनिरुद्ध तथा मार्कण्डेयसंहिता में इन्हीं बातों का प्रतिपादन किया गया है।^२

अहिर्बुध्न्यसंहिता में मोक्षप्रदायक परमात्मा के पाँच स्वरूपों का उल्लेख करते हुए पाञ्चरात्र को मोक्षदायक पद्धति बताया गया है। परमात्मा के ये पाँच स्वरूप क्रमशः पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा हैं।^३ यद्यपि स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख नहीं है; किन्तु अनुमान के लिए पर्याप्त आधार है कि विष्णु की इन पाँच अभिव्यक्तियों का पाँच रात्रियों से सम्बन्ध है।

शाण्डिल्यसंहिता में पाञ्चरात्र का दार्शनिक विवेचन किया गया है। सांख्य, योग, शैव, वेद और आरण्यकों को रात्रि कहा गया है। यहाँ रात्रि का अभिप्राय है वह काल तथा ज्ञान, जिसमें मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है। संहिता में इस बात पर बल दिया गया है कि उस परमानन्द की प्राप्ति के लिए केवल एक ही शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है और वह है पाञ्चरात्र। इन शास्त्रों की तुलना रात्रि से करते हुए संहिताकार जोर देकर कहता है कि पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का भक्त इन पाँचों रात्रियों में पाये जाने वाले पृथक्-पृथक् आनन्दों को एक ही साथ प्राप्त कर लेता है।^४

-
१. पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि । तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते ॥
चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैव वासरे । तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ ॥
पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे । ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वद् इतराणि तदन्तिके ॥

पाद्मसंहिता, १/१/७२-७४.

२. (क) अनिरुद्धसंहिता, १/३६/८; (ख) मार्कण्डेयसंहिता, २/६.

३. तत्परं व्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम् । पञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैकफलदायकम् ॥

अहिर्बुध्न्यसंहिता, १/१/६३/४.

४. सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम् । प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र समवाप्यते । परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥

शाण्डिल्यसंहिता, १/४/७५-७६.

ईश्वरसंहिता में 'रात्र' शब्द का अभिप्राय एक रात में दिये जाने वाले उपदेश से लिया गया है। इस संहिता में ब्रह्मा ने अपना पूर्वार्जित पञ्चायुधों का प्रतीकभूत ज्ञान पाँच ऋषियों को दिया, इनका नाम है — शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जयन, कौशिक तथा भारद्वाज। इन ऋषियों ने ब्रह्मा से रात-दिन इस विषय पर चर्चायें कीं। इसीलिए इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं।^१ भारद्वाजसंहिता में 'रात्र' शब्द का अर्थ रात्रदिवसीय शास्त्र चर्चा है। इसमें पाँच दिव्य पुरुषों का उल्लेख है, जिन्होंने पाँच रात्रियों में इस शास्त्र का उपदेश दिया। इनके नाम हैं — ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, नाग तथा ऋषि।^२ विहगेन्द्रसंहिता में भी लगभग इसी तरह की परिभाषा दी गयी है।^३

परमसंहिता में पाँच महाभूतों के पाँच गुणों को प्राणियों की रात्रि माना है। उस रात्रि से मुक्ति-साधक शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है। इस संहिता से भूतमात्र को गर्व, अहंकार तथा अव्यक्त पुरुष की रात्रि स्वीकारा गया है।^४ विष्णुसंहिता,^५ विष्णुतन्त्र,^६ कपिञ्जलसंहिता^७ तथा हयशीर्षसंहिता^८

१. पञ्चायुधांशस्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः । मौञ्जयनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः ॥
पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः । अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोकैः पञ्चरात्रमितीर्यते- ईश्वरसंहिता, २१/५१९-२३.
२. प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम् । तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम् ।
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् । भारद्वाजसंहिता, २/१२-१३.
३. विहगेन्द्रसंहिता, १/१४-१५.
४. महाभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृतः । तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च । रात्रयः पुरुषश्चोक्तं पञ्चरात्रमिदं ततः ॥
परमसंहिता, १/३९-४१.
५. रात्रयो गोचराः पञ्च शब्दादिविषयात्मिकाः । महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः ॥
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्चरात्रयः । नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत्सर्वाज्ञानविनाशनम् ॥
विष्णुसंहिता, १/४९-५१.
६. वियद् वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा । रात्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्यासम्भवास्तथा ॥
तद् भोगाद्विनिवृत्तिं तु कारयेयुर्यतस्ततः । पञ्चरात्रमिति प्रोक्तम् एतच्छास्त्रमतस्तथा ॥
विष्णुतन्त्र, अ. १, श्लो. ७८-७९.
७. पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते । रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः ॥
तद् भोगाद् विनिवृत्तिस्तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥ कपिञ्जलसंहिता, अ. १, श्लो. ३१-३२.
८. आकाशवायुतेजासिं पानीयं वसुधा तथा । एता वै रात्रयः ख्याता ह्यचैतन्यास्तथोत्कटाः ॥
हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड, पटल ३/२.

में भी रात्रि में स्थूल पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होने वाले आनन्द को यहाँ रात्रि माना गया है। ये अविद्या होने के कारण नित्य या परमप्राप्य नहीं हैं, अतः इस अविद्याजनित (राग) या सुख की विनिवृत्ति ही पाञ्चरात्रशास्त्र का परमप्राप्य है। परमात्मप्रकाश रूप आश्रय को प्राप्त करके अविद्याजनित सुखादि अन्धकार का नाश हो जाता है और जीव परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है।

श्रीप्रश्नसंहिता में अज्ञान को रात्रि कहा है। 'पञ्च' अज्ञान का नाशक है। अस्तु अज्ञाननाशक होने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है।^१

विश्वामित्र तथा शाण्डिल्य संहिताओं में सर्वप्रथम 'रात्र' शब्द की यास्क पद्धति के अनुसार धात्वर्थानुसारी व्याख्या की गयी है। 'रा' धातु का अर्थ ग्रहण करना माना गया है। विभिन्न विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही इसका अभिप्राय लिया गया है। जीव इन्हीं विषयों में आसक्त होकर बन्धन में बँधता है और इन्हीं से विनिवृत्त होकर जीव परम पद की प्राप्ति करता है। 'त्रा' शब्द का अभिप्राय इसी विनिवृत्तिपरक त्राण से है।^२

नारदपाञ्चरात्र एवं ज्ञानामृतसारसंहिता के अनुसार रात्र पद ज्ञान का वाचक है। ये पञ्चविध ज्ञान हैं — परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार), जिनके ज्ञान का आपादक यह शास्त्र है।^३

१. रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम् । तच्छास्त्रं पञ्चरात्रं स्याद् अन्वर्थस्यानुरोधतः ॥

श्रीप्रश्नसंहिता, २/४०.

२. (क) 'रा' इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादायवाचकः । विषयेन्द्रियभूतानामादातरश्च पञ्च राः ॥

विश्वामित्रसंहिता, २३/४.

(ख) सांख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे । पञ्चार्थदानतः त्राणाद् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी ॥

शाण्डिल्यसंहिता, १/४/७८.

३. (क) 'रात्रि'श्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् । तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

नारदपाञ्चरात्र, १/४४.

(ख) 'रात्रं' च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् । तेनेदं भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

ज्ञानामृतसारसंहिता, प्र.रा. १/४/४४.

उत्सवसंग्रह में पुराण, न्याय, मीमांसा, सांख्ययोग का एक समूह तथा आगम, भारतशास्त्र, शिल्प, वैद्यक तथा ज्योतिष दूसरा समूह है। इन दोनों समूहों को पृथक्-पृथक् पाञ्चरात्र माना गया है।^१

श्री वेदान्तदेशिक ने विभिन्न आगमादि ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्ष रूप में पञ्चरात्र पद का स्वरूप बताते हुए कहा है कि श्री विष्णु की अनन्य भाव से भक्ति का उपदेशक शास्त्र पाञ्चरात्र है।^२

कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी पञ्चरात्र के ऊपर विचार किया है, जिनके कथन निम्नवत् हैं—

डॉ. एफ.ओ. श्रेडर ने पाञ्चरात्र का मूल शतपथ ब्राह्मण में पाँच रात्रियों में होने वाला यज्ञ-सत्र माना है। वहाँ पुरुष नारायण ने पाञ्चरात्र की परिकल्पना द्वारा सभी प्राणियों पर अपना आधिपत्य माना है तथा प्राणिमात्र के रूप में परिणत होने की व्यवस्था की है। श्रेडर ने यह भी प्रतिपादित किया है कि पञ्चरात्र के मन्त्रों की व्याख्या भी इन्हीं नारायण से प्रसूत है। इसके दार्शनिक विवेचन के साथ परमात्मा के पाँच स्वरूपों (विग्रहों) का उल्लेख है — पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा।^३

प्रोफेसर अशोककुमार कालिया भी शतपथब्राह्मण में वर्णित यज्ञ-सत्र को ही पाञ्चरात्र का मूल मानते हैं।^४

पं. श्री राजबली पाण्डेय का कहना है कि सम्भवतः व्यूह-सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्मा — इन पाँच तत्त्वों के आधार पर पाञ्चरात्र नाम है।^५

१. पुराणं न्यायमीमांसे तथान्यत् सांख्ययोगतः । पञ्चप्रकारविज्ञेयः पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

आगमं भारतं शिल्पं वैद्यं ज्योतिषमेव च । पञ्चशास्त्राणि संयोगात् पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥

उत्सवसंग्रह, ३, पृ. १५१.

२. प्रतिबुद्धविषयभगवदनन्यभजनोपदेशप्रवृत्तं तु शास्त्रं पाञ्चरात्रम् ।

न्यायपरिशुद्धि, श.अ. २ आ.

३. इण्ट्रोडक्शन ऑफ पाञ्चरात्र, पृ. १९१.

४. संस्कृतवाङ्मय का इतिहास, तन्त्रागम, एकादश खण्ड, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ, पृ. ८७.

५. 'पाञ्चरात्र और वेदान्त', कल्याण, १९३६, वेदान्त विशेषांक, पृ. ३३४.

डॉ. के.सी. वरदाचारी ने 'रात्रि' शब्द का व्यापक अर्थ किया है। उनके हिसाब से पक्ष, अयन तथा रात्रि आदि का विभाजन स्थूल दृष्टिकोण से किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म ही पाँच रात्रियों से सम्बन्ध रखता है — (१) सोमवंश, (२) दक्षिणायन, (३) कृष्णपक्ष, (४) मध्यरात्रि तथा (५) रोहिणी नक्षत्र। परोक्ष रूप से प्रथम एवं अन्तिम का सम्बन्ध भी रात्रि से है। श्रीकृष्ण को वासुदेव कहा जाता है, जो पाञ्चरात्र-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।

श्री वरदाचारी ने प्रश्नोपनिषद् के आधार पर पाँच रात्रियों की परिकल्पना की है। इसमें पाँच प्राण जो चेतन हैं तथा पाँच रात्रि जो अचेतन हैं, उनको आदित्य तथा चन्द्रमस् कहा गया है।

पिप्पलादि ने प्रजापति को बताया है कि जागतिक प्रपञ्च में संवत्सर, मास, दिवस आदि हैं। इनमें से प्रत्येक को दो भागों में प्राण तथा रयि के रूप में बाँटा जा सकता है। पाँच प्राण हैं तथा पाँच ही रयि हैं। प्राण वह है जो मुक्ति दिलाता है, 'रयि' वह है जो आत्मा को आबद्ध रखता है।^१ विद्वान् विचारक ने राम के जन्म को शुक्ल पक्ष में होने के कारण प्रकाश, कर्तव्य, स्पष्टता तथा आसानी से अधिगत होने वाले कार्यों का स्वामी माना है। इसके विपरीत कृष्ण सदा दैवी सम्पत्तियों से युक्त 'पर' तथा अनधिगत रूप में विद्यमान देखे जाते हैं। कृष्ण के तिरोधान के बाद कलि का प्रवेश हुआ था, जिसे परीक्षित ने सीमित स्थानों में बाँध रखा था।

भगवान् श्रीकृष्ण सभी प्रकार के अन्धकारों के स्वामी हैं। उन्होंने अर्जुन को अपना व्यापक तथा आधिभौतिक रूप दिखाया है। वह (कृष्ण) तपस् (रयि) से ऊपर है। इस प्रकार विद्वान् विचारक ने पाँच रयि का कृष्ण जन्म की पाँच रात्रियों से सम्बन्ध जोड़कर उसी से पाञ्चरात्र का उद्गम माना है।^२

१. प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न.

२. आइडिया ऑफ गाड, पृ. १०१-०९.

प्रोफेसर वान बुटिनेन ने अपने को संहितापूर्व असाम्प्रदायिक ग्रन्थों तथा परम्पराओं के ऊपर आधारित किया है। उनका मानना है कि पञ्चकाल, पञ्चयज्ञ, पञ्चरात्रिक तथा रात्रिपञ्चक आदि वे नियम हैं, जिन्हें यायावर सन्त पाँच विभिन्न रात्रियों में रुक-रुक कर सम्पन्न करते थे। इसका उल्लेख मोक्षधर्मपर्व, बृहत्कथा तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में है। ऐसे लोगों को पाञ्चरात्रिक कहा जाता था। कालान्तर में इनके सिद्धान्तानुयायियों को पाञ्चरात्र कहा जाने लगा।^१

डॉ. वी. वरदाचारी ने प्रोफेसर बुटिनेन की परिभाषा का परीक्षण कर युक्तियुक्त खण्डन किया है।^२

डॉ. पी.पी. आप्टे का कथन है कि बुटिनेन महोदय की व्याख्या से भले ही कोई सहमत न हो; किन्तु इनके संहिता-पूर्व उद्धरणों का उल्लेख अथवा संकलन तथा इनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति सराहनीय है। इस सम्बन्ध में यदि और सामग्री मिल जाय तो उक्त कथन को पर्याप्त बल मिलेगा।^३

एच. डेनियल स्मिथ ने किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर एक जगह संहिता-साहित्य में प्राप्त उद्धरण के आधार पर तथा दक्षिण भारत में प्रचलित मौखिक परम्परा को आधार मानकर इसका उद्भव यायावर सन्तों से ही माना है। उन्होंने संहिता को परिभाषा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर दिया है, जिन्हें क्रमशः 'रात्र' तथा 'पञ्च' कहा है। रात्र का प्रसिद्धात्मक अर्थ ज्ञान तथा निषेधात्मक अर्थ अज्ञान बताया है।^४

डॉ. वी. राघवन् का मत है कि कुछ विशिष्ट ऋषियों को रात्रि-चर्चा के आधार पर जो धर्मोपदेश किये गये, जिनका संकलन महासनत्कुमारसंहिता

१. 'दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र' हिस्ट्री ऑफ रेलिजन, १/२ (१९६२), पृ. २९१-९.

२. 'आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णवीज्', वी. वरदाचारी, पृ. १२७-३१.
प्रकाशित प्रो. एम. रंगाचार्य मेमोरियल ट्रस्ट, ट्रिपलीचेन, मद्रास-५, १९८२.

३. 'पाञ्चरात्र नेम एण्ड ओरिजिन' बाई पी.पी. आप्टे, सी.ए.एस.एस. स्टडीज.सं-२, पृ. ८३-१११, पूना, १९८२

४. 'ए टाइपलाजिकल सर्वे ऑफ दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र' बाई एच्. डेनियल स्मिथ, जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, १९६४-६६, पृ. १०२-११७.

में रात्र शब्द से किया गया, वही पाञ्चरात्र शब्द का समुचित अर्थ है। इनमें पाँच ऋषियों का उल्लेख है, जिनका नाम क्रमशः शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, ऋषि तथा बृहस्पति है। अत्यन्त आदर के साथ यही नाम एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्राप्त हो गया।^१

पं. ए.एस. आर्यंगार ने अनिरुद्धसंहिता तथा ईश्वरसंहिता में वर्णित कथाओं को पाञ्चरात्र का आधार माना है। महाभारत युद्ध के अनन्तर द्वापर तथा कलि की सन्धि में तोताद्रि तथा गन्धमादनादि पर्वतों पर अट्ठासी हजार लोगों का समूह एकत्रित हुआ, जिनमें आठ हजार ऋषि थे।^२ वासुदेव, मौञ्जायन, संकर्षण तथा कौशिक ने इस अवसर पर कलियुग में मोक्षधर्म के निर्धारण का कार्य किया, जिसके अनुसार क्रमशः वैदिक यज्ञयागादि का तथा उनमें होने वाली बलियों का परित्याग कर सात्त्वत विधि से विष्णु की पूजा की मूर्ति का विधान किया। पाँच रात्रियों तक चलने वाले इस सत्र को कालान्तर में 'पाञ्चरात्र' कहा गया।^३

इस निखिल विवेचन के निर्गलन से ऐसा प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्र शब्द में प्रयुक्त रात्र शब्द सामान्यतः कालवाची है। यही अर्थ आगम के अनुकूल तथा समीचीन लगता है। पाञ्चरात्र शब्द से ऐसा सम्प्रदाय तथा उसका आचार अभिप्रेत है, जिसमें वैष्णवों के आचार-सम्पादन हेतु चौबीस घण्टे अथवा एक (अहोरात्र) को पाँच भागों में विभक्त करके प्रत्येक काल के कार्यों का विधान विहित हो। पञ्चकाल के अन्तर्गत सूर्योदय से शुरू होकर रात्रि के उत्तर भाग पर्यन्त चलने वाले आचार यथा — अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योगकाल का कर्म अभीष्ट है, जिनका उल्लेख भी पाञ्चरात्र ग्रन्थों में उपलब्ध है।^४ अतएव यही अर्थ व्यावहारिक तथा युक्तियुक्त है।

१. 'दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र', डॉ. वी. राघवन्, जर्नल ऑफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी, ८५-१ (१९६५), पृ. ७६.
२. ईश्वरसंहिता, १/३३-४०.
३. 'हिस्ट्री ऑफ टेम्पुल वर्शिप' बाई पं. एस. आर्यंगार, टी.टी. देवस्थानम् - जर्नल, मई एण्ड जून, १९६७, पृ. १-१७.
४. जयाख्यसंहिता, २२/६८-७४. पाद्मसंहिता, १३/३-४. नारदीयसंहिता, ३०/२-४. सनत्कुमारसंहिता, ऋषिरात्र, १/३-१५.

पाञ्चरात्र आगम की वेदमूलकता

पाञ्चरात्र का उदय भारत-भूमि पर कब हुआ? यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख देवता वासुदेव हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णुगायत्री दी गयी है, जिसमें विष्णु की एकता नारायण तथा वासुदेव से की गयी है।^१ पाद्मसंहिता में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनेक पर्यायों जैसे— सात्त्वत, भागवत, ऐकान्तिक आदि का उल्लेख मिलता है।^२ पाञ्चरात्र शास्त्रों का मानना है कि भागवत धर्म वेद से ही सम्बद्ध है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है।^३ पारमेश्वरसंहिता में लिखा है कि द्वापर के अन्त तथा कलियुग के आदि में शाण्डिल्य ऋषि ने कठोर तपस्या करके साक्षात् संकर्षण से एकायन वेद प्राप्त किया। यहाँ सात्त्वत विधि का विधान था और उसी को महर्षि ने जैमिनि, भृगु, उपगायन और मौञ्जायन आदि ऋषियों को पढ़ाया। इसी प्रकार यह वेद भूतल में प्रचारित हुआ।^४

छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का वर्णन है, पर विवेच्य विषयों का वर्णन नहीं है।^५ यहाँ यह ध्यातव्य है कि छान्दोग्य उपनिषद् में एकायन विद्या का उल्लेख परमभागवत नारद जी के साथ है, तथा महाभारत में भी पाञ्चरात्र के उपासक नारद जी ही हैं। इस आधार पर उपनिषत्काल में एकायन शाखा का होना सत्य सा लगता है। 'एकायन' का तात्पर्य है कि मोक्ष, प्राप्ति का एकमात्र 'अयन' उपाय।^६ 'एकायन' का अर्थ शङ्कराचार्य

१. 'नारायणं विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्'। तैत्तिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठक।

२. सूरिः सुहृद् भागवतः सात्त्वतः पञ्चकालवित्। ऐकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि ॥

पाद्मसंहिता, ४/२/८८.

३. (क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।—ईश्वरसंहिता, १/४३.

(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्। तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम् ॥

श्रीप्रश्नसंहिता. २/३८.

४. द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च। साक्षात् संकर्षणात् भक्तात् प्राप्त एष महत्तरः ॥

एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्त्वतो विधिः ॥ पारमेश्वरसंहिता प्र.अ..

५. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदंवाकोवाक्यमेकायनम्'।—छान्दोग्य उपनिषद्, ७/११२.

६. मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते। तस्मादेकायनं नाम प्रविदन्ति मनीषिणः ॥

ईश्वरसंहिता, १/१८.

नीतिशास्त्र से लेते हैं; किन्तु रामानुजाचार्य ने 'एकायन शाखा' की ही स्वीकृति की है। ज्यादातर सम्भव है कि "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" एकायन मार्ग का ही द्योतक है। नागेश नामक एक विद्वान् का मानना है कि शुक्लयजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम एकायन है।^१ इस कथन का प्रमाण जयाख्यसंहिता से भी होता है। संहिता का कहना है कि प्रपत्तिशास्त्र में पारंगत औपगायन और कौशिक ऋषि काण्व शाखा के अध्येता थे।^२ पाञ्चरात्रशास्त्र के प्रवर्तक तीन अन्य ऋषियों का भी उल्लेख है, जिनके नाम थे—शाण्डिल्य, भारद्वाज तथा मौञ्जयन, जो काण्वी शाखा के आश्रयकर्ता थे।^३

मार्कण्डेयसंहिता तथा विष्वक्सेनसंहिता में यह प्रतिपादित है कि पाञ्चरात्रशास्त्र श्रुतिमूलक है तथा यह शास्त्र कल्पसूत्र के सदृश प्रामाणिक है।^४ विष्णुसंहिता के अनुसार पाञ्चरात्र को तन्त्र कहते हुए श्रुतिमूलक तथा आप्तमूलक स्वीकारा गया है। यह तन्त्र पुराण तथा मन्वादि-वाक्यवत् प्रमाणभूत कहा गया है।^५ विष्णुतन्त्रसंहिता का कहना है कि सभी पाञ्चरात्र श्रुतिमूलक हैं।^६ नारदीयसंहिता में भी इसे वैदिक-परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।^७ डॉ. एस.आर. भट्ट ने अपने विद्वतापूर्ण निबन्ध "स्मृतिकाल में वैदिक एवं पाञ्चरात्र विचारधारा का सम्बन्ध" में स्मृतियों एवं पुराणों से पर्याप्त उद्धरण देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पाञ्चरात्र वैदिक एवं वेदेतर दोनों के मध्य रहते हुए अपनी वैदिकता बनाये रखने के लिए उसे

१. 'काण्वशाखामहिमासंग्रह' मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, ट्रिनील कैटलाग, III, 1, बी, पृ. ३२९९.

२. 'काण्वी शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ। प्रपत्तिशास्त्रनिष्ठातौ स्वनिष्ठानिष्ठितानुभौ ॥ जयाख्यसंहिता, १/१०९.

३. शाण्डिल्यश्च भारद्वाजो मुनिर्मौञ्जयनस्तथा । इमे च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः ॥ श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि । जयाख्यसंहिता, १/१७६.

४. (क) 'श्रुतिमूलमिदं शास्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्'। मार्कण्डेयसंहिता, पृ. ६, अ. १, श्लो. ३८. (ख) विष्वक्सेनसंहिता, ८/६/७.

५. वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयापि च। पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत् ॥ विष्णुसंहिता, पटल-२/११.

६. 'श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पङ्कज', विष्णुतन्त्रसंहिता, १/३६.

७. नारदीयसंहिता, २९/३०-४०.

पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा।^१ इस पर इतना कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्र मत ने वैदिक एवं वेद से भिन्न के बीच बनी खाई पर सेतु का नाम किया।

इसके अलावा पाञ्चरात्र श्रुति की सत्ता का उल्लेख काश्मीर के उत्पलाचार्य ने अपने ग्रन्थ स्पन्दप्रदीपिका में किया है।^२ पाञ्चरात्र श्रुति के अलावा पाञ्चरात्र उपनिषद् का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उत्पलाचार्य के समय तक पाञ्चरात्र श्रुति, पाञ्चरात्र उपनिषद्, पाञ्चरात्रसंहिता अवश्यमेव थे। आचार्य उत्पल का समय दशम शताब्दी स्वीकृत है। अस्तु, पाञ्चरात्र श्रुति बहुत सम्भव है एकायन नाम से ही प्रचलित रही हो।

जैसा कि आचार्य उत्पल ने पाञ्चरात्र श्रुति के अनन्तर पाञ्चरात्र उपनिषद् का उल्लेख किया है, उस प्रसंग में श्रीप्रश्नसंहिता की विदुषी सम्पादिका ने सन्देह प्रकट किया है,^३ फिर भी बहुत-सी पाञ्चरात्र संहिताओं की अध्यायान्त पुष्पिकाओं के अवलोकन से उत्पल का विभाजन उचित प्रतीत होता है। विश्वामित्रसंहिता के कुछ अध्यायों की पुष्पिकाओं में 'महोपनिषदि' शब्द का प्रयोग है।^४ इसी तरह पाद्म एवं पौष्कर संहिताओं में उल्लेख है।^५ पाञ्चरात्र के साथ संहिता शब्द का प्रयोग तो अत्यन्त ही प्रचलित है।

पाञ्चरात्र आगम की प्राचीनता

पाञ्चरात्र निर्विवाद रूप से एक प्राचीन आगमिक-परम्परा है। इसकी प्राचीनता के प्रसंग में कुछ विवरण अधोलिखित हैं — महाभारत के भीष्मपर्व

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्वत् २०२१, अंक ३, पृ. ४०३-४१४.

२. पाञ्चरात्रश्रुतावपि—यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्, प्लवेन वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेणैव हि भगवान् शास्ताऽवगन्तव्यः—स्पन्दप्रदीपिका, पृ. २. विजयानगरम् संस्कृत सीरीज.

पाञ्चरात्रोपनिषदि च-ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च, तत्रैव, पृ. ४०.

३. श्रीप्रश्नसंहिता, इंगलिश इण्ट्रोडक्शन, पृ. १६, के.सं.वि., तिरुपति संस्करण, १९६९.

४. "इति पाञ्चरात्रे महोपनिषदि विश्वामित्रसंहितायां प्रथमोऽध्यायः" विश्वामित्रसंहिता, पृ. ८.

५. (क) इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पाद्मसंहितायां ज्ञानपादे शास्त्रावतारको नाम प्रथमोऽध्यायः', पाद्मसंहिता, ज्ञा.पा., अध्याय १.

(ख) इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पौष्करसंहितायां शिष्यपरीक्षालक्षणो नाम प्रथमोऽध्यायः', पौ.सं., पृ. ३.

में मोक्षधर्म में सात्त्वतविधि (पाञ्चरात्र) की प्रशस्ति परिलक्षित है।^१ इस प्रमाण से प्रमाणित है कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया भीष्मपर्व की रचना से प्राचीन है; किन्तु महाभारत का रचनाकाल ही सर्वथा निर्विवादित नहीं है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में महाभारत कालक्रम से विकसित (विरचित), अस्तु दीर्घावधि में विरचित ग्रन्थ माना जाता है।^२ अतः भीष्मपर्व का यह अंश, जिसमें पाञ्चरात्र-प्रक्रिया आलोचकों द्वारा निर्धारित महाभारत रचनाकाल से निश्चित ही प्राक्कालिक है। कुछ विद्वान् श्रीमद्भगवद्गीता में चतुर्व्यूह-वर्णन का अभाव और नारायणीय अध्याय में^३ उसका वर्णन देखकर यह विचार रखते हैं कि नारायणीयपर्व की रचना गीता की रचना के पश्चात् हुई है। यदि नारायणीयपर्व की रचना पहले होती तो गीता में चतुर्व्यूह का निर्देश अवश्य होता।^४ अतः नारायणीयपर्व के अन्तर्गत वासुदेवादि चतुर्व्यूह की स्थिति गीता की अपेक्षा अर्वाचीन है। परिणामतः चतुर्व्यूह के आराधनादि विधानपरक पाञ्चरात्रशास्त्र का समय उससे प्राचीन नहीं हो सकता — यह कहना कोई तर्कसंगत नहीं लगता। वस्तुतः गीता के प्रतिपाद्य कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग विषयों के वर्णन क्रम में गीताकार ने चतुर्व्यूह-वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी हो। अतः गीता में उसका वर्णन नहीं है। इससे गीता की अपेक्षा नारायणीयपर्व का परकालीनत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।^५ जहाँ तक महाभारत की रचना का प्रश्न है, उस प्रसंग में श्री सी.वी. वैद्य महोदय का मानना है कि क्रमशः लम्बी अवधि में विकसित होने के बाद भी महाभारत का वर्तमान स्वरूप ई० सन् की तृतीय शताब्दी में पूर्ण हो गया था। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का कहना है कि वर्तमान महाभारत की रचना ई. सन् द्वितीय तथा चतुर्थ शताब्दी के बीच पूर्ण हो गयी थी, विण्टरनिट्ज महोदय

१. महाभारत, भीष्मपर्व, ६६/४०.

२. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. ४१९, रामनारायणलाल बेनीमाधव, कटरा रोड, इलाहाबाद, विक्रमाब्द २०१८.

३. महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व), अ. ३८, श्लोक २१-४६.

४. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३८-४१.

५. जयाख्यसंहिता, प्रस्तावना, पृ. ४२-४३.

का मत है कि महाभारत की रचना ई. पूर्व द्वितीय शतक से ई. सन् के चतुर्थ शतक तक की लम्बी अवधि में पूर्ण हो गयी थी।^१ इन सारे प्रमाणों से पाञ्चरात्र का अस्तित्वकाल ई. सन् की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से प्रमाणित है। डॉ. एस.के. आयंगर का कहना है कि महाभारत के नारायणीयपर्व की रचना बुद्धजन्म के पहले षष्ठ ईसा-पूर्व से भी प्राचीनकाल में हुई।^२

पाञ्चरात्र की प्राचीनता के प्रसंग में तमिल-साहित्य उल्लेखनीय है। 'शिलप्पादिकारम्' एवं 'परिपदल' में गरुडध्वज, संकर्षण, वासुदेव और अनिरुद्ध की प्रतिमाओं का विवरण मिलता है।^३ 'परिपदल' का काल ई. सन् द्वितीय शताब्दी स्वीकृत है। इस ग्रन्थ के अनुसार मदुरई के निकट तिरुमञ्जाले में श्रीकृष्ण एवं बलदेव की प्रतिमाएँ थीं। 'तिरुक्कुरल' नामक ग्रन्थ, जो ई. सन् के द्वितीय शतक में लिखित है, त्रिविक्रम अवतार और कमलनयन श्री विष्णु का वर्णन प्राप्त होता है।^४

पाणिनीय सूत्र — "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्"^५ की व्याख्या में कैयटभाष्य में 'वासुदेव'-शब्द को 'नित्य परमात्मा'-अर्थ में लिया है; काशिकावृत्ति में भी 'देवताविशेष'-अर्थ ही लिया गया है, 'वसुदेव-पुत्र' (क्षत्रिय) अर्थ का यहाँ निषेध भी स्पष्ट सूचित है।^६ उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि पाणिनि के काल, ई.पू. सप्तम शताब्दी से पूर्व 'वासुदेव' परमात्मा के रूप में जाने जाते थे। उस समय उनका समाज में प्रबल प्रचार था।^७

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-१, पृ. ४६५ और ४७५, (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

२. प्रोसिडिंग्स ऑफ दी सेकेण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेंस, कलकत्ता, १९२३, पृ. ३५३.

३. आलवारकल् कालनिलै (तमिल)-लेखक राघव अय्यंगर तथा वैखानस धर्मसूत्र की भूमिका, लेखक श्री रंगाचारी, पृ. १३.

४. वैखानस-धर्मसूत्र की भूमिका, लेखक श्री रंगाचारी, पृ. १३.

५. अष्टाध्यायी, ४/०३/९८.

६. 'नित्यः परमात्मा देवताविशेष इह वासुदेवो गृह्यत इति विशेषः। कैयटभाष्य अष्टाध्यायी, ४/३/९८.

'संज्ञा देवता-विशेषस्य, न क्षत्रियाख्या' काशिका, वही सूत्र, पृ. २४३, काशी संस्करण.

७. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास', सत्यकाम वर्मा, पृ. १००, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

प्राचीन शिलालेखों से भी पाञ्चरात्र काल का निर्धारण सम्भव है। राजपूताना के घोसुण्डी नगर में प्राप्त शिलालेख के संकर्षण एवं वासुदेव के मन्दिर के चतुर्दिक् प्राकार-निर्माण वर्णन उपलब्ध है। इस शिलालेख का काल २०० ई.पू. है। नानाघाट गांव की गुहा में प्राप्त एक शिलालेख में 'वांसुदेव' और 'संकर्षण' का उल्लेख मंगलश्लोक में है। इस शिलालेख का काल ईसवी सन् के पूर्व शताब्दी स्वीकृत है। वेशनगर गांव में प्राप्त शिलालेख में वासुदेव की तृप्ति के लिए भागवत हेलियोदोरा द्वारा गरुडध्वज-स्तम्भ प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। इस शिलालेख से वासुदेव-पूजा का प्रचार तथा उनके अनुयायियों को भागवत कहा जाना सिद्ध है।^१

उपर्युक्त शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ई.पू. तृतीय शतक से पूर्व पाञ्चरात्रशास्त्र पूर्ण रूप से प्रचलन में था।

चन्द्रगुप्त मौर्य ई. पूर्व चतुर्थ शतक के शासनकाल में यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने शौरसेनीय किसी क्षत्रिय को वासुदेव का आराधक कहा है।^२ यह वासुदेवाराधन सात्वतविधिमूलक है। ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में सात्वतविधि से ही वासुदेव की आराधना की जाती थी, अर्थात् सात्वत एवं भागवत दोनों पर्यायवाचक शब्द थे। सात्वतविधि का उल्लेख भीष्मपर्व में प्राप्त होता है।^३ इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि वासुदेव की आराधना जिस विधि से होती है, वह भागवत विधि है।

पाञ्चरात्र का नामान्तर सात्वत मत है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है। विष्णुसहस्रनाम के एक भाष्यकार ने सात्वत शब्द से भागवत मतानुयायियों का सामान्य अर्थ किया है।^४ कूर्मपुराण में सात्वत नामक विष्णुभक्त का उल्लेख है। वह नारद के कथनानुसार वासुदेवार्चन में रत

१. 'वैष्णविज्ज, शैविज्ज एण्ड अदर माइनर रेलिजन्स इन इण्डिया', आर.जी. भण्डारकर।

२. तत्रैव, पृ. १.

३. ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः । सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ॥
द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कलियुगस्य च । सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः ॥

भीष्मपर्व, अ. ६६/३९-४०.

४. जयाख्यसंहिता, अंग्रेजी भूमिका, पृ. १०.

५. अथांशुः सात्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान् । महात्मा दाननिरतो धनुर्वेदविदां वरः ॥
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चने रतः, कूर्मपुराण.

बताया गया है।^५ डॉ. वी. वरदाचारी का मत है कि सात्त्वत लोग वैश्य वर्ण के थे। श्री कृष्णजन्म के कारण इनका सामाजिक महत्त्व बढ़ा।^६ डॉ. एस.के. आर्यंगार का अभिमत है कि सात्त्वत लोग यादववंशी क्षत्रिय थे, जिनमें श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म हुआ था।^७ इन्होंने सात्त्वत शब्द की उपलब्धि ऐतरेयब्राह्मण^३ तथा शतपथब्राह्मण^४ में होना स्वीकार किया है। ऐतरेयब्राह्मण का काल ई.पू. दशम शतक के आसपास है। इस प्रकार पाञ्चरात्र का ई.पू. होना इस प्रमाण से सिद्ध है।

भागवतों की दृष्टि से ऐकान्तिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है और यह स्वयं नारायण या भगवान् को भी प्रिय है।^५ श्रीवेंकट सुधी ने अपने सिद्धान्तरत्नावली नामक ग्रन्थ में, शास्त्र-प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि नारायण सर्वश्रेष्ठ देव हैं, और शिव, ब्रह्मा आदि देव उसके अधीन हैं।^६ महाभारत में वर्णित है कि नर-नारायण स्वयम् अपरिणामी ब्रह्म की, जो सारी सत्ता की आत्मा है; उपासना करते हैं। तभी उन्हें सबसे महान् कहा गया।^७

इस प्रकार हम देखते हैं कि सात्त्वत, भागवत, ऐकान्तिक — सभी पाञ्चरात्र से ही सम्बद्ध हैं। पाञ्चरात्र-सिद्धान्त जैसा कि डॉ. दासगुप्ता लिखते हैं कि यह अत्यन्त प्राचीन है, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से है। वह एक दृष्टि से समस्त वैष्णव सम्प्रदायों की नींव है।^५ इतना ही नहीं, बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष में कभी पाञ्चरात्र का ही बोलबाला था। प्रमाणरूप में पेश है—कवीन्द्राचार्य सूची, जो (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज) से प्रकाशित

१. आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, पृ. १५९.

२. डॉ. एस.आर्यंगार 'सात्त्वताज' प्रोसिडिंग ऑफ दी सेकेण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेंस, कलकत्ता, १९२३, पृ. ३५३.

३. ऐतरेयब्राह्मण, ११/२५/६, ८/१४/६.

४. शतपथब्राह्मण, १३/५/४/२१.

५. 'नूनमेकान्तिधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।' महाभारत, १२/३४८/४.

६. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-३, डॉ. एस.एन. दासगुप्त, हिन्दी अनुवाद, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७४, पृ. १२.

७. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३४.

८. भारतीय दर्शन का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ. १२.

है, पृ. २३ पर उन्होंने शिवपाञ्चरात्र, देवीपाञ्चरात्र, गणेशपाञ्चरात्र, ब्रह्मपाञ्चरात्र का उल्लेख किया है।^१ इससे सिद्ध है कि सभी मतानुयायी पाञ्चरात्र से सम्बद्ध थे और शिव को तो अपनी पूजा पाञ्चरात्र पद्धति से ही अभीष्ट थी।^२

पाञ्चरात्रपरम्परा ईश्वर, जीव तथा प्रकृति—इन तत्त्वों को स्वीकार करती है, तथा श्री महाविष्णु के दिव्य मङ्गल विग्रह की भक्ति अर्चना के सिद्धान्त को स्वीकार करती है।

पाञ्चरात्र आगम का साहित्य

पाञ्चरात्र आगम का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। जाहिर है जो समृद्ध होगा उसमें भेद भी सम्भव है। डॉ० श्रेडर के अनुसार पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या २१० है।^३ पं० वी० कृष्णामाचार्य ने लक्ष्मीतन्त्र के उपोद्घात में पाञ्चरात्र ग्रन्थों की संख्या २१९ बताई है।^४ ईश्वरसंहिता और पारमेश्वरसंहिता के अनुसार इस आगम के चार भेद हैं—आगमसिद्धान्त, मन्त्रसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त और तन्त्रान्तरसिद्धान्त।^५ पाद्मसंहिता में ऋगादि चार वेदों के सदृश पाञ्चरात्र-शास्त्र को सिद्धान्त भेद से चतुर्विध होना मान्य है। ऋगादि एक-एक वेद जिस तरह शाखा-भेद से अनेक है, उसी प्रकार वक्ताओं के भेद के आधार पर प्रत्येक सिद्धान्त भी अलग-अलग है।^६ अत्यन्त संक्षेप में चारों सिद्धान्तों का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चतुर्मुर्ति-प्रधान शास्त्र को आगम सिद्धान्त, एकमूर्ति-प्रधान शास्त्र को मन्त्र-सिद्धान्त कहते हैं। आगम-सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। नवमूर्ति प्रधान-शास्त्र को तन्त्रसिद्धान्त कहा गया है। तन्त्रान्तर सिद्धान्त उसे कहा जाता है, जहाँ अर्चनाविधि में चतुर्मुख

१. तन्त्राज स्टडीज आन देयर रेलिजिन एण्ड लिटरेचर, चिन्ताहरण चक्रवर्ती, पृ. ५७.

२. पाञ्चरात्रविधानेन मूलमन्त्रेण चैव हि।

पूजयेन्मां यथाशक्ति नृत्यगीतादिभिर्नरः ॥

शिवरात्रिव्रतकथा, शिवरहस्य उद्धृत, पृ. ५८.

३. इण्ट्रोडक्शन टू पाञ्चरात्र, पृ० ३-४.

४. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० १०-१३.

५. चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः।

पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्।

तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यतन्त्रान्तरं भवेत् ॥

(ई.स., २१/२६०-६१, पारमेश्वरसंहिता, १९/२६०-६१)

६. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, १/७६-७८.

या त्रिमुख देव का वर्णन निर्दिष्ट हो।^१ पाद्मसंहिता को मन्त्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत माना गया है।^२

पौष्करसंहिता ने संक्षेप में पाञ्चरात्र के तीन भेद — कनीय, मध्य तथा उत्तम किया है।^३ इसकी विस्तृत व्याख्या के प्रसंग में परिणाम के आधार पर पाञ्चरात्र-साहित्य के निम्नलिखित — पाद, मूल, उद्धार, उत्तर, बृहदुत्तर, कल्प, संहिता, कल्पस्कन्ध तथा तन्त्र — नौ भेद बताये हैं। ये नौ पूर्वोक्त तीन के ही भेद हैं।^४

पाञ्चरात्र तथा वैखानस का अन्तर—

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का मूल प्रायः वैखानस आगम से बाद का है।^५ महाभारत में वर्णित पाञ्चरात्र साहित्य के उल्लेख के अवसर पर चित्रशिखण्डी नाम के सात ऋषियों के वर्णन में सर्वप्रथम मरीचि नाम मिलता है। इसी महर्षि मरीचि के द्वारा वैखानस आगम का प्रवर्तन हुआ। अस्तु पाञ्चरात्र और वैखानस दोनों ही आगमों में नारायण को परम देवता स्वीकारा गया। वैखानस अर्चा को वैदिक पूजन तथा पाञ्चरात्र को शुद्ध पूजन कहते हैं।^६ इनके इतर भी वैखानस और पाञ्चरात्र में मतभेद है। वैखानस लोग पाँच मूर्तियों—श्रीविष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध की अर्चा करते हैं। पाञ्चरात्र मत में चार मूर्तियाँ स्वीकृत हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। यह प्रतिपादन युधिष्ठिर के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् वासुदेव ने स्वयं किया था।^७

१. तत्रैव, १/८०-८३.

२. तत्रैव, १/८६.

३. 'संक्षिप्तं त्रिप्रकारं च कनीयो मध्यमोत्तमम्' पौष्करसंहिता, ३९/१२.

४. 'नव प्रकारमित्येतद् भेदमुक्तत्रयस्य च'। पौष्करसंहिता, ३९/१२

५. 'वैखानससम्प्रदायस्य प्राचीनत्वम्'—शोध निबन्ध, डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, विश्वसंस्कृतम्, होशियारपुरम्, मई, १९६७ ई० ।

६. शुद्धञ्च वैदिकञ्चेति तान्त्रिकञ्च त्रिधा भवेत्। पाञ्चरात्रेण पूजा तु शुद्धविष्णोरिति स्मृतम्॥
वैखानसः स्वसूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम्। वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते॥

—पौष्करसंहिता

७. युधिष्ठिर उवाच— कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशाश्च ते ।

वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः ॥

श्रीभगवानुवाच— 'शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः ।

स्थितं मां मन्त्रतस्तस्मिन्नर्चयेत् सुसमाहितः ॥

वैष्णव-आगमिक परम्परा के अनुसार आगम तीन प्रकार के हैं— (१) निगम, (२) तान्त्रिक तथा (३) मिश्र। वैखानसागम निगम तथा भागवत-मिश्र है।^१ वैखानस-शाखा को निगम तथा पाञ्चरात्र को आगम की संज्ञा दी गयी है।^२ वैखानस-आगम को वैदिक तथा पाञ्चरात्र को तान्त्रिक होना कहा है।^३ वैखानस की वैदिकता तथा पाञ्चरात्रागम की तान्त्रिकता, वस्तुतः इन दोनों आगम-साहित्य के आलोडन से भी स्पष्ट ही ज्ञात होती है। सामान्य रूप से वैखानस-आगम-संहिता-ग्रन्थों में उन तान्त्रिक विषयों का वर्णन नहीं देखाई देता, जो पाञ्चरात्रागम के प्रायः प्रत्येक संहिता-ग्रन्थ में वर्णित हैं।

पाञ्चरात्र-आगम में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ बहुत सारे 'हुम्', 'फट्' आदि युक्त तान्त्रिक मन्त्रों के प्रयोग विहित हैं। मुद्रा-कल्पन-प्रकार, उसका विविध अवसरों पर प्रयोग, दीक्षा का विस्तृत वर्णन, मण्डल-कल्पन तथा अर्चन-प्रक्रिया, मारण, मोहन, उच्चाटनादि शुद्ध रूप से तान्त्रिक विषयों का विवेचन प्रायः सभी पाञ्चरात्र-संहिताओं में उपलब्ध है। इस प्रतिपादन क्रम के विपरीत वैखानसागम-संहिता-ग्रन्थों में मुख्य रूप से केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग निर्दिष्ट है। वैखानस-आगम की किसी भी संहिता में पाञ्चरात्रागम की तरह मुद्रा, तान्त्रिक मन्त्र-दीक्षा तथा मारण-मोहन-उच्चाटनादि का निर्देश नहीं प्राप्त होता। पाञ्चरात्रागम का तान्त्रिक तथा वैखानसागम का वैदिक आगम होना कई वैखानसागम-संहिता ग्रन्थों में स्पष्ट निर्दिष्ट है।^४



विष्णुश्च पुरुषं सत्यमच्युतञ्च युधिष्ठिरः। अनिरुद्धं मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः॥

अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः। वासुदेवश्च राजेन्द्र संकर्षणमथापि च ॥

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च चतुर्भूतिं प्रचक्षते। -महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ९२.

१. निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः।

निगमो विखनः प्रोक्तः मिश्रो भागवतः स्मृतः ॥-आनन्दसंहिता ८/२३.

२. वैखानसं हि निगमः पाञ्चरात्रं तथागमः।-आनन्दसंहिता ९/५.

३. वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात्।-आनन्दसंहिता १३/१

४. विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि। सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम् ॥
सौम्याग्नेये तथा प्रोक्ते शास्त्रे वैदिकतान्त्रिके।-खिलाधिकार ४१/१-२.

प्रथम भाग

- प्रथम अध्याय - वैखानस आगम का परिचय
द्वितीय अध्याय - तत्त्वदर्शन
(क) ब्रह्मतत्त्व
(ख) सृष्टि-प्रक्रिया
तृतीय अध्याय - मन्त्र-विचार
चतुर्थ अध्याय - योग तथा नाडीचक्र

प्रथम अध्याय वैखानस आगम का परिचय

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं “महर्षीणां भृगुरहं” अर्थात् मुनियों में मैं भृगु हूँ।^१ वैखानस-आगम का जो साहित्य आज उपलब्ध है उसमें सर्वाधिक भृगु-प्रोक्त है। सर्वत्र महाभाग भृगु द्वारा कहे गए वैखानस-शास्त्र को आर्ष भगवच्छास्त्र कहा है। मुद्रित तथा अमुद्रित वैखानसागम-ग्रन्थों की अध्यायान्त पुष्पिकाओं में भगवच्छास्त्र का ही प्रयोग है। उदाहरणार्थ—
इत्यार्षे श्रीवैखानसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां खिलाधिकारे नाम
.....। इसी प्रकार के और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।^२

महर्षि मरीचि के शब्दों में वैखानस की महत्ता अधोलिखित है—

वैखानसं महाशास्त्रं सर्ववेदेषूद्धृतं सर्ववेदार्थसारभूतं
अप्रतर्क्यमनिन्दितं वैदिकैरुपसेवितं विष्णोराराधनं
सर्वभूतहितार्थाय शाब्दं प्रमाणमवलम्ब्य विष्णुना विखनस
उक्तम्। विखनसा भृगवादीनामुक्तम्।^३

वैखानस-आगम वैखानस-सूत्रमूलक है। वैखानस वैष्णव के सारे संस्कार तथा धार्मिक कृत्य एवं गृह विधान वैखानस-सूत्रों और शास्त्रों के आधार पर विहित होते हैं। श्रीनिवासमखी ने वैखानसगृह्यसूत्र के सूत्रतात्पर्य-चिन्तामणि व्याख्या में वैखानस धर्मग्रन्थों तथा परम्पराओं के अनुसार दशविधहेतुनिरूपण दिया है, जो निम्नवत् है—

१. अखिलजगत्कारणभूतेन विखनसा प्रणीतत्वात् अर्थात्, यह धर्म-ग्रन्थ सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा दिखनस् के अनुसार प्रणीत है।

१. गीता, अध्याय १०, श्लोक २५.

२. क. खिलाधिकार, अध्यायान्तपुष्पिका;

ख. क्रियाधिकार अध्यायान्तपुष्पिका.

३. विमानार्चनकल्प, पटल १०१.

२. सर्वसूत्राणामादिमत्त्वात्, अर्थात् वैखानसों के धर्मग्रन्थ सर्वप्रथम रचित सूत्र हैं जो कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं।

३. प्रधानादिकर्मसु श्रुतिमार्गानुसारित्वात्, वैखानस शास्त्र कर्मों में श्रुति मार्ग का अनुसरण करते हैं। अर्थात् सभी क्रिया तथा अनुष्ठानों में, यहाँ तक कि आचमन में भी श्रुति मन्त्रों का विनियोग करते हैं।

४. समन्त्रकसर्वक्रियात्वात्, सभी क्रियाएँ तथा अनुष्ठान निश्चित रूप से वैदिक मन्त्रों के द्वारा सम्पादित होते हैं।

५. निषेकादिसंस्कारत्वात्, जन्म से मरण तक के सभी संस्कार वैदिक मन्त्रों द्वारा ही सम्पादित होते हैं।

६. अष्टादशशरीरसंस्कारात्मत्वात्, वैखानस धर्म-ग्रन्थ मानसिक तथा शारीरिक शुद्धि के लिए अठारह संस्कारों का निर्देश करते हैं।

७. साङ्गक्रियाकलापत्वात्, वैखानस कल्पसूत्र पूर्णरूपेण सभी क्रियाकलापों का वर्णन करते हैं। ये किसी अन्य सूत्र की अपेक्षा नहीं रखते।

८. मन्वाद्यैः स्वीकृतत्वात्, मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा भी वैखानस शास्त्र (कल्पसूत्र) की मान्यता रही है।

९. अखिलजगदेककारणभूतश्रीनारायणैकपरत्वात्, ये वैखानस जगत् के मुख्य कारण श्रीनारायण की पूजा के प्रति समर्पित हैं।

१०. तत्सूत्रोक्तधर्मानुष्ठानवतामेव भगवत्प्रियतमत्वोपपत्तेश्च, नारायण ने स्वयं कहा है कि वैखानस मेरे अत्यन्त प्रिय हैं।^१

वैखानस आगम का अपना वैशिष्ट्य है कि यह आगम और निगम की शृङ्खला को जोड़ने वाली पहली कड़ी है तथा वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत तृतीय वानप्रस्थ आश्रम से इसका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है। प्रो० जे० गोण्डा का मानना है कि पाञ्चरात्र-मतानुयायियों की भाँति वैखानस-मतावलम्बियों ने तमिल भाषा का प्रयोग नहीं किया है। ये विशुद्ध रूप से संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। स्त्री तथा शूद्रों को भी यहाँ वह स्थान

१. श्रीवैखानसगृह्यसूत्रम्, श्रीसूत्रतात्पर्यचिन्तामण्याख्यया व्याख्यया, श्री रों. पार्थसारथिभट्टाचार्यैः, तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति, सन् १९९७, पृष्ठ २.

प्राप्त नहीं हुआ, जो कि पाञ्चरात्र आगम में तमिल आलवारों के माध्यम से उनको मिला था। अत्रि, मरीचि, भृगु और काश्यप के ग्रन्थों को वे ३-४ शताब्दी की रचना मानते हैं, जबकि त्रिरत्न के नाम से प्रख्यात सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य पाञ्चरात्रसंहिताओं का काल इसके बाद का माना जाता है।^१

ऐसा प्रतीत होता है कि आगम की जटिल विधाओं के आरम्भ होने से पूर्व ही विष्णु की पूजा का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हो गया था। वैदिक साहित्य में 'मुनि' तथा 'वातरशना' नामक ऋषियों का उल्लेख मिलता है। ये ऋषि प्रायः जंगलों में रहते थे। कन्द-मूल-फलादि खाकर जीवन का निर्वाह करते थे। उत्तरवैदिक काल में इन्हींको वैखानस कहा गया।^२ वैखानस लोग वैदिक काल में ही इन्द्र के प्रिय लोग माने जाते थे।^३

विद्वानों ने इसे वानप्रस्थ अवस्था माना है। बिना विवाह किया हुआ व्यक्ति भी, जिसने वेदादि का अध्ययन किया हो, इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी है।^४ महर्षि सौभरि ने सुखमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था तथा वैखानस व्रत लिया था।^५

इस स्थल पर वैखानस शब्द का प्रयोग वानप्रस्थ व्रतधारी के क्रिया-कलापों के अर्थ में है। कालिदास ने भी कण्व के आश्रम में शमप्रधान तपोधन साधुओं के आदर्श का वर्णन किया है। ज्ञात होता है कि कण्व का आश्रम भी वैखानसों के आदर्श पर ही संगठित था।^६ भवभूति ने तपोवनों में वृक्षों

१. मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत, पृष्ठ १४२.

२. अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा। फलमूलाशनैर्दानैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः।

ऋषिभिर्बालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः। अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।

—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ५१/२६-२८.

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत् सदा। कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः॥

—मनुस्मृति, ६/२१.

मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः। वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः॥

—शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व, २४४/१३-१४.

३. वैखानसा वा ऋषया इन्द्रस्य प्रिया आसन्, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, १४/४/७.

४. विष्णुपुराण, ३/१०/१५.

५. विष्णुपुराण, ४/२/१३०.

६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/२९ टीका श्रीनिवासाचार्य

के नीचे रहने वाले वृद्ध गृहस्थों को, जो शम-धर्म का पालन करते थे, वैखानस कहा है।^१ इसीलिए उसमें स्त्रियों के भी एक साथ रहने की सुविधा थी। वशिष्ठ, पृथु, मान्धाता और जनक के जीवन वैखानसों के आदर्श थे।^२

वैखानस शब्द की निष्पत्ति 'खन्' धातु से भी मानते हैं, जिसका अर्थ गहराई तक खोदना होता है। अर्थात् 'गूढार्थ-प्रकाशन' के लिए आत्मनिरीक्षण करने वाले महर्षि का नाम विखनस माना गया है।^३ श्रीमद्भागवतपुराण के गोपीगीत में विखनस का नाम अत्यन्त श्रद्धा के साथ लिया गया है। यहाँ विखनस शब्द का अर्थ ब्रह्मा है, या इस नाम से एक मुनि को ही विखनस कहा है।^४ आनन्दसंहिता के अनुसार मुनि विखनस ने जो ब्रह्मा थे, वैखानस सूत्रों की रचना की। यह वैखानससूत्र यजुर्वेद की एक शाखा के अनुसार था तथा इसने विष्णु की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया था।^५

सभ्यता के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद,^६ शुक्लयजुर्वेद,^७ सामब्राह्मण (ताण्ड्यब्राह्मण)^८ तथा तैत्तिरीयसंहिता^९ में वैखानस ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन स्थलों में इनके सिद्धान्तों के साथ-साथ इनके जीवन-वृत्त के विषय में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सायणाचार्य ने 'वेदार्थप्रकाश' में तथा "पदार्थवृत्ति" की टीका में, भरतस्वामी ने "वैखानसाः शतसंख्याका मन्त्रदृश ऋषयः" ऐसा अर्थ किया है।^{१०} आधुनिक व्याख्याकार आचार्य

१. उत्तररामचरितम्, १/२५.

२. समूर्तार्चनाधिकरण ६४/४. श्रीमद्भागवतपुराण ४/२३/४.

३. खनित्वा चात्मनात्मानं धर्मादिगुणसंयुतम्। ध्यानमाविश्य योगेन ह्यासीद् विखनसो मुनिः॥ विशेषेण खनेद्यस्माद् भावनान् मुनिसृष्टये। नाम्ना विखनसो लोके स आसीदण्डजप्रियः॥

—समूर्तार्चनाधिकरण, भूमिका, पृष्ठ १९.

४. श्रीमद्भागवतपुराण, १०/३१/४.

५. आदिकाले तु भगवान् ब्रह्मा तु विखना मुनिः।

यजुःशाखानुसारेण चक्रे सूत्रं महत्तरम्॥

वर्णाश्रमाचारयुतं श्रौतस्मार्तसमन्वितम्।, विमानार्चनकल्प, पृष्ठ ३-४.

६. ऋग्वेद, ८/७०/३ एवं ९/६६.

७. शुक्लयजुर्वेद, ८/३८.

८. ताण्ड्यब्राह्मण, १४/४/७, १४/८/२८.

९. तैत्तिरीयसंहिता, ७/१/४/३.

१०. सामविधानब्राह्मण, १ प्रपा०, अनुवाक १-७.

विनोबा भावे का कहना है—“शतं वैखानस कोई एक ऋषि नहीं है। इसका अर्थ यह है कि एक मुख्य मनुष्य होगा, वह सूक्त बनाता होगा। शेष बैठते होंगे, चर्चा होगी, अर्थ होता होगा, आवश्यक पाठ होता होगा—सामूहिक सूक्त बनता होगा सब ऋषियों की मदद से। प्रतीत होता है, प्राचीन काल में ऋषियों ने सामूहिक साधना की होगी। सौ तपस्वियों ने मिलकर सूक्त बनाया। २५-३० मन्त्रों का सूक्त है। वैसा ही वेद में तीन मन्त्रों का भी एक सूक्त है। इन तीन मन्त्रों के ऋषि हैं, “सहस्रं वसुरोचषिः”। ऋषि द्रष्टा माने जाते हैं। लेकिन तीन मन्त्रों के हजार लेखक कैसे हो सकते हैं? सोचते हुए लगता है कि कोई एक निमित्तमात्र लेखक होगा। उसे वे महत्त्व नहीं देते थे। लेकिन जो दर्शन होता था, वह सामूहिक ही होता था। अवश्य ही सामूहिक साधना से वह दर्शन एक मनुष्य में प्रकट होता था, फिर भी वह एक का दर्शन न होकर उन सबका था, जिन्होंने मिलकर तपस्या की।

“प्राचीन पुराणों में ऋषियों की तपस्या का जिक्र आता है, अमुक ऋषि ने हजार उपवास किए। उस वक्त मैंने एक विचार रखा था कि मान लीजिए, गांधीजी ने २१ दिन उपवास किए और हजार लोगों ने उनके साथ उपवास किए तो पुरानी भाषा में कहा जाएगा कि गांधी जी ने २१,००० उपवास किए। १००० लोगों ने सामूहिक उपवास किए और जिसकी प्रेरणा से किए, उसका नाम लिया जाएगा।

“अमुक ऋषि ने १००० उपवास किए, ऐसा हम पढ़ते हैं, तो हमको बड़ा अजीब लगता है। किन्तु, उसका तात्पर्य यह कि जिस ऋषि की प्रेरणा से उपवास किए गये, उसके नाम पर सारे उपवास माने गए। यह भाष्य मुझे उस वक्त सूझा, तब तक यही मानता था कि पुराने लोगों को बड़े-बड़े आँकड़े सुनाने की आदत है, वह हमारे उपयोग की बात नहीं। लेकिन फिर ध्यान में आया कि ये सामूहिक उपासना के चिह्न हैं। शतं वैखानस ऋषि बोल रहे हैं—“वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय” (९.३.१०)—हे भगवन्! हमने तेरा वरण किया है, ताकि हम लोगों में आपस में सख्य हों, मेल हो, योग हो।

“यह सामूहिक साधना का निर्देश लगता है। सौ ऋषियों ने मिलकर तपस्या की है, उस साधना में उनको इस मन्त्र का दर्शन हुआ। इसमें भगवान् से जो प्रार्थना की है, वह एक के लिए नहीं समूह के लिए है।

व्यक्तिगत साधना के दिन बीत गए। अब समूहरूपेण प्रभुचरणों में पहुँचना है। आपस-आपस में सख्य न हो, योग न हो, तो हम प्रभु को कैसे पा सकेंगे? इसलिए ‘शतं वैखानस’ की यह प्रार्थना है।”^१

ध्यातव्य है कि बौद्ध श्रमणों की भाँति वैखानसों ने केवल संन्यास आश्रमों के नियमों का ही निर्धारण नहीं किया, बल्कि उन्होंने गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों का निर्माण किया जिसमें गृहस्थ तथा समाज के धर्म का विस्तृत प्रतिपादन है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही ये लोग वानप्रस्थ में जाते थे, जो कालान्तर में इनके नाम का उपलक्षण बन गया। यह एक प्रक्रिया थी, जहाँ तक सामूहिक प्रार्थना का प्रश्न है, वेदों में एक व्यक्ति समूह के लिए प्रार्थना करता है और ऋषि-आश्रमों में गुरु-शिष्य के साथ प्रार्थना करने की परम्परा का उल्लेख मिलता है। सामूहिक-प्रार्थना-परम्परा का कोई ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त होता।

वैखानस एक ऋषि विशेष थे जो ‘व्यपोहिनी’ नामक यज्ञ संस्कार की दीक्षा लेकर उत्पन्न हुए थे।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि व्यपोहिनी संस्कार का अभिप्राय अपनी बुराईयों को प्रकट कर देना है, जिससे उनका गाम्भीर्य समाप्त हो जाय। ‘व्यपोह’ शब्द संस्कृत कोशों में उपलब्ध होता है।^३ खन् धातु से निष्पन्न व्युत्पत्ति भी इसी अभिप्राय का द्योतन करती है, क्योंकि खन् का अर्थ खनन है। इस क्रिया से मिट्टी भीतर से बाहर निकालकर फेंकी जाती है। अतः यह अभिप्राय प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में माना जाना अयुक्तियुक्त नहीं है। कादम्बरी में महर्षि जाबालि ने वैखानसों की एक

१. विनोबा साहित्य, भाग १, वेद-चिन्तन, परंधाम प्रकाशन, ग्राम सेवा मण्डल, पवनार, वर्धा, १९९३, पृष्ठ १७५-७६.

२. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश, पं० सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, भारतीय चरित्रकोश मण्डल, पूना-४, वर्ष १९६४, पृष्ठ ९०८.

३. संस्कृत हिन्दी कोश, डा० वी० आटे, पृष्ठ - ९८५.

विशेषता 'अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्' अर्थात् अनाथ-परिपालन बतलाया है।

बौद्धों के मज्झिमनिकाय में 'वेखणससूत्त' उपलब्ध है। यहाँ वेखणस (वैखानस) तथा बौद्ध का ज्ञान विषयक संवाद होता है।^१ बौद्ध धर्म के प्रचार के समय हिन्दूओं के विभिन्न प्रचलित मतों में वैखानस का महत्त्व अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय परम्पराओं के मानने के कारण इनका बुद्ध से शास्त्रार्थ होना प्राप्त होता है। इन पंक्तियों के लेखक को परम्परागत लोकप्रसिद्धि तथा स्थलपुराण के आधार पर यह पता चला है कि चित्रकूट धाम तीर्थ के निकट एक सूर्यकुण्ड है। यहाँ एक वैखानस ऋषि पैदा हुए थे। मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर सूर्यदेव प्रकट हुए तथा वैखानस ऋषि को अभीष्ट वर दिया। आज भी तीर्थयात्री इस सूर्यकुण्ड में स्नानादि करके पुण्य के भागी होते हैं। कूर्मपुराण में भी यह प्रतिपादित है कि वैखानस लोग सूर्य के उपासक थे।^२

पाञ्चरात्रागम के प्राचीन ग्रन्थ जयाख्यसंहिता में वैखानस का लक्षण निरूपित करते हुए बताया गया है कि परिग्रहवान् विप्र जो परमेश्वरपूजन में रत रहता है, उसे वैखानस वैष्णव कहा जाता है। यह द्विजों, क्षत्रियों अथवा वैश्यों से याचित या अयाचित धन प्राप्त कर कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है।^३ सर्वलक्षणकार ने इनके कार्य का निर्देश करते हुए कहा गया है कि ये स्वयं उद्धृत वनौषधियों से गाँव के बाहर रहकर अग्निहोत्रादि करते हैं।^४

सीतोपनिषद् में वैखानस का अर्थ 'मतविशेष' है।^५ नारदपरिव्राजकोपनिषद् का मानना है कि वैखानस ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों में अन्यतम आश्रम है।^६ आश्रमोपनिषद् का उद्घोष है कि वैखानस वानप्रस्थ का पर्यायवाची है।^७

१. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, अनुवादक, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, द्वि० सं० १९६४, पृष्ठ ३२६.

२. "वैखानसानामर्कः स्याद् यतीनां च महेश्वरः"। कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध २१/४५.

३. जयाख्यसंहिता - २२/१३-१४.

४. "अकृष्टपच्यौषधीभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निहोत्रादि कुर्वन्"। सर्वलक्षणसंग्रह, भिक्षुगौरीशंकर, रामघाट, काशी, च० सं०, संवत् १९९४, पृ० १२८.

५. सीतोपनिषद्, ३१/२९.

६. नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ३/२/२३.

७. आश्रमोपनिषद्, ३.

कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाएँ उपलब्ध हैं—आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन तथा औखेय। इनमें वर्णित अन्तिम शाखा 'औखेय' का सम्बन्ध वैखानसों से प्रतीत होता है, जैसा कि वैखानस श्रौतसूत्र के वेंकटेश भाष्य से स्पष्ट है।^१ डॉ० वी० वरदाचारी ने वेदों के मन्त्रों का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विखनस ऋषि ने विष्णु की पूजा का प्रारम्भ किया था।^२ प्रथम उद्धरण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५५ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र का है, जिसमें वीर तथा विष्णु को साम समर्पित करने का उल्लेख है।^३ विमानार्चनकल्प में इस बात का उल्लेख है कि सोम का एक नाम वैखानस भी था, जो 'दशरात्र यज्ञ' में सातवें दिन प्रयोग में लाया जाता था। बौधायन श्रौतसूत्र का कहना है "बृहदुतरे वैखानसं पूर्वेऽह्नि साम भवति"।^४ बृहदेवता में कहा गया है कि चूँकि इस विश्व को पार्थिव, अर्थात् पृथ्वी पर विद्यमान अग्नि पवित्र करती है, अतः वैखानस ऋषियों ने इसको पवमान कहकर स्तुति की है।^५

बौधायन धर्मसूत्र में अत्यन्त विस्तार के साथ वैखानसों के भेद-उपभेद का चित्रण किया गया है।^६ गौतमधर्मसूत्र^७ वशिष्ठधर्मसूत्र^८ में वानप्रस्थ यतियों के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया गया है।

महर्षि यास्क ने "विखननाद् वैखानसाः" ऐसी निरुक्ति की है।^९ इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि ये लोग सामाजिक बुराईयों का उत्खनन कर

१. येन वेदार्थविज्ञेन लोकानुग्रहकाम्यया। प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥ उद्धृत, भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६७३.

२. आगमाज्ज एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, प्रो० एम० रङ्गाचार्य मेमोरियल ट्रस्ट, ट्रिप्लीचेन, मद्रास, १९८२, पृष्ठ ८१.

३. प्रवः पावन्तमन्धसो धियायते। महे शूराय विष्णवे चार्चता। - ऋग्वेद, १/१५५/१.

४. क. वैखानसं पूर्वं इह साम भवति, ऊहे दशरात्रे सप्तमेऽह्नि। विमानार्चनकल्प, भूमिका, पृष्ठ २. ख. बौधायनश्रौतसूत्र, १६/२४/८.

५. पुनाति यदिदं विश्वमेवाग्निः पार्थिवोऽथ च। वैखानसर्षिभिस्तेन पवमान इति स्तुतः।

—बृहदेवता, २/२९.

६. बौधायनधर्मसूत्र, १/११/४/१६.

७. गौतमधर्मसूत्र, ३/३५.

८. वशिष्ठधर्मसूत्र, ९/१०.

९. निरुक्त, ३/१७.

बुद्धिजीवियों का ध्यान उधर आकर्षित करते थे, जिससे उन्हें दूर किया जा सके। पण्डितरत्न तर्कार्णव उत्तामूर वीरराघवाचार्य ने “विशेषेण खननाद् गम्भीरार्थोद्धरणाद् विशिष्टवैष्णवधर्माधारणैकमीमांसनविशेषाद् विखना इति विखनस इति चोच्यते इति ज्ञायते।” यह परिभाषा वैष्णवधर्मावधारणा की दृष्टि से वैखानसविजय में की है।^१ जैमिनीयब्राह्मण में वैखानस का उल्लेख प्राप्त है।^२ वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में वैखानस आगम का प्रामाण्य-स्थापन बहुत शक्तिशाली ढंग से किया है।^३

आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण के किष्किन्धाकाण्ड में तीन स्थलों में वैखानस का वर्णन उपलब्ध है। इन स्थलों के अनुशीलन से वैखानस वन में निवास करने वाले तपःशील ऋषियों का नाम था।^४ महाभारत के वनपर्व^५ तथा शान्तिपर्व में वैखानसों की चर्चा हुई है। इन स्थलों में भी सामान्यतः वैखानस को ऋषि-विशेष के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है।^६ मत्स्यपुराण,^७ ब्रह्माण्डपुराण^८ के स्थलों में वैखानस चार आश्रमों में अन्यतम तृतीय आश्रम का बोधक है। श्रीमद्भागवतमहापुराण में वैखानस का ऋषि-विशेष के रूप में निर्देश है।^९ देवीभागवत में वैखानसों को मिताहारी और जितव्रत कहा गया है।^{१०} देवीपुराण में भी वैखानस की चर्चा प्राप्त होती है।^{११} सन्त तुलसीदास कहते हैं कि “वैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु विहाई जेहि भावइ भोगू।”^{१२}

१. लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन, डॉ० अशोककुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ, १९७७, पृष्ठ १४.
२. वैखानसं च प्राकर्षम्। - जैमिनीय ब्राह्मण, ३/२१, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, प्र०सं० १९६७, पृष्ठ २०.
३. न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ १६९.
४. वा०रा०कि० काण्ड, ५०, ३१, ३३.
५. महाभारत, वनपर्व, ९/१६, ११४/१५, ४५/८.
६. शान्तिपर्व, २०/६, २६/६.
७. मत्स्यपुराण, २४/५०/५.
८. ब्रह्माण्डपुराण, १/२/२७ तथा २/३२/३५.
९. श्रीमद्भागवतमहापुराण, ३/११/४३.
१०. देवीभागवतपुराण, १/१९/१८.
११. वैखानसा महाभागा द्विजा वैहायसाश्च ये। सप्तर्षयः सदाराश्च ध्रुवस्थानानि यानि च॥ - देवीपुराण, ६७/४६.
१२. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड । दोहा संख्या १७२ के पश्चात्

सन्त तुलसी का कहना है कि वह वैखानस सोचने योग्य है जो तपस्या का त्याग कर भोग की ओर उन्मुख होता है। वामनपुराण में वैखानसों का वर्णन उपलब्ध है।^१ वाङ्मयार्णव में वैखानस को दो भेदों में विभाजित कर वानप्रस्थ और वैखानस ऋषि माना है। वैखानसों के उपभेद—वप्र तथा साम है, जो विष्णु के पर्यायवाची है।^२ मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने 'वैखानसो वानप्रस्थः, तद्धर्मप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः'^३ कहकर यह बताया है कि वैखानसों का अपना एक आदर्श सिद्धान्त था। महर्षि भृगु के प्रकीर्णाधिकार में वैखानस अत्यन्त पावनशास्त्र के रूप में निरूपित है।^४

परम्परा के अनुसार विखनस् ने 'दैविकसूत्रम्' की रचना की थी, जिसे भृगु, मरीचि, अत्रि और कश्यप ने संक्षिप्त करके 'भगवच्छास्त्रम्' नामक चतुर्लक्ष-ग्रन्थात्मक रचना का निर्माण किया। वैखानस वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध जन आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक तथा तमिलनाडु प्रदेशों के शहरों तथा गाँवों में पाए जाते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग उक्त तीनों प्रदेशों में बसे रहने के बावजूद परस्पर समान रीतिरिवाजों तथा परम्पराओं से बँधे हुए हैं। वैखानस वैष्णव श्रीवैष्णवों से भिन्न अपनी अलग पहचान रखते हैं। ये वैखानस वैष्णव आचार्य रामानुज को अथवा आलवार सन्तों को अपनी गुरु-परम्परा में नहीं स्वीकार करते। मन्दिरों में इनकी अर्चा भी नहीं करते हैं, न तमिल प्रबन्धों का पाठ ही करते हैं।

वैखानसों के अपने श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैखानसों का अपना ब्राह्मण भाग भी था।^५ महाभारत के अनुसार वैखानस भगवान् विष्णु का एक नाम है।^६ वैखानस ग्रन्थ के अनुसार इनकी परिभाषा अधोलिखित है—

१. वामनपुराण, १४/१२०.
२. वाङ्मयार्णवः, पं० रामावतारशर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी संवत् २०२४, ५६८९-९०.
३. मनुस्मृतिटीका, ६/२१.
४. अग्निवैखानसं शास्त्रं विष्णुर्वेदाश्च शाश्वताः। गायत्री वैष्णवा विप्राः सप्तैते बहुपावनाः॥ - प्रकीर्णाधिकार, ३०/७९.
५. आनन्दसंहिता, १/७८.
६. महाभारत, शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व, ३३८/११७.

विहङ्गरूपो भगवान् यां वाचमसृजद्विभुः ।
तां वाचमखनद् ब्रह्मा तस्माद्विखनसो मुनिः ।
नाम्ना विखनसं प्राहुः यं च वैखानसं तथा ॥^१

अर्थात् विहङ्गरूपी भगवान् जिस वाणी का सर्वत्र विस्तार करते हैं, उस वाणी का ब्रह्मा के द्वारा खनन किया गया, उसकी लोक में विखनस मुनि (ब्रह्मा) के द्वारा स्थापना की गयी, उसे ही वैखानस कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से वैखानसों का जो परिचय प्राप्त होता है, तदनुसार ब्रह्मा द्वारा उद्भावित तथा विष्णु से प्रवर्तित सृष्टि से प्रारम्भ से ही वैखानसों की सत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। कालक्रम से इनके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। आज वैखानसों का जो स्वरूप मौजूद है, वह कैसे हुआ, इस तथ्य पर विचारोपरान्त अनुमान कर सकते हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था में आस्थावान् लोग तृतीय आश्रम वानप्रस्थ में वैखानस के रूप में सपत्नीक समूर्ताराधन में रत थे। यह समूर्त आराधन तप के साथ-साथ चलती रही होगी। काल की चाल के साथ आश्रम-व्यवस्था में कमजोरी एवं परिवर्तन के फलस्वरूप प्राचीन काल से चले आ रहे वैखानसों के धार्मिक क्रिया-कलापों में बदलाव आया होगा और उत्तर काल में मन्दिर-मूर्ति-आराधन तथा गृह-मूर्ति-आराधन के रूप में उस परम्परा को मोड़ा गया होगा। वही प्राचीन वैखानस-परम्परा का बदला हुआ स्वरूप हमारे समक्ष आज वैखानस सम्प्रदाय के रूप में उपलब्ध है।

वैखानस आगम-साहित्य

आगमशास्त्र के अन्तर्गत एक विस्तृत क्षेत्र आता है, जिनके ग्रन्थों की अपरिमित सम्पत्ति भारत के विभिन्न भागों में सुरक्षित, प्रचलित तथा परम्परा के कार्यरूप में सम्पन्न होकर अवस्थित है। वैखानसागम के साहित्य की चर्चा के प्रसंग में इस आगम के विविध ग्रन्थों से प्राप्त वैखानसागम ग्रन्थों की सूचियों की विवेचना के आधार पर विस्तृत समीक्षा कर डॉ० राघवप्रसाद चौधरी महोदय ने निष्कर्ष रूप से कुल साठ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें

१. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध-क, अध्याय ३/५-६.

पूर्ण या अपूर्ण रूप में उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या सत्रह है। इन सत्रह ग्रन्थों में मुद्रित आठ पूर्ण हैं तथा दो अमुद्रित ग्रन्थ प्रायः पूर्ण हैं। अवशिष्ट सात अमुद्रित ग्रन्थों के केवल कुछ अंश उपलब्ध हैं।^१

“विखनाश्च विरिञ्चिनः” वैयासिक निघण्टु के अनुसार वैखानस आगम विखनस से प्रवर्तित था। यह आगम वैखानसधर्मसूत्र का अनुसरण करता है, यह निर्विवाद सत्य है।^२ वैखानस आगम का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि विखनस के शिष्यों ने इस आगमशास्त्र का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था और अलग-अलग वैखानसागम ग्रन्थों की रचना भी की थी। विखनस के नव शिष्यों का उल्लेख मिलता है—कश्यप, अत्रि, मरीचि, वशिष्ठ, अंगिरा, भृगु, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु।^३ ऋषि के नव शिष्यों में चार ने ही वैखानसशास्त्रों की रचना की थीं, जिनके नाम हैं—अत्रि, भृगु, कश्यप तथा मरीचि।^४ ये ऋषिगण अत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। स्थलमाहात्म्य के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि इन (ऋषियों) के आश्रम उत्तरभारत में ही स्थित थे। अस्तु वैखानस आगम ग्रन्थों की रचना उत्तरभारत में ही हुई थी। यह विलक्षण बात है कि आज इसके अनुयायी उत्तर-भारत में नहीं हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि वैखानस जन कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय औखेय शाखा से सम्बद्ध हैं और इनके देवालय भी ज्यादातर दक्षिण में ही हैं, जिनका संचालन वैखानस विधान से सम्पन्न होता है।

वैखानस-आगम के ग्रन्थ गद्य तथा पद्य उभयरूप में प्राप्त हैं। इन आगम-ग्रन्थों के देखने से यह कहा जा सकता है कि जीवन से सम्बद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। महर्षि अत्रि ने तन्त्रात्मक, मरीचि ने संहितात्मक, कश्यप ने काण्डात्मक तथा

१. संस्कृतवाङ्मय का वृहद् इतिहास, तन्त्रागम, एकादश खण्ड, सम्पादक, प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, निबन्ध डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९७९, पृष्ठ ३६.

२. विमानार्चनकल्प, पटल, १०१; आनन्दसंहिता, १७/४९.

३. काश्यपोऽत्रिर्मरीचिश्च वशिष्ठोऽङ्गिरसो ह्यहम्। पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्च नवसंख्यकाः॥ एते विखनसः शिष्या लोकानुग्रहकारिणः। - विमानार्चनकल्प, भूमिका, पृष्ठ ५.

४. विमानार्चनकल्प, पटल १०१; यज्ञाधिकार, ५१/१३.

भृगु ने अधिकारात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वैखानस आगम ग्रन्थ चार नामों में देखे जा सकते हैं।^१ इस आगम-वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित है—

१. विमानार्चनकल्प

मुनि मरीचि द्वारा प्रोक्त यह ग्रन्थ गद्य रूप में प्राप्त है। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री ब०र०च० भट्टाचार्य सेतुमाधवाचार्य, देवनागरी लिपि में चेन्नपुरी मद्रास से १९२६ में किया था।

२. आनन्दसंहिता

यह संहिता भी मुनि मरीचि द्वारा ही प्रणीत है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तेलगुलिपि में ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) से सन् १९२४ में हुआ था।

३. समूर्तार्चनाधिकरण

इस ग्रन्थ के प्रणेता महर्षि अत्रि हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९४३ ई० में हुआ। सम्पादक पं० रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य हैं। यह ग्रन्थ ८३ अध्यायों में विभक्त श्लोकात्मक है।

४. कश्यपज्ञानकाण्डम्

ऋषि कश्यप द्वारा प्रोक्त यह ग्रन्थ गद्यात्मक रूप में प्राप्त है। श्री आर० पार्थसारथि द्वारा सम्पादित, तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९४८ में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ १०८ अध्यायों में विभाजित है।

५. क्रियाधिकार

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९५३ ई० में प्रकाशित महर्षि भृगु की रचना है।

६. खिलाधिकार

महर्षि भृगु द्वारा विरचित है। सन् १९६३ ई० में तिरुमल तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति द्वारा देवनागरी लिपि में प्रकाशित है।

१. वैष्णवागमविमर्शः, पृष्ठ १६, पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९७.

७. यज्ञाधिकार

यह महर्षि भृगु द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री डी०डी० रंगाचारी द्वारा तेलगु भाषा में हुआ। हिन्दू रत्नाकर प्रेस, मद्रास द्वारा १९३० ई० में प्रकाशित है।

८. प्रकीर्णाधिकार

यह ग्रन्थ भृगु मुनि द्वारा प्रोक्त है। प्रकाशक है शैलेन्द्रनाथ एण्ड सन्स, मैलापुरम्, मद्रास। १९२९ में तेलगु भाषा में मुद्रित है।

९. आदिसंहिता

मातृका रूप में अप्रकाशितरूपेण मुनि मरीचि की रचना है। इसकी मातृका तिरुपति में श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास है।

१०. भृगुसंहिता

अप्रकाशित मातृका मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास तथा वेंकटेश्वर प्राच्य शोध संस्थान, तिरुपति में सुरक्षित यह प्रायः पूर्ण ग्रन्थ है। महर्षि भृगु रचयिता हैं।

इन मातृकाओं के अतिरिक्त और भी अपूर्ण ग्रन्थ मातृका रूप में उपलब्ध हैं—

११. अर्चाधिकार

महर्षि भृगु द्वारा प्रोक्त तिरुपति में पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास सुरक्षित है।

१२. वासाधिकार

इसकी मातृका तिरुपति में आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास रक्षित है। यह मुनि भृगु की रचना है।

१३. निरुक्ताधिकार

यह भृगु द्वारा विरचित है। इसकी मातृका आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास तिरुपति में उपलब्ध है।

१४. मानाधिकार

मातृका आंशिक रूप में उपलब्ध भृगु की रचना है।

१५. चित्राधिकार

इसके रचनाकार भी भृगु हैं। मातृका आंशिक रूप में प्राप्त है।

१६. वर्णाधिकार

मातृकारूप उपलब्ध, भृगु की रचना, अपूर्ण है।

१७. पुरातन्त्रम्

आंशिक रूप में मातृका उपलब्ध है, रचना भृगु मुनि की है। इन ग्रन्थों का उल्लेख विमानार्चनकल्प में है।^१

इस साहित्य के अतिरिक्त टीका-व्याख्या पद्धति के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१. प्रतिष्ठाविधिदर्पणम्

इस ग्रन्थ के रचनाकार श्रीनरसिंह वाजपेय हैं। श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित तेलगु लिपि में मद्रास से सन् १९४८ में प्रकाशित है।

२. वैखानसगृह्यसूत्र-तात्पर्यचिन्तामणिव्याख्या

यह श्रीनिवास मखिन् की रचना है। दो भागों में श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, तिरुमलैतिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति द्वारा १९६७ ई० में प्रकाशित।

३. वैखानसमहिममञ्जरी

वैखानसकल्पसूत्र की व्याख्या है। श्रीनिवासमखिन् द्वारा विरचित है। इसका प्रकाशन सन् १९१३ ईस्वी में हिन्दू रत्नाकर प्रेस, मद्रास से हुआ है।

४. आनन्दसंहिताटीका

भट्टारपार्थसारथि द्वारा रचित, ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) द्वारा १९२४ ई० में प्रकाशित है।

५. बादरायणसूत्रवृत्ति

यह लक्ष्मीविशिष्टाद्वैतभाष्य श्री केशवाचार्य की रचना है।

१. विमानार्चनकल्प, पटल १०१.

६. कश्यपाज बुक ऑफ विज्डम

यह कश्यपज्ञानकाण्ड का अंग्रेजी अनुवाद है। जिसका प्रकाशन हेग से १९६५ ई० में हुआ था। अनुवादक हालैण्डवासी डॉ० टी० गाड्रीयन हैं। प्रयास स्तुत्य है।

७. वैखानस आगम (भाग ३)

प्रो० एस०के० रामचन्द्रराव द्वारा सम्पादित कल्पतरु रिसर्च एकेडमी, बंगलौर, १९९० ई० में प्रकाशित है। कुछ टीका ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।^१

८. वैखानस आगम कोश

भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० तथा ११ क्रमशः राष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति से १९९३, २००४, २००५, २००७, २००८ २००९ ई० तथा २०१० में प्रकाशित हैं। इन कार्यों के सम्पादक प्रो० एन०एस० रामानुज ताताचार्य, प्रो० लक्ष्मीनरसिंहभट्ट एवं आचार्य हयवदन पुराणिक आदि हैं। इन कोशों में क्रमशः आलयनिर्माण का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप, वास्तुस्वरूप, प्रतिमाशास्त्रीय तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा तथा अर्चनप्रकरण, उत्सव-स्वरूप, स्नपन-विधान तथा प्रायश्चित्त विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। वस्तुतः उक्त विषयों का यह एक दस्तावेज है।

9. "LE TEMPLE SELO MARICI" by Gerald Colas. Publication-de Institute Francais Indonlogy, No. 71, Pondichery 1986, page 321 "दी टेम्पल श्री मरीचि" इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं फ्रांस के विद्वान् प्रो० जेर्गार्ड कोलास्, सन् १९८६ में फ्रेञ्च इस्टीच्यूट, पाण्डिचेरी से प्रकाशित है। ग्रन्थ में वैखानस शास्त्र के अनुसार प्रासाद-निर्माण की पूरी प्रक्रिया प्रतिपादित है, साथ ही २० प्लेट (प्रासाद-कल्पना के विभिन्न स्तर के मानचित्र) भी निर्मित हैं।

10. "VISNU, SEE IMAGES ET SES FEUX": LES META-MORPHOSES DIEU CHEZ LES VAIKHANAS by GERALD COLAS, L'ecole Francaise d'extreme-Orient, Paris, 1996. Pages 412 "विष्णु हिज इमजेज एण्ड हिज फायर, मेटामोरफोसिस आफ दी गाड

ऐट दी हाउस ऑफ वैखानस'', बाई प्रो० जेराल्ड कोलास, फ्रेञ्च स्कूल फॉर-ईस्ट, पेरिस, से सन् १९९६ ई० में प्रकाशित हुई है। पुस्तक की भाषा फ्रेञ्च है। निःसन्देह ग्रन्थ में विद्वान् विचारक द्वारा वैखानस शास्त्र पर गम्भीर गवेषणा की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैखानस वैष्णवागम का प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्य उपलब्ध है। इस आगम साहित्य का बहुत बड़ा अंश अप्रकाशित ही है। जो कुछ देश या विदेश से प्रकाशित है वह पर्याप्त नहीं माना जा सकता। यह एक जीवन्त सम्प्रदाय है। इनके सारे क्रियाकलाप ग्रन्थों के आधार पर सम्पादित होते हैं। अस्तु, आज आवश्यकता इस बात की है कि वैखानस वाङ्मय का योजनाबद्ध रूप से अन्वेषण कर उसे प्रकाशित किया जाए।



द्वितीय अध्याय तत्त्वदर्शन

उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मोपासना नामक धर्म की विशद व्याख्या में प्रवृत्त विखनस (ब्रह्मा) के द्वारा करुणापूर्वक प्रदत्त यह वैखानस आगम उनके शिष्यों—मरीचि, भृगु, कश्यप तथा अत्रि—इन चार श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा उक्त है। मोक्ष के उपायभूत विष्णु के वचनों के निरूपण में रत इन श्रेष्ठ मुनियों ने अनेक वैखानस ग्रन्थों का प्रणयन किया। मुनि मरीचि के ग्रन्थावलोकन से यह पता चलता है कि भगवान् विखनस ने चरित (चर्या), क्रिया, ज्ञान तथा योगयुक्त पूजा-मार्गों में चरित (चर्या) तथा क्रिया का विशद विवेचन किया था। उसीके फलस्वरूप इन सभी ऋषियों ने भी उक्त विषय का ही विस्तार से प्रतिपादन किया।^१ वस्तुतः यह तथ्य समस्त आगमशास्त्र पर लागू होता है, जहाँ क्रिया तथा चर्या विषयों का तो खूब विस्तार से विवेचन किया गया है, किन्तु ज्ञान तथा योग सम्बन्धी विषय अत्यन्त संक्षेप में निर्दिष्ट हैं। सच तो यह है कि वैखानस आगम के उपलब्ध ग्रन्थों के विषय-पर्यालोचन से यह अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आगम प्रधान रूप से विष्णुभक्ति-मूलक है, जो सगुणमूर्ति-आराधना के सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विवेचन को प्रस्तुत करता है। प्रायः सभी वैखानस-आगम-ग्रन्थों का दो तिहाई भाग सगुण-साकार-विग्रह आराधना के लिए अपेक्षित मूर्ति एवं देवालय-कल्पन तथा आराधनादि विषयों के साथ वैखानस वैष्णवों के आचार-विचार से सम्बद्ध क्रिया-प्रधान विषय-विवेचन के प्रति समर्पित हैं। ब्रह्म-विवेचन, सृष्टि-प्रक्रिया आदि तात्त्विक विषयों के प्रतिपादन में उतना अवधान नहीं दिया गया। फिर भी तात्त्विक विषयों का सर्वथा अभाव भी नहीं है।

इन तात्त्विक विषयों में ब्रह्मस्वरूप तथा सृष्टि-प्रक्रिया-विवेचन विषय

मुख्य रूप से देखे जा सकते हैं। इन तात्त्विक विषयों के विवेचन के क्रम में सर्वप्रथम तत्त्वपद की निरुक्ति निर्दिष्ट है। महर्षि मरीचि ने “तत्त्वज्ञानोपदेशविधिं वक्ष्ये” इस प्रतिज्ञा वाक्य के साथ “तस्य भावस्तत्त्वमिति तस्य परब्रह्मणः परमात्मनो नारायणस्य भावः, तत्त्वं नारायणः पर इति श्रुतिः”^१ यहाँ ‘तस्य भावः’ का अर्थ परब्रह्म परमात्मा है। वह परब्रह्म नारायण है। नारायण ही ज्ञाता, श्रुतियाँ ज्ञानमय, ऐसा ब्रह्मविदों का मत है।^२

मुनि मरीचि ने परब्रह्म का स्वरूप निष्कल तथा सकल स्वीकारा है। निष्कल को निरूपित करते हुए कहा है कि परतत्त्व विष्णु सर्वाधार, सनातन, अप्रमेय, अचिन्त्य, सत्-असत् तथा निर्गुण है। क्षीर में सर्पि (घी), तिल में तेल, फल में रस, काष्ठ में अग्नि तथा अन्दर-बाहर सभी जगह नारायण स्थित है।^३ सकल को समझाते हुए बताया गया है कि जैसे काष्ठ में अन्तर्निहित अग्नि मन्थन से प्रकट होकर प्रज्वलित होती है, उसी भाँति निष्कलात्मा विष्णु ध्यान-मन्थन से, भक्ति-संकल्प से सकल होते हैं। यथा— “अग्नि से विस्फुलिङ्ग, कुम्भकार की चक्रस्थमृदा से घट शरावादि प्रकट होते हैं, उसी तरह “विष्णु” ध्यान के द्वारा प्रकट होते हैं।”^४

महामुनि अत्रिप्रणीत समूर्तार्चनाधिकरण में भी नारायण को परब्रह्म कहा गया है।^५ ये तीनों लोकों में निवास करते हैं। यहाँ ‘विष्णु’ शब्द की व्युत्पत्ति दी हुई है, तदनुसार—

‘विश्वव्यापनशीलत्वाद् विष्णुरित्यभिधीयते’^६

अर्थात् विष्णु विश्वव्यापक है। नारायण शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—

“आपो नाराः समुद्दिष्टास्तासु तस्यायनं यतः ।

तेन नारायणः सोऽभूत् सर्वस्यापि सनातनः ॥”^७

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८५.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ८५.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८५.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ८६.

५. “नारायणः परब्रह्म परमात्मा परोऽव्ययः”— समूर्तार्चनाधिकरण १/६.

६. समूर्तार्चनाधिकरण १/९.

७. समूर्तार्चनाधिकरण १/७-८.

सभी भूतों में सर्वव्यापी सनातन नारायण ही है। वे परमधाम, परमज्योति स्वरूप हैं। ये ही सभी कारणों के कारण हैं। ब्रह्म स्वयं ही वीर्य और अण्ड के रूप में दिव्य गर्भ में रहता है, उसीसे इस चराचर जगत् की उत्पत्ति होती है।^१

ब्रह्म को “सर्वतः पाणिपाद” भी कहा गया है। परमात्मा ने ही इन सभी चराचर को प्रकाशित किया, इसी कारण ये सभी उसके पाणि कहे गये। देश-कालविशेष परमेष्ठी से एककालावच्छेदेन सतत संयुक्त रहने के कारण ही ‘सर्वतःपात्’ स्वीकारा गया। यह ब्रह्म सूर्य की भाँति पार्श्वभाग, ऊर्ध्वभाग तथा अधोभाग से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, अतः उस ब्रह्म को ‘सर्वतश्चक्षु’ कहा गया है। प्रपञ्च की सारी वस्तुएँ उस ब्रह्म के पुरः स्थित हैं, इस कारण ‘सर्वतोमुख’ कहा गया। शरीरस्थ इन्द्रियों में शिर को प्रधान माना गया है, शिर ज्ञान का आश्रय भी है, इसलिए ब्रह्म को ‘सर्वशिरा’ स्वीकारा गया है। निकट तथा दूर एवं व्यवहितेतर में शब्द-संघात सुनने के कारण ‘सर्वतःश्रवा’ की संज्ञा ब्रह्म को दी गई है।^२

ब्रह्म प्रज्ञ है। जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में ज्ञान को प्रकाशित करता है। सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था में भी रहता है। सूक्ष्म रूप से गुहा में स्थित है तथा स्थूल रूप से अग्नि की तैजस आकृति में रहता है। हृदयरूपी आकाश में जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह अच्युत परमात्मा से होती है। तुरीय परमानन्द, हृत्पद्म में प्रज्वलित वैश्वानर, शिखामध्य में वही परमात्मा अष्टाङ्गयोगसिद्धि द्वारा ध्यान रूप में गोचर होता है।^३

महर्षि कश्यप के अनुसार परब्रह्म ‘विश्वतश्चक्षुः’ है। अर्थात् कोई भी ऐसी दिशा या क्षण नहीं है, जहाँ ब्रह्म की पहुँच न हो। इसी भाँति ब्रह्म को विश्वतोमुख, विश्वतोहस्त कहा गया है। वैखानसागम में ब्रह्म को विश्वात्मक माना जाता है और उसे विश्वगर्भ भी स्वीकारा गया है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के उदर में स्थित है तथा उन्हींकी इच्छा से प्रकट होता है। ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का

१. समूर्तार्चनाधिकरण १/९-१४.

२. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध क, अध्याय ५.

३. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध क, अध्याय ५/१३-१६.

वेत्ता है। यहाँ ब्रह्म को विश्वेन्द्रिय-गुणाभास के रूप में प्रतिपादित किया गया है। तथा इसके विपरीत विश्वेन्द्रिय-वर्जित भी बतलाया गया है। वह आदिनिधन है। ब्रह्म की व्यापकता के सन्दर्भ में सभी दार्शनिक-प्रस्थानों में मतैक्य है। नैयायिकों के मत में आकाश को व्यापक बतलाया गया है। उसी तरह वैखानस मत में प्रभु को विभु स्वीकारा गया है तथा आकाश की तरह अत्यन्त सूक्ष्म भी माना जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'व्योमाभ' शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म ज्ञानघन भी है। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान को अपने में समेट कर रखने वाला भी है। अतः इसे ज्ञानघन कहा जाता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था में भी ब्रह्म की सत्ता सदा बनी रहती है।^१

मुनि भृगु द्वारा कहे गए प्रकीर्णाधिकार में ब्रह्म के स्वरूप पर विचार किया गया है। तदनुसार—“परब्रह्म सभी उपमाओं से रहित, विश्वव्यापी, परंधाम, सर्वहेयविवर्जित, अप्रमेय, अनादि, सदसद्विभु है। निर्द्वन्द्व, अचिन्त्य, सभी भूतों में व्याप्त, सहस्रों सूर्य के सदृश परमाकाश में शङ्ख, चक्र, गदा, इन दिव्यायुधों से सुशोभित है। चतुर्भुज हरि नित्यमुक्त तथा षाड्गुण्य से युक्त हैं। सभी अवयवों से सुन्दर, सुधाकल्लोल-सङ्कुल नित्यश्री से युक्त हैं।”^२

वैखानस आगम का उद्घोष है कि ब्रह्म के दो तत्त्व हैं—मूर्ततत्त्व तथा अमूर्ततत्त्व। क्षर तथा अक्षर रूप में ये दोनों तत्त्व सभी भूतों में अवस्थित हैं। परब्रह्म अक्षर तथा सम्पूर्ण विश्व क्षर तत्त्व के रूप में वर्णित है।^३ डॉ० राघवप्रसाद चौधरी द्वारा 'वैखानसागमीय ब्रह्मतत्त्व' शीर्षक से पाण्डित्यपूर्ण शोध पत्र प्रकाशित है।^४

१. कश्यपज्ञानकाण्ड, अध्याय ३५.

२. प्रकीर्णाधिकार, ३३/५-१२, उद्धृत, वैखानसागमकोशः, द्वितीयसम्पुट, प्रथमभाग, सम्पादकद्वय आचार्य लक्ष्मीनरसिंहभट्ट, आचार्य हयवदनपुराणिक, प्रकाशित-राष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति, सन् २००४ ई०, पृष्ठ ३-४.

३. खिलाधिकार १७/१८-२०.

४. जर्नल आफ गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, वाल्यू० XI.III, जनवरी-दिसम्बर, १९८७, पृष्ठ २२९-२३४.

शक्तितत्त्व

वैखानसागम ग्रन्थों में 'शक्ति' तत्त्व की सविशेष प्रतिष्ठा हुई। अधिकांश आगमों में नारायण या विष्णु आश्रय रूप में बने रहते हैं, उनकी क्रिया 'शक्ति' से प्रवर्तित होती है। इस शक्ति की प्रधानता से वैखानस दर्शन में 'शक्तितत्त्व' की मुख्यता हो जाती है।

प्राचीन वैदिक दर्शन में 'शक्ति' का उल्लेख स्वधा के रूप में है। 'स्वधा' ऋग्वेद का शब्द है। इसके कई अर्थ किये गये हैं—आन्तरिकशक्ति,^१ आन्तरिकस्वभाव,^२ विशेषस्वभाव^३ तथा स्वेच्छाशक्ति। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसीको 'आत्मशक्ति' कहता है। 'स्वधा' अथवा 'आत्मशक्ति' ही संसार की सृष्टिक्रिया में उपादान है।^४

द्वन्द्वातीत तथा निष्कल परात्पर सत्ता से प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि का होना तर्कसंगत न देखकर उसमें निहित एक शक्ति की परिकल्पना की गयी। अद्वैत वेदान्त में उसे अविद्या या माया कहा जाता है। वह जडात्मक है। जड शक्ति में पुनः उन्मेष की समस्या खड़ी होती है, अतः उसे चित्शक्ति माना गया है। चित्शक्ति चैतन्यस्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं, अस्तु इसे ब्रह्माद्वैत कहते हैं। अभिप्राय यह है कि शक्ति के बिना शक्तिमान् अपनी अभिव्यक्ति में असमर्थ है।^५

वैखानस आगम में अद्वैत का अभिप्राय केवल नारायण से नहीं है, बल्कि लक्ष्मी-विशिष्ट नारायण से है। अतः लक्ष्मी को अलग तत्त्व नहीं स्वीकार किया गया। वैखानस सूत्र में निर्दिष्ट है—

“तस्मात्तया श्रिया सार्धं पूजयेत् पुरुषोत्तमम् ।”^६

१. टू इट्स सिग्निफिकेंस इन दी ऋग्वेद, स्टेला बरमरिश, अमेरिकन ओरिएण्टल सिरीज, वाल्यूम ४७, पृ० ११२.

२. तत्रैव - पृष्ठ ११५.

३. डे कास्मोगॉनि वान ऋग्वेद, जे० गोण्डा, पृष्ठ ६९२.

४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८, हाइम्स स्पेचुलेटी थिंक्स डु वेद, एल० रेन्यो, पेरिस, १९५६, पृष्ठ १२६.

५. “शिवः शक्त्या युक्तो भवति यदिशक्तः प्रभवितुं, न च देवे न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि”। सौन्दर्यलहरी, १ ए.

६. आगम कोश (वैखानस आगम), प्रो० एस०के० रामचन्द्र राव, कल्पतरु रिसर्च एकेडेमी, बंगलौर, वाल्यू० III, १९९०, पृष्ठ ११२.

इनका पारस्परिक सम्बन्ध चन्द्रमा तथा चाँदनी की तरह प्रतिपादित है—

“श्रीश्रीशयोस्तु सम्बन्धः चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।”^१

अर्थात् श्री (लक्ष्मी) और श्रीश (नारायण) का अविनाभाव सम्बन्ध है।

प्रणव के तीन अक्षर ‘अ’ ‘उ’ तथा ‘म्’ क्रमशः नारायण, लक्ष्मी या प्रकृति, तथा जीव के द्योतक माने गए हैं। प्रथम ‘अ’ अक्षर विष्णु का प्रतीक (अकारो वै विष्णु), द्वितीय अक्षर ‘उ’ लक्ष्मी या प्रकृति का प्रतिनिधि तथा तृतीय अक्षर ‘म्’ मन (जीव) ‘मन अवबोधने’ अर्थात् ‘मकारस् तयोर्दासः’ अर्थात् जीव प्रथम दो का दास है। इसीलिए महामुनि भृगु कहते हैं—

“श्रीमन्नारायणमर्चयेत्”^२ अर्थात् श्री के सहित नारायण की आराधना करनी चाहिए।

विष्णु की प्रधान विभूति श्री है। वह “नित्या, आद्यन्त-रहिता, अव्यक्तरूपिणी, प्रमाण-अप्रमाण-साधारणभूता, विष्णु के संकल्प के अनुरूप, नित्यानन्दमयी, मूलप्रकृति-रूपा शक्ति” है। उससे भिन्न प्रकृत्यंशभूता, पौष्णी, उससे भिन्न स्त्रियाँ तदात्मिका माया प्रकृति तथा मायी विष्णु है। प्रकृति तथा पुरुष अनादि हैं। इन्हीं दोनों से लोक-प्रवृत्ति होती है। सभी विकार गुण प्रकृति से पैदा होते हैं। कार्य-कारण-कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु है। पुरुष सुख-दुःख के भोक्तृत्व का हेतु है। प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिज गुणों का भोक्ता होता है।^३

श्रीदेवी तथा भूमिदेवी का स्वरूप उपलब्ध होता है।^४ चेतन तथा अचेतन दो तरह की प्रकृति प्रतिपादित है। चेतन प्रकृति जीवभूत है तथा अचेतन प्रकृति के अन्तर्गत पञ्चभूत, मन, बुद्धि एवम् अहंकार—ये आठ तत्त्व आते हैं। प्रकृति के साथ संश्लिष्ट पुरुष प्रकृतिस्थ जीवात्मा क्षेत्रज्ञ अनेक हैं। इन्हें भी नित्य माना गया है तथा अनादि अविद्या सञ्चित पुण्य-पाप का

१. आगमकोश (वैखानस आगम), प्रो० एस०के० रामचन्द्र राव, कल्पतरु रिसर्च एकेडेमी, बंगलौर, वाल्यू० III, १९९०, पृष्ठ ११२.

२. वासाधिकार, उद्धृत आगमकोश (वैखानस आगम), पृष्ठ ११३.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८६.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल २३; ख. यज्ञाधिकार २१/२-६; ग. वासाधिकार ४.

फल भोगने के कारण विविध शरीरों में प्रवेश कर उन-उन रूपों में शुभ-अशुभ कर्म करते हुए उसके अनुसार फल भोगते हुए बार-बार शरीर धारण करते रहते हैं।^१

महर्षि कश्यप ने भी माया को प्रकृति तथा मायी को महेश्वर (विष्णु) कहा है। इन्हींसे लोकयात्रा होती है। सभी स्त्रियाँ शक्ति-स्वरूपा हैं तथा सभी पुरुष नारायण-स्वरूप हैं। यही दोनों की स्थिति है। अस्तु दोनों की साथ-साथ अर्चना करनी चाहिए।^२

इस प्रकार नारायणी शक्ति महालक्ष्मी की समता सांख्य की प्रकृति से नहीं हो सकती, क्योंकि यह पुरुष से भिन्न नहीं है। बल्कि वह परम पुरुष की 'अहंता' है और उससे अभिन्न है। इसकी ठीक-ठीक समता गीता की आत्ममाया या योगमाया से बैठती है। नारायण-लक्ष्मी या शक्ति-शक्तिमान् का सदा ऐक्य रहता है। अस्तु वैखानस आगम का अभिमत है—

“श्रिया नित्यानपायिन्या सेव्यमानो जगत्पतिः ।”^३

पञ्चव्यूह

व्यूह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न है। 'ऊह' का अभिप्राय है किसी सिद्धान्त का उपयुक्त स्थानों पर प्रयोग करना, अतः 'विशेषेण ऊह्यते विधीयत इति व्यूहः' इस सन्दर्भ में किसी विशेष सत्ता से सम्पूर्ण संसार की अभिव्यक्ति परिलक्षित है।^४ वैखानस दार्शनिक सर्वत्र परमात्मा के पाँच रूपों को स्वीकार करते हैं, जबकि पाञ्चरात्रिक चतुर्व्यूह का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।^५ क्वाइपर, हेल्ड, गोण्डा तथा हीस्टरमैन आदि विद्वानों का मत है कि व्यूहों की रचना जो चार है, वह पाँच होनी चाहिए।^६

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८६.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ३५.

३. क. आनन्दसंहिता -४;

ख. प्रकीर्णाधिकार ३३/१२.

४. कश्मीर शैविज्म, जे०सी० चटर्जी, पृष्ठ ५९.

५. समूर्तार्चनाधिकरण परिशिष्ट, अनुबन्ध क, ३/२५-२६.

६. दी श्री स्ट्राडेस आफ विष्णु, एफ०बी०जे० क्वाइपर, अमेरिकन ओरिएण्टल सिरीज, वाल्यू० ४७, पृ० १४७, १४८.

पाञ्चरात्र आगम की अहिर्बुध्न्यसंहिता में पाँच मातृकाओं उल्लेख है, जो यह है—श, ष, स, ह तथा क्ष। ये ब्रह्मा के पाँच स्वरूपों के नियामक बताये गये हैं।^१ शैवागम में इसीको शिव के पाँच रूपों में स्वीकार किया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि विष्णु के भी पाँच रूप होने चाहिए, न कि चार। वैखानस आगम विष्णु के पाँच रूप स्वीकार कर अपने सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

महाभारत के नारायणीय पर्व में यह प्रतिपादित है कि व्यूह सदा चार व्यूह के रूप में ही मान्य नहीं है।^२ घोसुण्डि तथा नानाघाट के शिलालेखों में दो ही व्यूहों, वासुदेव तथा संकर्षण का उल्लेख है।

पुराणों में 'व्यूह' का संकेत है। विष्णुपुराण में चारों व्यूह कृष्ण के पर्यायवाची के रूप में उद्धृत है।^३ भागवतमहापुराण में भी चतुर्व्यूह ज्ञानस्वरूप वासुदेव एवं क्रियाशक्ति संकर्षण के साथ प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को नमन किया गया है।^४ मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण तथा गरुडपुराण^५ में नारायण को चार रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ माना गया है।

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में यह प्रतिपादित किया है कि परमार्थ तत्त्व निरञ्जन तथा ज्ञानस्वरूप वासुदेव है। उन्होंने ही अपने को चार व्यूहों में प्रविभक्त किया। वे ही क्रमशः परमात्मा, जीव, मन तथा अहंकार हुए। वासुदेव को उन्होंने पराप्रकृति तथा व्यूहों को उसका कार्य माना है।^६ आगम-प्रामाण्य में यह बताया गया है कि ये जन्मादि रूप जीव नहीं हैं। ये परमात्मा

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता १६/८३-८४.

२. क. नारायणीयपर्व ३४९/५७.

ख. एफिग्राफिया इण्डिका, भाग-१०, परिशिष्ट पृ० २.

३. विष्णुपुराण ५.

४. महाभागवतपुराण ११/५/२९.

५. सुदर्शनः श्रीहरिश्च अच्युतश्च त्रिविक्रमः ।

चतुर्भुजो वासुदेवः षष्ठः प्रद्युम्न एव च ॥

संकर्षणः पुरुषोऽथ नवव्यूहो दशात्मकः ।

अनिरुद्धो द्वादशात्मा च अत ऊर्ध्वमनन्तकः॥

—गरुडपुराण १२/१४-१५.

६. ब्रह्मसूत्र, शङ्करभाष्य २/२/४२.

की व्यूह रूप में अभिव्यक्तियाँ हैं, केवल व्यवहारमात्र के लिए जीव शब्द का प्रयोग किया गया है।^१ ये चारों विभाग वर्णक्रम से पूज्य हैं।^२

देवाधिदेव भगवान् शार्ङ्गधर (विष्णु) भक्तों पर अनुग्रह के लिए अनुकम्पापूर्वक पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार स्वरूपों को स्वीकार करते हैं।^३ महर्षि कश्यप विष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध नामक पाँच मूर्तियों का प्रतिपादन करते हैं।^४ एक अन्य स्थल पर वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा साम्ब इन पाँच वीरों की भी चर्चा प्राप्त होती है।^५

श्रुति-प्रमाणों से प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि पूर्ण-पाद-अर्ध तथा त्रिपाद गुणभागों के न्यूनाधिक भाव से पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध इन चार मूर्तियों का उद्भव क्रमशः निर्दिष्ट है। ये प्रकार नारायण (विष्णु), ब्रह्म के ही हैं। अपने को ही क्षुब्ध करके परमात्मा पाँच गुणों से युक्त होता है। उन पाँचों मूर्तियों के आदिमूर्तिरूप परविष्णु में धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा वैराग्य—ये चारों गुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं। इन गुणों की विषमावस्था में अन्य मूर्तियाँ प्रकट होती हैं। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—जब चार-गुणों में से धर्म गुण की न्यूनता होती है, तब उसे पुरुष कहा जाता है।^६ जब चार गुणों में से ज्ञान गुण की न्यूनता होती है, तब उसे सत्य स्वीकारा गया है। इसी प्रकार ऐश्वर्य गुण की न्यूनता आने पर अच्युत तथा

१. नानेनवचनेनेह जीवजन्माभिधीयते । अपि तु व्यूह रूपेण व्यक्ति देवस्य कीर्त्यते॥

तत्र संव्यवहारार्थं जीवशब्दः प्रयुज्यते। वर्णानामानुःपेय्येन पूज्यभेदप्रसिद्धये॥

—आगमप्रामाण्यम्-पृष्ठ १११.

२. क. वर्णैश्चतुर्भिश्चत्वारः पूजनीया यथाक्रमम्। वासुदेवसंकर्षण प्रद्युम्न निरुद्धाः॥

—आगमप्रामाण्यम्-पृष्ठ ११०.

ख. चतुर्णां ब्रह्मणादीनां स्वमेवानुकम्पया। चातुराम्येन रूपेण चतुर्धा व्यक्तिमेति च।

—सात्वतसंहिता १२/१७.

३. प्रकीर्णाधिकार ३३/१-४, उद्धृत, वैखानसागमकोषः, भाग २, सम्पादकद्वौ आचार्यलक्ष्मी-नरसिंहभट्ट, हयवदनपुराणिक, प्रकाशित-राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति : २००४ ई०, पृष्ठ ३.

४. क. विष्णुः पुरुषः सत्योऽच्युतोऽनिरुद्ध इति पञ्चमूर्तयः। काश्यपज्ञानकाण्डे, अध्याय ७७.
ख. समूर्तार्चनाधिकरण - ४१/१.

५. वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसाम्बाः पञ्चवीराः इति विज्ञायते। काश्यपज्ञानकाण्डे, अध्याय ८४.

६. प्रकीर्णाधिकार ३३/१३-२१.

वैराग्य गुण की अल्पता हो जाने पर अनिरुद्ध-रूप में समझा जाता है। वस्तुतः गुणों के तारतम्य के बिना परमात्मा एक ही है। यह चार भेद चारों युगों, चारों वेदों, चारों वर्णों, चारों लोकों का प्रतिनिधित्व करते हुए समृद्धि प्रदान करते हैं। जैसे एक ही अग्नि में कुण्ड-दिङ्-नाम-मन्त्र-क्रिया-भेद से पाँच प्रकार की आहुतियाँ मानी गई हैं, उसी भाँति आदिमूर्ति के साथ पञ्चमूर्ति-अर्चन सर्वसुखदायी, पुष्टि, शान्ति, धनधान्यादि-सर्वसम्पदाप्रद, ब्रह्मवर्चस्कर, आयु-आरोग्य-प्रदायक कहे गये हैं।^१

पञ्चव्यूह → परतत्त्व विष्णु (आदिमूर्ति) → धर्म-ज्ञान-ऐश्वर्य-वैराग्य

पुरुष	सत्य	अच्युत	अनिरुद्ध
धर्म(-न्यूनता)	ज्ञान(-न्यूनता)	ऐश्वर्य(-न्यूनता)	वैराग्य(-न्यूनता)
विष्णु	महाविष्णु	सदाविष्णु	व्यापी नारायण ^२

सपरिवार पञ्चवीरों के लक्षण भी यहाँ प्राप्त होते हैं। तदनुसार ब्रह्मसूत्र के उत्तर में वासुदेव, वाम भाग में रुक्मिणी देवी, तत्पश्चात् बलदेव एवं ब्रह्मा की प्रकल्पना होती है। वासुदेव के उत्तर में प्रद्युम्न, तदनन्तर अनिरुद्ध की स्थापना की जाती है।^३

इस प्रकार ब्रह्मा ने प्राचीन काल में व्यूह का वर्णन किया और विशेष रूप से उसे अलग-अलग पाँच भागों में स्मरण किया। सृष्टि-क्रम से ही सभी शास्त्रों का अभिप्राय समझना चाहिए। आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। उस वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इस क्रम से उत्पन्न होने के कारण उन्हें पञ्चमूर्ति कहा गया। अतः आहुति तथा उद्भासन द्वारा विष्णुमूर्ति की पूजा करने का निर्देश है। पुरुष आदि को शास्त्र के अनुसार क्रम से तैयार करे। पुरुष को स्थिर करके बीज का घेरा (नेमि) बनावे। सृष्टि-बीज-रूप कमल को सत्यमूर्ति के रूप में दक्षिण में अवस्थित

१. क. काश्यपज्ञानकाण्ड, अध्याय ७७; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३७/७-८;

ग. निरुक्ताधिकार १५; घ. क्रियाधिकार ३०/४२-४३.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९५.

३. क्रियाधिकार ३०/५१-६३.

करे। शङ्ख को मुक्ति-बीज मानकर वहाँ अच्युत की स्थापना करे। संहार-बीज गदा के द्वारा उत्तर में अनिरुद्ध की स्थापना करे। इस प्रकार संस्थापित करके उनके मध्य में आदिमूर्ति की स्थापना करनी चाहिए। इस भाँति शङ्ख, चक्र, पद्म तथा गदा के साथ देव की स्थापना समृद्धिदायी होती है, बिना इनके वह समृद्धिदात्री नहीं होती। अतः ब्राह्मण को चाहिए कि इस विचार से पञ्चमूर्तियों की स्थापना कर आराधना में रत रहे।^१ पञ्चदेवों की पूजा का महत्त्व इस प्रकार बढ़ा कि प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने इसे स्वीकार कर लिया। बौद्ध धर्म में पाँच ध्यानी (पाँच ध्यानमुद्राओं में स्थित) बुद्धों की कल्पना का विकास हुआ। इन्हें देवी-देवताओं के पाँच कुलों का जनक माना जाता था, जिनकी पूजा पुष्प, सुगन्ध और दीप आदि के साथ की जाती थी।^२ जैन ग्रन्थों में पंच-परमेष्ठियों या परमश्रेष्ठों का उल्लेख हुआ है, अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु। सोपानबद्ध रूप में इनकी पूजा जैन मुनियों द्वारा करने का विधान था।^३ शैव सिद्धान्त में पंचब्रह्म-प्रतिमाओं की पूजा का विधान निश्चित किया गया, जो शिव की पाँच शक्तियों की पाँच मूर्तिमत अभिव्यक्तियाँ थीं।^४ इन सबमें पंचवृष्णियों की पूजा पंचदेवों की सभी कल्पनाओं से पुरानी है।

विभव

‘विभव’ का अर्थ अवतार है। वैखानस विचारक एक ही अविकृत ‘परसत्ता’ मानते हैं। वैखानस संहिताओं के अनुसार परसत्ता अपना स्वरूप स्थिर रखते हुए अवतीर्ण होती है, जबकि पुराणों के अनुसार भगवदंश ही अवतरित होते हैं। यही दोनों में अन्तर है। परसत्ता द्रष्टा, साक्षी तथा उदासीन है, उसे जागतिक प्रपञ्च से कुछ लेना-देना नहीं है। अस्तु अवतार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। प्रकीर्णाधिकार में प्रतिपादित है—

१. वासाधिकार, अध्याय ५, उद्धृत, वैखानसागमकोश, द्वितीय भाग, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, २००४ ई० पृ० २२३-२४.
२. एन इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, वाराणसी, १९६४, पृष्ठ ३२-३३, ८०-८१.
३. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, के.के.होदिकी, शोलापुर, १९४९, पृ० २६९-आगे.
४. डबलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जे.एन. बनर्जी, १९५६ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३५-३६.

तृतीयं विभवाख्यं तु विश्वमन्तरमध्यमम् (?) ।।

नानाकारक्रियाकर्तृरूपं वक्ष्ये महात्मनः ।

विभवा मत्स्यकूर्माद्या हयग्रीवादयो मताः ।।^१

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ही विभव का रूप है। नानाकार, विविधक्रिया, नानाकर्तारूप, मत्स्य, कूर्मादि तथा हयग्रीवादि विभवरूप ही हैं।

इसी ग्रन्थ में भगवदावतार का प्रयोजन भी निर्दिष्ट है—

अवताराश्च कीर्त्यन्ते भूयांसः परमात्मनः ।

धर्मसंरक्षणार्थाय दुष्टसंशिक्षणाय च ।।^२

काश्यप ज्ञानकाण्ड में भी भगवदवतार का हेतु प्रतिपादित है, जो इस प्रकार है—यदा ग्लानिर्धर्मस्य परिपालनाय नारायणाद् भगवतः प्रत्यंश-रूपाणि युगे युगे प्रजातानि भवन्ति, तानि रूपाणि संस्थाप्यार्चयेत् ।^३

अवतार के दो भेद बताये गये हैं—

१ आविर्भाव तथा २. प्रादुर्भाव ।^४

वैखानस आगम के प्रायः सभी ग्रन्थों में दशावतारों का स्वरूप उपलब्ध होता है। “मत्स्य-कूर्म-वराह-नरसिंह-वामन-जामदग्न्य-राघव-बलभद्र-कृष्ण-कल्किन इति।”^५ वासाधिकार में कृष्ण के स्थान पर बुद्ध का नामोल्लेख है।^६ महर्षि अत्रि ने मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह तथा वामन को

१. प्रकीर्णाधिकार ३३/२१-२२.

२. प्रकीर्णाधिकार १६/११२.

३. काश्यपज्ञानकाण्ड, अध्याय ३६.

४. सद्य आविर्भवेद् विष्णुर्यत्र भक्तानुकम्पया।

आविर्भावं तु तं विद्यात् प्रादुर्भावमथेतरत्॥-प्रकीर्णाधिकार- १६/१९३.

५. क. विमानार्चनाकल्प, पटल ५५.

ख. प्रकीर्णाधिकार १३/४-५.

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ५८/२.

घ. काश्यपज्ञानकाण्ड ७९.

ङ. अर्चनाधिकार ३७.

च. खिलाधिकार १९/१-२.

६. वासाधिकार १८.

आविर्भाव की श्रेणी में रखा है तथा शेष पाँच—जामदग्न्य, राघव, बलभद्र, कृष्ण तथा कल्कि को प्रादुर्भाव की कोटि में माना है।^१

महाभाग भृगु ने प्रायः अपने सभी ग्रन्थों में अत्रि मुनि के कथन का अनुमोदन किया है।^२ दशावतारों की प्रत्येक प्रतिमा की उपासना का विशद विवेचन वैखानस ग्रन्थों में प्रतिपादित है।^३ दशावतार यह स्वरूप नामतः पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में भी निर्दिष्ट है।^४ दशावतार के वर्णन के बाद विभवदेवों के नामों का परिगणन किया गया है। ये विभवदेव अधोलिखित हैं—

१. केशव,	२. नारायण,	३. माधव,
४. गोविन्द,	५. विष्णु,	६. मधुसूदन,
७. त्रिविक्रम,	८. वामन,	९. श्रीधर,
१०. हृषीकेश,	११. पद्मनाभ,	१२. दामोदर,
१३. सङ्कर्षण,	१४. वासुदेव,	१५. प्रद्युम्न,
१६. अनिरुद्ध,	१७. पुरुषोत्तम,	१८. अधोक्षज,
१९. नरसिंह,	२०. अच्युत,	२१. जनार्दन,
२२. उपेन्द्र,	२३. हरि,	२४. कृष्ण ।

अत्यन्त स्पष्ट रूप से उपर्युक्त सभी अवतारों की प्रतिमाओं का लक्षण प्रकीर्णाधिकार में वर्णित है।^५ इन विभवदेवों में सामान्यतः दशावतार देवों के रूप में निर्दिष्ट देव भी सन्निविष्ट हैं। प्रसंगानुसार यह कहा जा सकता है कि ये विभवदेव भी पञ्चव्यूहों से ही उत्पन्न हैं। पाञ्चरात्रागम में भी विभवदेवों का वर्णन उपलब्ध है।^६

१. पूर्वान् पञ्चवरान् प्राहुराविर्भावानिति क्रमात्। अपरांस्तेषु पञ्चैवे प्रादुर्भावान् वदन्ति च॥

—समूर्तार्चनाधिकरण ५८/३.

२. क. अर्चनाधिकार ३७; ख. खिलाधिकार १९/३;

ग. क्रियाधिकार ११/२; घ. प्रकीर्णाधिकार १६/११३-११४.

३. क. काश्यपज्ञानकाण्ड ३७; ख. क्रियाधिकार ३०/१-९.

४. क. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद २/३०-३३; ख. नारदीयसंहिता १/५७-६१.

५. प्रकीर्णाधिकार १७/१-३७.

६. अहिर्बुध्न्यसंहिता ५/५०-५७.

अन्तर्यामी

अन्तर्यामी अवतार प्राणियों के हृदय-कमल में निवास करता है। प्रकीर्णाधिकार के अनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—

अन्तर्यामी स्वरूप को तुरीय कहते हैं। नीवार-शूक (धान) के सदृश अणु पतली पीताभ शिखा के मध्य में परमात्मा स्थित है। शिखा के मध्य में प्रज्वलित ज्योतीरूप, जाम्बूनदप्रभावाला पीताम्बरधारी, शङ्ख-चक्रगदाधर सर्वाभरणभूषित परमात्मा है।^१ यह सभी प्राणियों को यन्त्र की भाँति घुमाया करता है। सभी कारणों का कारण अन्तर्यामी रूप है।^२ श्रीमद्भगवद्गीता में भी अन्तर्यामी परमेश्वर का स्वरूप इसी प्रकार का वर्णित है।^३

अर्चा

प्रस्तर, रजत आदि धातुओं से निर्मित विष्णु आदि की अचेतन मूर्तियों में प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा अर्चावतार घटित होता है तथा उसमें अब्दुत शक्तियों का समावेश होता है। पूजन ही इनका उद्देश्य होने के कारण इन्हें अर्चावतार कहा गया है। अर्चा-उपासना में भक्त भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करता है। पहली अचेतन प्रतिमा अब एक नया अर्थ धारण करके प्रेम तथा हृदय के आकर्षण की वस्तु बन जाती है। आलवार सन्तों को भी यही उपासनापद्धति अभीष्ट थी। अर्चा शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—
“अर्च्यत्वाज्जलपुष्पाद्यैः कीर्तितार्चेति सूरिभिः।”^४ महर्षि भृगु ने अर्चावतार का विशद विवेचन किया है। तदनुसार अर्चाविग्रह सर्वोत्तम फल देनेवाला नित्यमुक्त-उपभोग्य है। अर्चा में सभी लोगों का अधिकार है, विशेष भक्तिहेतु प्रतिमाराधान होता है।

भगवान् का अर्चा-रूप सभी के लिए सर्वाधिक फलप्रद है, क्योंकि श्रीहरि का परव्यूह यहाँ नित्य वर्तमान रहता है। श्रीहरि के विभवात्मक रूप का भी यहाँ तत्काल सन्निकर्ष सम्भव है, यही अर्चाविग्रह का उद्देश्य है। इस

१. प्रकीर्णाधिकार १७.

२. प्रकीर्णाधिकार १७.

३. गीता १८/६१.

४. समूर्तार्चनाधिकरण, अध्याय २४/२ ए.

आर्चाविग्रह की भक्ति में सभी का अधिकार है। प्रतिमाविग्रह की आराधना ही विशेष भक्ति का परम उपाय है। यह अर्चावतार सभी का परम बान्धव और भक्तवत्सल है। इसके अनन्त गुण हैं, जो सौ-सौ वर्षों में भी पूरे कहे नहीं जा सकते। ब्रह्मा द्वारा जीव को मानवदेहरूपी उत्तम सम्पदा वास्तव में भक्तिमय आराधना के लिए ही दी जाती है। जिह्वा यदि 'कृष्ण', 'केशव' आदि हरिनाम का उच्चारण न करे, तो व्यर्थ है, वह चित्त भी व्यर्थ रहता है जो हरि का स्मरण-ध्यान-चिन्तन नहीं करता। सम्पूर्ण शरीर की कर्मशक्ति अर्चना में ही सार्थक होती है। तत्त्वरूप से विष्णु-नामक परब्रह्म तो सत्तामात्र है, सभी विशेषणों से रहित है और चिन्तन से परे है। उनकी उपलब्धि (अपरोक्ष अनुभूति) के लिए ही अल्प शक्तिवाले मनुष्यों के लिए सुवर्ण, रजत आदि से बनी प्रतिमा का अर्चना करे, उसी विग्रह को प्रणाम करे एवं सभी भावों का वहाँ निवेदन करे, उन्हीं का ध्यान-चिन्तन करे। उसी उत्तम कर्म से सभी दोषों का नाश होता है। प्रतिमा ब्रह्मरूपिणी ही है।^१

सृष्टिप्रक्रिया

ऊपर पञ्चव्यूह, दशावतार, विभवदेवों के उद्भव का क्रम वर्णित हुआ है। इसके अनन्तर यहाँ इस चराचर की उत्पत्ति का वर्णन भी देखना आवश्यक है। विमानार्चनकल्प के अनुसार परमात्मा से हिरण्यमय अण्ड उत्पन्न होता है। उस अण्ड के भीतर सभी अण्डों के ऊपर सनातन नित्यशुद्धबुद्ध पुरुषों के द्वारा अनुभूयमान वैष्णवाण्ड निर्दिष्ट है। उसमें चार प्रकार के विष्णुलोक प्रतिपादित हैं—१. आमोद, २. संमोद, ३. प्रमोद तथा ४. वैकुण्ठ। ये चारों क्रम से एक दूसरे के ऊपर हैं। उस स्वर्णमय प्राकारयुक्त, गोपुर, तोरण तथा शतसहस्र कनककमलकुसुमों से अलंकृत, अमृतजलवाहिनी शतसहस्रसरिताओं से प्रभासमान दिव्यलोक में हजारों सूर्यों के सदृश स्वर्णमय द्वादशतल विमानवाला, नित्यज्ञान क्रिया-ऐश्वर्य से सम्पन्न ब्रह्मादि देवऋषि नित्य (दिव्य) परिजनों से युक्त मन्दिर है। उस व्योम निलय (मन्दिर) में परमात्मा अपने संकल्प से देवी तथा विविध भूषणायुधों के साथ विष्णु

१. प्रकीर्णाधिकार ३३/३१-४६.

आमोद में, महाविष्णु संमोद में, सदाविष्णु प्रमोद में तथा सर्वव्यापी नारायण वैकुण्ठ में विराजते हैं।^१

समूर्तार्चनाधिकरण के परिशिष्ट में यह बताया गया है कि पञ्चमूर्तिमय विष्णु द्वारा शुद्ध हिरण्यमय अण्ड का चिन्तन किया गया। इस अण्ड से सभी लोक आवृत हैं, कपित्थफल की भाँति। पञ्चमहाभूत भी इस अण्ड क्रम से समावृत हैं। उस अण्ड में सर्वव्यापी नारायण स्थित है, अन्तर्बाह्य सभी के साक्षी के सदृश। अनेक योजन विस्तार वाले ये महान् लोक चार द्वारों वाले तथा व्यूह-क्रम में अनिरुद्ध संज्ञा वाले हैं। इनके अनन्तर अच्युत-लोक है, फिर क्रमशः सत्य तथा पुरुष लोक हैं। सर्वलोकों से अतीत महाविष्णु विराजमान हैं।^२ विमानार्चनकल्प में वैष्णवाण्ड आदि के वर्णन के अनन्तर तथा देहोत्पत्ति से पूर्व यह कहा गया है कि परमात्मा सर्वोत्तम तत्त्व है तथा उसने अपनी इच्छा से जगत् की सृष्टि की। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ तथा उससे भी आगे औपनिषदिक क्रम से भूतों तक की सृष्टि निर्दिष्ट है।^३ यहाँ यह बताया गया है कि एक समय प्रलय काल में नारायण के नाभिकमल में उद्भूत भगवदंश चतुर्भुज ब्रह्मा सम्पूर्ण जगत् का सर्जन करते हैं।^४ पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों में चतुर्मुख ब्रह्म-सृष्टिपूर्वक जगत्सृष्टि-विषय का वर्णन प्रतिपादित है।^५

विमानार्चन-कल्प में देहोत्पत्ति-प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन किया गया है। तदनुसार औषधियों से अन्न पैदा होता है। अन्न मूत्र-पुरीष तथा पुरुष-शुक्र एवं स्त्री-शोणित (रजस्) के रूप में तीन प्रकार से परिणत होता है। स्त्री-शोणित तथा पुरुष-शुक्र क्षीर से घृत की भाँति सर्वव्यापिनी माया शक्ति होती है। पुरुष के बीजमूल में संचित शुक्र तथा स्त्री के कुचमूल में संचित शोणित

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८७.

२. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध ख, अध्याय १/७६-८५.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८७.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ८७.

५. क. नारदीयसंहिता १/६४-७३;

ख. जयाख्यसंहिता २/३४-७३.

संयोग के समय दैवयोग से वायु के द्वारा गर्भाशय में प्रवेश करता है। गर्भाशय में शुक्र तथा शोणित एक रात में कलिल रूप में, दो रात में बुद्बुद रूप में, तीन रात में मांसल रूप में, चौथी रात में पेशल रूप में, पाँचवी रात में घन रूप में, छठी रात में व्यूह रूप में, सातवीं रात में बद्ध रूप में, आठवीं रात में सुकुमार रूप में, नवीं रात में यावन रूप में तथा दसवीं रात में वयस रूप में परिवर्तित होता है। अर्ध-मास में अण्डाकृति, एक मास में शरीराकृति, दो माह में शिर-बाहु-प्रदेशाकृति, तीन माह में जठर तथा कटिदेश, चतुर्थ मास में हाथ-पाँव, पाचवें मास में रोमकूपादि, छठें मास में अस्थिसंघाताकृति, सप्तम मास में जीव प्रकाश-स्वरूप में परिवर्तित होते हुए अष्टम मास में पूर्ण शरीर बनता है तथा नवें महीने में उसका प्रचलन होता है। इसके अनन्तर वह जन्म लेता है। शरीर में स्नायु, मज्जा और अस्थि रेतोमय त्वक्, रक्त तथा मांस शोणितमय स्वीकार किए गये हैं। षट्कोशविकृत त्वक्, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र ये क्रम से अन्तर्भूत, अर्थात् एकांशीभूत सप्त धातु हैं। यह गात्र सप्तधातुमय माना गया है। शुक्र की अधिकता से पुरुष, शोणित की अधिकता से स्त्री तथा दोनों की बराबर मात्रा में नपुंसक की उत्पत्ति होती है। पुरुष या स्त्री दोनों में से एक के अनुसार गर्भ का वर्ण होता है।^१ श्रीमद्भागवतमहापुराण में भी न्यूनाधिक रूप से यह विषय वर्णित है।^२

पञ्चविंशात्मक तत्त्व

शरीर में पृथिवी आदि महाभूतों का समवाय इस प्रकार निर्दिष्ट है—

शरीर में कठिन भाग पृथिवी, द्रव भाग अम्भस् तथा उष्ण अंश तेजस् है। जो सञ्चरणशील है वह अनिल है। छिद्ररूप श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश हैं। श्रोत्र से आकाश, वायु से स्पर्श, अग्नि से चक्षु, अप् से जिह्वा तथा पृथिवी से घ्राण का सम्बन्ध बताया गया है। इसी भाँति इन्द्रियों के यथाक्रम से शब्द, स्पर्श, रूप तथा गन्ध विषय स्वीकृत हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, तथा उपस्थ ये पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न कर्मेन्द्रियाँ हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्ग एवं आनन्द कर्मेन्द्रियों के विषय कहे गये हैं। पृथिवी आदि चार

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८८.

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण ३/३१/१-११.

महाभूतों से क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त ये चार अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। मन आदि चारों के यथाक्रम से संकल्प-विकल्प, अध्यवसाय, अनात्मा में आत्मबोध तथा अनुभूतार्थ स्मरण विषय हैं। मन का स्थान गले के अन्दर, बुद्धि का वदन में, अहंकार का हृदय में तथा चित्त का स्थान नाभि में निरूपित है।^१

अस्थि, चर्म, रोम, नाडी तथा मांस पृथिवी के अंश कहे गये हैं। मूत्र, श्लेष्मा, रक्त, शुक्र, मेद तथा स्वेद अप् के अंश माने गये हैं। क्षुत्, तृष्णा, निद्रा, आलस्य, मोह एवं मैथुन अग्नि के अंश बतलाये गये हैं। प्रचरण, विलेखन, उन्मीलन और मीलन वायु के अंश माने गये हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आकाश के अंश स्वीकारे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पृथिवी गुण बतलाये हैं। अप् के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा अग्नि के तीन गुण शब्द, स्पर्श तथा रूप हैं। वायु के दो गुण शब्द तथा स्पर्श तथा आकाश का एक मात्र गुण शब्द कहा गया है।^२

सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण, इनके लक्षण और कार्य भी व्यवस्थित रूप से निरूपित हैं। अहिंसा आदि सात्त्विक, अहंकार आदि राजस तथा निद्रा-आलस्य आदि तामस पदार्थ-वर्गों के लक्षण कहे गये हैं। सात्त्विक का स्थान ऊर्ध्व, राजस का स्थान मध्य एवं अधः स्थान तामस का है। सम्यक् ज्ञान को सात्त्विक, धर्म ज्ञान राजस और तिमिर को अन्ध-तामस माना गया है।^३

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय चार अवस्थाएँ निर्दिष्ट हैं। जाग्रदवस्था में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरणचतुष्टय ये चौदह करण विद्यमान रहते हैं। स्वप्नावस्था में अन्तःकरणचतुष्टय, सुषुप्ति अवस्था में चित्तमात्र की स्थिति रहती है। तुर्यावस्था केवल जीवयुक्त कही गई है। परमात्मा और जीवात्मा इन दो में से जीवात्मा क्षेत्रज्ञ जाना जाता है। वह

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८९.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ८९.

३. ऊर्ध्वं सात्त्विकाः, मध्ये राजसाः, अधस्तात् तमसा इति। सम्यग्ज्ञानं सात्त्विकम्, धर्मज्ञानं राजसम्, तिमिरोऽन्धं तामसमिति। विमानार्चनकल्प, पटल ८९.

क्षेत्रज्ञ जीवात्मा पुरुष पञ्चमहाभूत, देहेन्द्रियभूत गुणों तथा करणचतुष्टय से युक्त होकर पञ्चविंशात्मक होता है। अतः देह भी पञ्चविंशात्मक स्वीकारा गया है।^१ सामान्यतः यही वैखानस आगम की सृष्टिप्रक्रिया तथा तत्त्व-विवेचन है।

मुनि मरीचि ने विविध तत्त्वों की सृष्टि के साथ देह के अन्दर विद्यमान विभिन्न अङ्गों का भी निरूपण किया है। तदनुसार मानव का शरीर उसकी अंगुली से छियानवें (९६) अंगुल मान का होता है उससे बारह अंगुल अधिक प्रमाण वाला प्राण प्राणायाम के द्वारा समान होता है। देह में गुदा से दो अंगुल ऊपर देह-मध्य की स्थिति बताई गयी है। देह-मध्य में स्वर्णाभा से युक्त त्रिकोण वह्निमण्डल है। उसके मध्य में बिन्दुनाद के साथ रेफबीज जलता है। उसके मध्यमण्डल में पुरुष यज्ञमूर्ति विराजमान है। वह यज्ञमूर्ति नाना विशेषणों से विभूषित है। यह यज्ञमूर्ति त्रिपाद पीताम्बरधारी, श्रीवत्साङ्ग, किरीटकेयूरहारादि सर्वाभरण से युक्त है। मूर्ति के दक्षिण तथा वाम भाग में क्रमशः स्वाहा तथा स्वधा का स्थान निर्दिष्ट है। मूर्ति सभी देवताओं से घिरी हुई है।^२

रेफबीज से नौ अंगुल ऊपर कन्द की स्थिति कही गयी है। कन्द के बीचोबीच द्वादशार चक्र है। उस चक्र में पुण्य तथा पाप से प्रचोदित तन्तुपञ्जरमध्यस्थ लूतिका(मकड़ी)सदृश प्राणारूढ जीव प्रवर्तित होता है।^३

नाभि से ऊपर उसके तिर्यक् भाग में नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई अष्टप्रकृतिक अष्टधा कुटिला नागरूपा विद्या आदि की ओर उन्मुख ऊर्ध्व द्वार को रोककर कन्द के पार्श्व भाग में स्थित कुण्डलीसदृश सर्पफणामणिमण्डल श्री से युक्त कुण्डलिनी शक्ति अपनी फण से ब्रह्मरुद्राख्य सुषुम्नानाडीरन्ध्र को छिपाकर बैठी है।^४

हृदय की स्थिति नाभि से वितस्ति मात्र ऊपर कही गयी है, जिसमें सभी प्रतिष्ठित हैं। हृदय में अर्कबिम्ब है। उसमें सकारबीजान्वित सहस्रज्वालायुक्त ज्योति जलती है। उसके मध्य मण्डलमूर्ति, विष्णुमूर्ति तरुणादित्य-प्रकाश

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८९.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ९३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

सदृश-स्वर्णमय हिरण्यश्मश्रु-केशनख युक्त, श्रीवत्साङ्कयुक्त, सौम्य सुप्रसन्नमुख, सर्वाभरणभूषित, सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण-स्वरूप, दोनों देवियों तथा पार्षदों के साथ विराजमान हैं।^१

हृदय से ऊपर नासाग्र में शुद्ध-स्फटिक-प्रकाश-सदृश चन्द्रबिम्ब में ऋकारबीजान्वित अमृतस्त्रावयुक्त श्वेतप्रकाश के मध्य मण्डलपुरुष नारायण-मूर्ति है। मूर्ति का स्वरूप शुद्ध स्फटिक सदृश प्रकाशमान, शङ्खचक्रगदाधारी, अभय तथा सर्वाभरणभूषित है।^२

नासाग्र-स्थित चन्द्रबिम्ब के ऊपर मूर्धा में सुषुम्ना के आगे मुक्ति का द्वार है। उसमें अधोमुख तथा ऊर्ध्वमूल रूप में षोडशदल शिरःपद्म की स्थिति कही गयी है। पद्म के मध्य में हजारों अमृतधाराओं से आप्लावित मण्डलपुरुष वासुदेव का ध्यान वर्णित है।^३

तत्पश्चात् कन्द से उठा हुआ द्वादशाङ्गुलप्रमाण, सुज्ञान-नालवाला अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व-इन आठ ऐश्वर्य दलों से युक्त प्रकृत्यात्मक कर्णिका से उपेत, विद्यारूप केसर से संयुक्त, अधोमुख हृदयकमल में प्राणायाम से विकसित होकर ऊर्ध्वमुख होता है। उसके अन्दर कर्णिका के मध्य जलता हुआ विश्वतोमुख विश्वार्चिमहाग्नि आपादतलमस्तक सम्पूर्ण देह को संतप्त करता है। उसके मध्य पीताभ नीवरशूकसदृश पतली वह्निशिखा के बीच प्रज्वलित ज्योतीरूप, स्वसंकल्प से तप्त, जाम्बूनदप्रभावाला, पद्माक्ष, शुचिस्मित सर्वाभरणभूषित परमात्मा स्थित है। उसके दक्षिण तथा वाम भाग में श्री तथा भूमि (विभूति-माया) परिषद् देवों के साथ संस्थित हैं। उस विष्णु को जिज्ञासु व्यक्ति को ध्यान-योग के द्वारा ज्ञानचक्षु से देखने का यत्न करना चाहिए।^४

वैखानस मतावलम्बी उपर्युक्त विधि से विश्वव्यापी विष्णु को ध्यान-मन्थन के द्वारा आविर्भूत कर, भक्ति से सकल रूप का संकल्प कर, आवाहन

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९१.

पूर्वक अर्चन सम्पन्न करता है। यह कार्य श्रुतिसम्मत माना गया है। द्विजों के द्वारा नित्य विष्णु का अर्चन ही कर्तव्य कहा गया है।^१

जीव का स्वरूप

वैखानस आगम में सर्वत्र जीवात्मा शब्द प्रयुक्त है। जीवात्मा अञ्जन आभावाला नित्य शुद्ध बुद्ध निर्विकार तथा अणुप्रमाण कहा गया है। जीवात्मा सर्वग है। यह शरीर में प्रविष्ट होकर अपना कर्म सम्पादित करता है।^२ महामुनि अत्रि ने जीव के निर्वाण के लिए संयतेन्द्रिय रहने पर विशेष बल दिया है। प्रत्याहार आदि के द्वारा नारायण का ध्यान करना चाहिए। महर्षि मरीचि ने जीव के कर्म तथा उसके फल का प्रतिपादन भी किया है। कर्म के दो भेद—१. ऐहिक तथा २. आमुष्मिक कहे गये हैं। ऐहिक कर्म का विषय भोजन, आच्छादन, स्थान, गमन, आसन तथा शयन आदि बताया गया है। आमुष्मिक कर्म के अन्तर्गत अहिंसा, दान, धर्म, परोपकार, भगवदाराधन एवं पाप-पुण्य आदि सभी विषय समाविष्ट हैं। जीव दैवसंयोगात् मृत्यु के अनन्तर अपने कर्म के अनुसार परलोक में जाता है। वहाँ अपने कर्म का फल भोगकर फल के क्षीण होने पर आकाश में प्रवेश करता है।^३ आकाश में प्रविष्ट जीव वायु होकर अग्नि में प्रवेश करता है। अग्नि से धूम बनकर अप् में, अप्रूप से अभ्र में प्रविष्ट होता है। अभ्ररूप जीव वर्षा के रूप में पृथिवी पर आता है। भूमि से औषधियों तथा वनस्पतियों में प्रवेश करता है। औषधियों से अन्न में, अन्न से शुक्र तथा शोणित रूप में परिवर्तित होता है। शुक्र तथा शोणित रूप जीव स्वविषयक योनि में पहुँचकर प्रतिदिन वृद्धि लाभ करता है। इस प्रकार क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञों के परस्पर सम्बन्ध से अनन्त संसार स्थावर, जंगम, नर, मृग, पशु-पक्षी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज भेद से जीव बहुत से होते हैं।^४

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९१.

२. क. अञ्जनाभोऽथजीवात्मा नित्यः सर्वगतः शुचिः। एवं भूततनुं प्राप्य ततत् कर्मवशादसौ। समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध (क) अध्याय ६/६४.

ख. विमानार्चनकल्प, पटल ९३.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ९३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९३.

गर्भ में जीव शरीर धारण कर जन्म लेता है। इसके अनन्तर पत्नीमय माया-पाश में बँधकर भगवान् की माया से विमोहित हो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य तथा हिंसा आदि में लग जाता है। फिर योनिद्वार से निष्क्रमण कर पुनः पापयोनियों को प्राप्त करता है, पुनः स्वर्ग-नरक फल-जनक कर्मों में प्रवृत्त होता है तथा आगे उसीके अनुरूप जन्मलाभ करता है।^१ वैखानस आगम में जन्म-मृत्यु रूप आवागमन के कष्ट से छूटने के लिए विशेष रूप से सगुण-साकार नारायण की उपासना का विधान है। मुक्ति-प्रक्रिया का निरूपण करते हुए बताया गया है कि भक्तवत्सल होने कारण भगवान् अपने उपासकों को अनुग्रहपूर्वक अपनी माया से मुक्त करते हैं। मायामुक्त आत्मा सम्यक् ज्ञान में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् आश्रम-धर्म-युक्त जीव भगवदाराधन करता है। इस आराधना से संसारार्णव निमग्न जीवात्मा परमात्मा नारायण का दर्शन करता है। परमात्मा जीवात्मा को अपुनरावृत्ति-सम्पन्न दिव्यलोक प्रदान कर प्रसादित करते हैं। तब जीव कृतकृत्य हो जाता है।^२

अपवर्ग का स्वरूप

समस्त दार्शनिक प्रस्थानों में मोक्ष के स्वरूप पर विचार किया गया है। वैखानसागम में भी मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति पर चिन्तन किया गया है। तदनुसार मुनि मरीचि का अभिमत है—“संसारबन्धनवासनामुक्तिर्मोक्षः”^३ अर्थात् संसारबन्धनवासना से मुक्ति ही मोक्ष है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि आराधक की आराधना जितनी सूक्ष्म होती जायेगी, उतने ही सूक्ष्म एवं प्रभु के सान्निध्य (नैकट्य) को प्राप्त कराने वाले लोकों की प्राप्ति से बद्धजीव बन्धन-मुक्त होकर मोक्ष रूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर कृतार्थ होता है। जिन्हें हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—१. सालोक्य २. सामीप्य, ३. सारूप्य तथा ४. सायुज्य। इन चारों में क्रमशः सालोक्य में वैकुण्ठ में आमोद की प्राप्ति, सामीप्य में प्रमोद की प्राप्ति, सारूप्य में सम्मोद की प्राप्ति तथा सायुज्य में ऐक्य की प्राप्ति प्रतिपादित है।

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९४.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९४.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ९४.

यही वैखानस मत में मोक्ष का स्वरूप है, जो नारायण की आराधना के बिना कथमपि संभव नहीं है।^१ उल्लेखनीय बात यह है कि पाञ्चरात्रागम के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में यह मुक्ति का श्रेणी-विभाजन नहीं मिलता।

वैखानस आगम यह मानता है कि जीव ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत है और मुक्तावस्था में उसीमें सन्निविष्ट हो जाता है, जबकि रामानुज यह मानते हैं कि जीव का स्थायी अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार रामानुज के अनुसार जीव की अनेकता जागतिक सत्य मानी जाती है, जबकि वैखानस उसे कूटस्थ पुरुष से सृष्टि के उपरान्त प्रादुर्भूत मानते हैं। इस प्रकार वैखानस-सम्मत मुक्ति का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के मोक्ष-सिद्धान्त के अधिक निकट है, जिसे हम वेद की भाषा में “तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः” कह सकते हैं।^२

मोक्ष-प्राप्ति के उपाय भी यहाँ निर्दिष्ट हैं, जो चार हैं—१. जप, २. हुत, ३. अर्चना तथा ध्यान। भगवद्ध्यानपूर्वक सावित्री वैष्णवी ऋचा अथवा अष्टाक्षर आदि मन्त्रों का अभ्यास जप कहलाता है। अग्निहोत्रादि होम में जो हवन होता है, उसे हुत-आराधन के नाम से अभिहित किया गया है।

गृह या देवालय में वैदिक मार्ग से मूर्ति आदि में जो आराधना सम्पादित होती है, उसे अर्चनाराधन की संज्ञा दी गयी है। निष्कल तथा सकल विभाग को जानकर अष्टाङ्ग योगमार्ग द्वारा जीवात्मा परमात्मा का जो चिन्तन करता है, उसे ध्यान कहते हैं। इन चारों में अर्चनाराधन सर्वार्थसाधक कहा गया है।^३ भक्ति की भारी महिमा गायी गयी है। कहा गया है कि भक्ति परा पुण्या शुभप्रदा है, तृष्णा-वैतरणी के लिए यान है, देहबन्धमोक्षप्रदायिनी है, दुःखत्रयजाल-भेदिनी है, सर्वसिद्धिफलप्रदा है।^४

●

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९४.

२. ऋग्वेद १/२२/२०.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ९५.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २०.

तृतीय अध्याय

मन्त्र-विचार

तन्त्र-विधान में मन्त्र ही मुख्यमन्त्री होता है। वैखानस संप्रदाय से संबद्ध वैष्णवों के लिए प्रचलित क्रिया-कलापों के निष्पादन में शुद्ध रूप से वैदिक मन्त्रों का विधान है। इसीलिए वैखानसों के यहाँ पाञ्चरात्रिकों की भाँति कहीं भी हुम् तथा फट् आदि तान्त्रिक मन्त्रों का विनियोग नहीं मिलता। यही दोनों सम्प्रदायों में अन्तर है। वैखानस ग्रन्थों में पाञ्चरात्रादि आगमों की तरह मातृकाचक्र या मन्त्रोद्धार के लिए कोई विशेष विवरण नहीं मिलता, तथापि मन्त्र से संबद्ध विषय पर कुछ विचार निश्चित रूप से प्राप्त होते हैं। वैखानस गृह्यसूत्र में सांप्रदायिक अष्टाक्षरी तथा द्वादशाक्षरी मन्त्रों का जप-विधान विहित है ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो नारायणाय।^१

जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं कि वैखानस आगम में मातृका का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। फिर भी प्रतिमा-प्रतिष्ठा के अवसर पर विग्रह में मातृकान्यास का विधान प्राप्त होता है। इसका स्वरूप अधोलिखित है—

नादयुक्तं सुसन्न्यस्य राजमन्त्रेण वेष्टयेत् ॥
अकारं मस्तके पश्चादाकारं मुखवृत्तके ।
इकारं दक्षिणे नेत्रे ईकारं वामनेत्रके ॥
उकारं दक्षिणे कर्णे वामे चान्यं तथैव च ।
ऋकारं दक्षिणपुटे नासिकायाश्च वामतः ॥
अन्यं तद्गण्डयोः पश्चात् ललृकारौ क्रमेण तु ।
एकारमुदरे न्यस्य ऐकारं मूर्ध्नि एव च ॥
दन्तयोरुभयोः पार्श्वे ओकारौकारकौ तथा ।
शिरस्यङ्गारमेवं स्याज्जिह्वायां सविसर्गकम् ॥

स्वरान् क्रमेण विन्यस्य पश्चात्तदक्षिणे करे ।
 कवर्गमितरे हस्ते चवर्गं सन्धिषु न्यसेत् ॥
 टवर्गं दक्षिणे पादे वामपादे तवर्गकम् ।
 पार्श्वयोरुभयोः पश्चात् पकारद्वयमेव च ॥
 पृष्ठे बकारं जठरे भकारं हृदये ततः ।
 मकारं कुक्षिमध्ये तु यकारं बाहुमूलतः ॥
 रकारं तु गले चैव वामबाहौ वकारकम् ।
 पाणिना स्पृशताधश्च शकारं वक्रदक्षिणे ॥
 वामभागे षकारं स्याद्बृहदयादूर्ध्वतः क्रमात् ।
 परहस्ते विशेषेण सकारं दक्षिणे पुनः ॥
 हकारमितरे हस्ते स्पृशता पाणिना बुधः ।
 कूर्चस्याग्रेण वा पश्चाल्लकारं जठरे न्यसेत् ॥
 क्षकारं मस्तके न्यस्य मूर्ध्नि चान्यं न्यसेत्क्रमात् ।
 वर्णाधिपांस्तान् ध्यात्वैवं सनादप्रणवैर्युतान् ॥^१

यहाँ स्पष्ट रूप से अकार से क्षकार तक तथा सिर से पैर तक मातृकान्यास की स्थिति कही गयी है।^२

महर्षि मरीचि ने अपने ग्रन्थ में “अथातो मन्त्राणां कल्पं व्याख्यास्यामः” इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ मन्त्रविषय पर गम्भीरता से विचार किया है। महर्षि का मानना है कि “ओमिति ब्रह्म” इस श्रुतिसम्मत आधार पर मन्त्रों का प्राण ‘प्रणव’ ब्रह्मस्वरूप है। अस्तु, सारा संसार प्रणव से पृथक् नहीं है। ईश्वर ही प्रणव के रूप में जाना जाता है। प्रणव को त्र्यक्षर—अकार, उकार तथा मकार—स्वीकारा गया है। तीनों क्रमशः ऋग्, यजुष् तथा साममय हैं। ये क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण बताए गए हैं। इनके वर्ण श्वेत, पीत तथा कृष्ण हैं। भूर्भुवः तथा स्वः में तीनों की क्रमशः स्थिति वर्णित है। विष्णु, ब्रह्मा और शिव तीनों के देवता हैं। तीनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, अकार को वलयाकार, उकार को कुटिलाकार तथा मकार को बिन्दु-नाद

१. यज्ञाधिकार २९/२७-४०; अर्चनाधिकार २२; वासाधिकार १६.

२. यज्ञाधिकार २९/२९-४०; अर्चनाधिकार २२.

बताते हुए तीनों को प्रणव का लिपि-अंश कहा गया है। अकार, उकार के गुण के अनन्तर संयोग से ओकार बिन्दुनाद संयोग से प्रणव का 'ॐ'—यह रूप है।^१ प्रणव के प्रजापति ऋषि, गायत्रीछन्द, तथा ब्रह्मा अधिदेवता है।^२ इसका गोत्र अथर्वन् है।^३

प्रणव के अंशभूत लिपि आदि के विवेचनोपरान्त महर्षि मरीचि प्रणव के स्वरूप पर विचार करते हुए कहते हैं कि प्रणव का वर्ण पीत है। यह सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु, सहस्राक्ष, सहस्रोदर, सहस्रपाद, ऊर्ध्वकेश, रक्तास्य-पाणिपाद, शुकपिच्छाम्बरधर है। विष्णु जीवात्मा, ब्रह्मा बुद्धि, ईश कोप, चित्त सोम, अतलादि सात पाद, भुजंग अंगुलियाँ, नदियाँ अप्सराएँ, भूरादि सात लोक कुक्षि है। वसु नाभि, महाण्ड बहिरण्ड तथा वैष्णवाण्ड शीर्ष अग्निष्टोमादि यज्ञ केश, व्योम ललाट, भ्रुवौ मेधा, चन्द्र और अर्क दोनों नेत्र, शुक्र तथा बृहस्पति दोनों कान, अश्विनीकुमारद्वय नासिका, वायु दन्त, सरस्वती जिह्वा, दोनों संध्या के नित्याग्निहोत्र ओष्ठ, सभी अग्नियाँ वदन, शचीपति ग्रीवा, दिशाएँ बाहु, सभी रुद्र सन्धियाँ, नक्षत्रगण अंगुलियाँ, तारागण नख, मित्रावरुण वृषण, प्रजापति उपस्थ, मरुत् पृष्ठ, पर्वत अस्थियाँ, मन्दर मांस, ओषधियाँ शोणित, प्रलयशिरा नदियाँ, समुद्र मूत्रकोश, काञ्चन पुरीष, अमृत रेतस्, लोकालोक त्वक्, ऋषिगण रोमकूप, वर्षा स्वेद, सर्वौषधियाँ वसन, वेदेतिहास आभरण, सृष्टि, स्थिति तथा संहार क्रीडा, कल्पव्याकरणनिरुक्तादि चतुःषष्टि कलाएँ व्याख्यानरूप बताए गए हैं। महर्षि मरीचि का अभिमत है कि बहुत भाषण से क्या? संपूर्ण संसार और सृष्टि को प्रणव से पैदा हुआ मानकर यथाशक्ति प्रणव का जप करना चाहिए। प्रणव को एकमात्र या त्रिमात्र रूप में सभी मन्त्रों के जपारम्भ में, तीन बार उच्चारित करना चाहिए। समाप्ति में भी यही विधान है। प्रणव के बिना सभी जप नष्ट हो जाते हैं। अस्तु, प्रणव के बिना कोई अन्य मन्त्र नहीं है।^४

महर्षि काश्यप द्वारा प्रणीत वैखानस आगम के ज्ञानकाण्ड के अष्टाक्षर

१. विमानार्चनकल्प, पटल ८३.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ८२.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ८३.

कल्प में प्रणव का वर्णन आया है। महर्षि मरीचि की अपेक्षा कई बातों में समानता रहते हुए भी कुछ बातें इस तन्त्र में अधिक स्पष्ट हैं, जैसे—इसमें मन्त्र की उत्पत्ति साक्षात् विष्णु के मुख से मानी गयी है। वह इनके (विष्णु के) मुख से च्युत है, अर्थात् इसके निःसरण में स्वाभाविकता है, आयास नहीं। यहीं इसे पर से भी पर आदिबीज माना गया है। एक विशेष बात यह है कि इसका वर्ण मध्याह्नकालीन सूर्य के सदृश माना गया है। इसे एक स्वरूप भी प्रदान किया गया है। यह पद्मासन में स्थित है। इसका मुकुट जाज्वल्यमान है। यह सुन्दर अलंकारों से युक्त है। शंख, कृपाण, शक्ति, धनुष, पाश, हल तथा मुसल इसके हाथों में है। यह धन तथा श्री प्रदान करनेवाला एवं स्फीतवाक् माना गया है। सभी देवताओं द्वारा वन्दित है। इस प्रकार यजुर्वेद में वर्णित पुरुष के आकार से इसके आकार की तुलना के साथ ही साथ इसका आसन आदि के द्वारा आगमिक स्वरूप भी प्रतिपादित है।^१

इसी भांति श्रीमन्नारायण से प्रणव की एकता बताते हुए यह भी प्रतिपादित किया गया है कि 'अ' परब्रह्म का द्योतक है। 'उ' लक्ष्मी का द्योतक है तथा 'म्' जीवात्मा का बोध कराता है। इस प्रकार तीनों समवेत रूप से 'प्रणव' के ही द्योतक हैं। 'प्रवण' शब्द से 'प्रणव' की उत्पत्ति बतायी गयी है। यह नियम उल्लिखित है कि जिस प्रकार 'पश्यक' से 'कश्यप' तथा 'हिंस' से 'सिंह' शब्द की व्युत्पत्ति ग्राह्य होती है, उसी प्रकार 'प्रवण' से वर्णव्यत्यय द्वारा 'प्रणव' शब्द की सिद्धि होती है। अर्थात् नारायण में सर्वतोभावेन प्रवाहित होने के कारण 'प्रणव' नारायण ही है।^२

महर्षि अत्रि ने भी 'ॐ' को एकाक्षर ब्रह्म माना है। ऐसी मान्यता है कि विष्णु के परमपद को प्राप्त करने की कामना करने वाला व्यक्ति 'ॐकार' रूपी रथ पर चढ़कर तथा अपने मन को सारथी बनाकर इस दिव्य ज्ञान की

१. अथातोऽष्टाक्षरकल्पं व्याख्यास्यामः। अयं मन्त्रः साक्षाद्विष्णुमुखात् च्युतः। ॐकारः प्रथममादिबीजं परमात्मिकं तरुणार्कवर्णं सहस्रशीर्षं सहस्राक्षं सहस्रबाहुः सहस्रपात् श्रीवत्सालङ्कृतोरस्कं शङ्खासिक्तिसारङ्गपाशहलमुसलयुतं वसुप्रदं जाज्वल्यमानमुकुटं दिव्याभरणमण्डितं पद्मासनस्थितं दीर्घनादं सर्वदेवनमस्कृतं परमपुरुषाधिदैवतम्। एतन्मन्त्रं प्रमाणमिति विज्ञायते।- काश्यपज्ञानकाण्डे, अध्याय १०६, पृ० १७२.

२. आगमकोश-भाग ३, वैखानस आगम, पृष्ठ ११३, प्रकाशित, कल्पतस रिसर्च अकादेमी, बंगलौर।

प्राप्ति कर सकता है। इसे त्रिस्वभाव तथा त्रिरात्मा भी कहा गया है। बल, वीर्य तथा तेज—ये इसके त्रिरात्मक रूप हैं तथा कर्म, अनुग्रह और ध्यान—ये इसके त्रिस्वभाव हैं। इस प्रकार विष्णु त्रिव्यूह है और प्रणव उनका वाचक है।^१ इस तरह प्रणव सर्वव्यापी परमात्मा का ही स्वरूप माना गया है और इसकी उपासना से मनुष्य को सभी सिद्धियाँ प्राप्तव्य बतायी गयी हैं।

अष्टाक्षर मन्त्र का स्वरूप “ॐ नमो नारायणाय” है। इसमें ॐ आदि बीज है। नकार ‘कपिल’ को अधिदैवत रूप में कहा गया है। यह ज्ञानप्रद तथा पाश का सर्वथा छेदन करने वाला है। इसका स्वरूप तीन सिर, छः भुजाएँ, रक्त वर्ण, लम्बी दाढी तथा ह्रस्व नाद माना गया है। विरञ्चि को मकार का देवता माना गया है। इनको श्वेत वर्ण, शान्तरूप, दो भुजाएँ, रक्त कमल पर विराजमान जटा-वल्कलधारी के रूप में कल्पित किया गया है। इनका नाद दीर्घ है। अग्रिम नकार का अधिदेवता प्रजापति है। इसका वर्ण धूम्र है चार भुजाएँ हैं, चतुर्मुख, दाढी से युक्त कमल की माला धारण किए हैं, स्फटिक आसन पर आसीन हैं। इनका नाद प्रांशु है। रकार का अधिदैवत रूप अग्नि है। इसका आकार वह्निशिखा के सदृश है। श्यामवस्त्र में पुरुषरूप धारी इन का नाद स्वरित है। यकार शक्ति का प्रतीक है। यह प्रकृति से उत्पन्न होने वाला, श्रीस्वरूपयुक्त, कन्धे पर स्वर्णकुम्भ धारण किये हुए श्वेतवस्त्रधारी दो भुजाओं वाला तथा अनुदात नाद वाला है। यह सभी खजानों से घिरा हुआ, तीन रत्नों से युक्त, दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करनेवाला और धन-सम्पत्ति से दरिद्रतारूपी अन्धकारों को नाश करने वाला है। यही परमात्मा का शक्ति-स्वरूप है, ऐसा आचार्यों का कहना है। णकार का आधिदैविक रूप

-
१. ज्ञानयोगक्रियाचर्याप्रायश्चित्तं प्रवक्ष्यते। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म प्रथमं परिपठ्यते॥
वेदाः संप्रणमन्त्येनं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत्। ॐकाररथमारुह्य मनः कृत्वा तु सारथिम् ॥
ब्रह्मलोकपदान्वेषी याति विष्णोः परं पदम्। एवं प्रणवभूतस्य ज्ञानं दिव्यमिदं विदुः॥
भगवतो बलेनेति त्रिस्वभावस्त्रिरात्मनः। बलं वीर्यं तेज इति त्रिरात्मा गुणसंस्थितः॥
कर्मणानुग्रहे ध्यानं त्रिस्वभावा इति स्मृतम्। बलादिमन्त्रसिद्धेन षड्गुणनिरतेन च॥
पञ्चव्यूहचतुर्व्यूहमन्त्रसिद्धसमाधिना। व्यूहे सत्योऽच्युतो रूपोऽनिरुद्ध इति मन्त्रतः॥
त्रिव्यूह इति निर्दिष्ट ॐकारो विष्णुरव्ययम्। भगवद्वाचकाः प्रोक्ताः प्रकृतेः परतस्तथा॥—
समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध (क), तृतीयाध्याय, पृ० ४८१-८२.

आत्मा है। यह क्षेत्रज्ञ से उत्पन्न होता है। गोदुग्ध के समान इसकी आभा है। चतुर्भुजरूप वाला यह पुरुष है। अन्तिम यकार का आधिदैविक रूप प्राण है। यह निष्कल, ध्यानरूप से सुशोभित, ह्रस्वनाद वाला, सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला, पृथ्वी में सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार अष्टाक्षर मन्त्र की उपासना आधिदैविक रूप में की जाती है।^१ ज्ञातव्य है कि इसके आठ अक्षर प्रणव को लेकर ही पूरे होते हैं। अतः प्रणव आदिबीज के रूप में इन सभी अक्षरों में अनुस्यूत है। इस मन्त्र के आठ अक्षरों में परमात्मा, अर्थात् नारायण की व्याख्या की गयी है। जिसका शरीर न होते हुए भी गति है, वह देव परमात्मा नारायण है। 'परमात्मा एव पारमात्मिकः' कहकर पारमात्मिक भी कुछ लोग कहा करते हैं। इस अष्टाक्षर के अधिदेवता नारायण है, गायत्री छन्द है, ऋषि सांकृत्यायन है। यह मन्त्र स्वयं ही पाँच अङ्गोंवाला है। यह परमात्मा सभी सिद्धियों का प्रदाता है। मनुष्य लोग इसे 'श्रीकरम्' अर्थात् श्रेय प्रदान करने वाला कहते हैं। नाग लोग 'मङ्गल्यकरम्' अर्थात् मङ्गल करनेवाला कहते हैं। विष्णु की मन में भावना कर के भक्तिपूर्वक निश्चल होकर प्रणवान्वित अष्टाक्षर मन्त्र का यथाविधि जप करना चाहिए।^२

किसी भी जप में संप्रदायानुरूप न्यास का विधान किया जाता है। न्यास का अभिप्राय है मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को साधक के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में परिकल्पित कर मन्त्र के स्वरूप की मानसिक परिकल्पना करना। इससे एक ओर मन शुद्ध तथा केन्द्रित होता है और दूसरी ओर साधक अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को मन्त्र के लिए समर्पित करता है। 'काश्यप' के ज्ञानकाण्ड में प्रणव के साथ अष्टाक्षर मन्त्र के न्यास का विधान बताया गया है। प्रणव स्वयं मननात्मक होने के कारण मन्त्र है। इसका न्यास तीन प्रकार का माना गया है—सृष्टि, स्थिति तथा संहति। सृष्टि की स्थिति में प्रणव सर्वप्रथम मूर्धा पर न्यास करके इसके पश्चात् क्रमशः ललाट, नेत्र, नासिका, जिह्वा, हृदय, नाभि, गुह्य, चरणादि स्थानों पर न्यास किया जाता है। ये अष्टाक्षर न्यास सृष्टिन्यास कहे जाते हैं। इसके विपरीत पाद से प्रणव के न्यास का आरम्भ

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०७.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०८.

करके विपरीत क्रम से मूर्धा तक अष्टाक्षर न्यास को संहतिन्यास कहते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम जठर में प्रणव का न्यास कर दूसरी बार दोनों पैरों में, तीसरी बार दोनों भुजाओं में, चौथी बार हृदय में, पांचवीं बार दोनों नेत्रों में छठी बार सिर पर, सातवीं बार मुख पर और आठवीं बार दोनों कानों पर आदि से अन्त तक प्रणव-युक्त अष्टाक्षरों का विन्यास स्थितिन्यास कहलाता है। इस प्रकार प्रणव से सूक्ष्म रूप में आविर्भूत होनेवाली तथा उसीमें स्थित रहकर पुनः उसी (प्रणव) में तिरोहित होनेवाली सृष्टि-प्रक्रिया के संपादन द्वारा साधक जीवन-वृत्त से अपने को उन्मुक्त करता है।^१

यहाँ मन्त्र के अधिकारी-भेद पर भी विचार किया गया है। इस मन्त्र को स्त्री, शूद्र, अनुपेत तथा अशिष्य (जो एक वर्ष तक साथ में न रहा हो), को नहीं देना चाहिए, अन्यथा मन्त्र-दान निष्फल हो जाता है।^२

प्रणव के विस्तृत विवेचनोपरान्त महर्षि मरीचि ने “अथ सावित्रीकल्पम्” इस कथन के साथ गायत्री मन्त्र पर गहन विचार करते हुए श्रुतिसम्मत गायत्री को चतुर्विंशत्यक्षरा कहा है। गायत्री का सविता देवता होने के कारण इसे सावित्री भी कहते हैं। इसके विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द और सविता अधिदेवता हैं।^३ ‘त्रिपदा गायत्री’ अष्टाक्षरा तथा चतुष्पदा गायत्री षडक्षरा मानी गई हैं। जप के विधान में त्रिपदा तथा अर्चनक्रम में चतुष्पदा स्वीकृत है।^४

गायत्री का स्वरूप अग्निवर्ण, षट्कुक्षि, पंचशीर्ष, शुक्लमुख, कमलेक्षण, ऋग्वेद प्रथमपाद, यजुर्वेद द्वितीयपाद, सामवेद तृतीयपाद है। पृथ्वी चरण, पर्वत ऊरु, अम्बर अस्थि, पूर्व दिशा पहली कुक्षि, दक्षिण दिशा दूसरी कुक्षि,

१. अनुमान्य विष्णु भक्ति समाविश्य निश्चलो भूत्वा प्रणवान्वितं ज्ञात्वा यथाविधि जपमारभेत। न्यासस्त्रिविधो भवति सृष्टिः स्थितिः संहतिश्चेति। मूर्ध्नि प्रणवं विन्यस्य पश्चाल्ललाटनयनघ्राण-जिह्वाहृदयनाभिगुह्यचरणान्तरेषु यथाक्रमेण अष्टाक्षराणि न्यस्य सृष्टिन्यासः। पादे प्रणवं विन्यस्यैतद्विपरीतं क्रमेण ज्ञात्वा पादादिललाटान्तं विन्यस्य प्रणवं मूर्ध्नि विन्यसेदेष संहतिन्यासः। जठरे प्रथमं विन्यस्य द्वितीयं पादयोः स्य तृतीये बाह्वोः चतुर्थं हृदये पञ्चमं नयनयोः, षष्ठं शिरसि सप्तमं वक्त्रे, अष्टमं कर्णे आद्यन्तं प्रणवयुतं क्रमेणाष्टाक्षराणि विन्यस्य स्थितिन्यास इति विज्ञायते। ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०८.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०७.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८२.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ८४.

पश्चिम तीसरी, उत्तर चतुर्थी, ऊर्ध्व पञ्चमी और अधः षष्ठी कुक्षि कथित है। पुराण आन्त्र, जगती दिव्यरूप, आकाश उदरान्तर, छन्दस् स्तनद्वय, धर्मशास्त्र जिह्वा, न्याय बाहु, गिरा ग्रीवा, शब्दशास्त्र प्रथम शिर, शिखा द्वितीय, कल्प तृतीय, निरुक्त चतुर्थ तथा ज्योतिष पञ्चम शिर माना गया है। अनल मुख, इन्दुमण्डल वदन, वायु श्वसन, नक्षत्रपंक्ति अलका, सहस्रकिरण मौलि, तारा कुसुम, नक्षत्रमाला हार, सभी ग्रह रत्नविभूषण, ब्रह्मा मूर्धा, शिव शिखा, विष्णु आत्मा, वेदान्त विमल मन, वेद प्राण तथा मीमांसा चित्र रूप में चित्रित हैं।^१

इसी स्थल पर प्रणव रूप गायत्री का ध्यान तीन तरह से बतलाया गया है। पूर्व संध्या में कौमारी रक्तवर्णा, हंसवाहिनी, अक्षसूत्र-यज्ञोपवीत-कमण्डलु-धारिणी, ब्रह्मदैवत सावित्री नामक गायत्री का ध्यान किया जाता है। इनका आवास वह्नि में होता है। मध्य संध्या में यौवनी, रुद्राक्ष-अर्धचन्द्रशूलधारिणी, श्वेतवर्णा, वृषभवाहिनी, रुद्रदैवत गायत्री नामक गायत्री का ध्यान मान्य है। इसका वास अन्तरिक्ष में है। सायं सन्ध्या में लक्षणयुक्त श्यामवर्णा, सर्वाभरण-भूषिता, शंखचक्रधारिणी, गरुडवाहिनी विष्णुदैवत सरस्वती नामक गायत्री का ध्यान विहित है। इसका वास स्वर्ग में है। त्रिकाल सन्ध्या में तीनों रूपों का ध्यान क्रमशः ध्यातव्य है।^२

इसके अनन्तर गायत्री के अक्षरन्यास (पादादिमूर्धान्त चौबीस अङ्गों में) वर्णों के रूप, उसके देवता तथा उनके फल का विस्तृत विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है—

क्र०	अङ्ग	अक्षर	स्वरूप	देवता	फल
१.	पादाङ्गुष्ठौ	तत्	पीताभ	ब्रह्म	महापातकनाश
२.	अङ्गुलद्वय	स	श्यामाभ	प्रजापति	उपपातकनाश
३.	जङ्घाद्वय	वि	पिङ्गलाभ	सौम्य	महापातकनाश
४.	जानुद्वय	तुः	नीलाभ	ईश्वर	दुष्टपापग्रह- रोगाद्युपद्रवनाश

५.	ऊरुद्वय	व	वह्निवर्ण	सौम्य	भ्रूणहत्यादिदोषनाश
६.	गुह्यदेश	रे	ज्वालारूप	बृहस्पति	आगम्यागम्यनपापनाश
७.	वृषण	णि	विद्युन्निभ	इन्द्र	अभक्ष्यभक्षण-दोषनाश
८.	कटिदेश	यं	हेमाभ	वैष्णव बीज	ब्रह्महत्यादि-सर्वपापनाश
९.	नाभि	भ	कृष्णाभ	अर्यमा	पुरुषहत्यादिपापनाश
१०.	जठर	गो	रक्ताभ	सविता	गोहत्यादिपापनाश
११.	स्तनद्वय	दे	श्यामाभ	त्वष्टा	स्त्रीहत्यादिपापनाश
१२.	हृदय	व	श्वेताभ	पूषा	गुरुहत्यादिपापनाश
१३.	कण्ठ	स्य	स्वर्णाभ	इन्द्र	कूटकृतपापनाश
१४.	वदन	धी	पद्मसंकाश	वायु	अभक्ष्यभक्षण- दोषपापनाश
१५.	तालु	म	पद्मरागाभ	वायु	जन्मान्तरकृत- पापनाश
१६.	नासाग्र	हि	श्वेताभ	मित्रावरुण	सर्वपापनाश
१७.	चक्षुर्द्वय	धि	पुण्डरीकाभ	प्रजापति	प्रतिग्रहदोषनाश
१८.	भ्रूमध्य	यो	कपिलाभ	तिश्वदेव	प्राणिहिंसापापनाश
१९.	ललाट	यो	कपिलाभ	विष्णु	दुष्टपापनाश
२०.	ललाट पू०	नः	आदित्य वर्ण	इन्द्र	इन्द्रलोकप्रद
२१.	ललाट द०	प्र	नीलश्याम	रुद्र	ईश्वरलोकप्रद
२२.	ललाट प०	चो	पीत वर्ण	ब्रह्मा	ब्रह्मलोकप्रद
२३.	ललाट उ०	द	शुद्ध- स्फटिक रूप	विष्णु	विष्णुलोकप्रद
२४.	मूर्धा	यात्	हेमाभ	चतुर्मुख	सर्वसिद्धिप्रद

इस प्रकार मरीचि ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से गायत्रीमन्त्र का स्वरूप दिखलाया है और कहा गया है कि तीनों संध्याओं में इसका जप किया जाना चाहिए। सावित्री-अध्ययन से आयु, श्री, ब्रह्मवर्चस्, प्रजासमृद्धि और धनधान्यवृद्धि

होती है। यह ऐहिक और आमुष्मिक फलदायक है। मन्त्र-जाप करने वाला इस लोक में अभीष्ट प्राप्त कर अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।^१

महर्षि मरीचि ने मन्त्रों, ऋष्यादिकों के स्मरण की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि सभी मन्त्रों में प्रत्येक के ऋषि, छन्द तथा देवता का ध्यान कर ही उसका उच्चारण करना चाहिए, नहीं तो मन्त्र-जप निष्फल हो जाता है, उसे असुर ग्रहण कर लेते हैं।^२ महर्षि ने सन्ध्योपासना के उपयोग में आने वाले मन्त्रों के ऋष्यादि का विस्तार से वर्णन किया है। यथा—‘सावित्री’ मन्त्र के विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द तथा सविता देवता वर्णित हैं।^३ ऋषि आदि की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका मानना है कि प्रायः सभी मन्त्रों का ऋषि अन्तर्यामी, छन्द गायत्री एवं नारायण देवता होता है।^४

वैखानसागम में प्रयुक्त मन्त्रों के प्रयोग के विषय में अपेक्षित अन्य बातों की चर्चा भी आवश्यक है। वैखानसागम-संहिताओं में वैदिक ऋचाओं, सूक्तों तथा सामगान का प्रयोग विविध क्रियाओं के अवसर पर दृष्टिगोचर होता है। विशेष रूप से इन मन्त्रों का प्रयोग प्रतिष्ठादि विविध उद्देश्यों के अवसर पर देखा जाता है। विमानार्चनकल्प का इकतालीसवाँ पटल नित्यार्चनविधि के लिए समर्पित है। यहाँ मन्त्रस्नान, आचमन, प्राणायाम, सावित्रीजप, सन्ध्याविधि, देवतातर्पण द्वारा ब्रह्मयज्ञ करना वर्णित है। तत्पश्चात् ‘प्र तद्विष्णुस्तपत’ मन्त्र द्वारा देवालयगमन से आरम्भ कर विग्रहाराधन की सम्पूर्ण प्रक्रिया विविध मन्त्रों द्वारा सम्पन्न कर ‘सूर्यस्त्वे’ इस मन्त्र द्वारा कपाट बन्द होने तक की पूरी विधि वर्णित है।^५ समूर्तार्चनाधिकरण में न्यूनाधिक्य रूप में यही क्रम निर्दिष्ट है।^६



१. विमानार्चनकल्प, पटल ८४.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ८१.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ८२.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ८१.

५. विमानार्चनकल्प, पटल ४१.

६. समूर्तार्चनाधिकरण, अध्याय ४०.

चतुर्थ अध्याय योग तथा नाडीचक्र

समस्त आगमिक सम्प्रदायों में योग का स्वरूप प्राप्त होता है। तदनुसार वैखानसागम में भी प्राप्त होना स्वाभाविक है। यद्यपि वैखानस आगम के सभी ग्रन्थों में हम योग का विस्तृत विवेचन नहीं देखते, फिर भी विमानार्चनकल्प में अष्टाङ्ग योग का स्पष्ट वर्णन देखा जा सकता है। यहाँ सर्वप्रथम योग का लक्षण करते हुए महर्षि मरीचि का कहना है—“जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति”^१। अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा के योग को योग कहते हैं^२। पाञ्चरात्रागम में भी यही परिभाषा दी गयी है।^३ योग का यह लक्षण पतञ्जलि के “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः”^४ इस लक्षण से सर्वथा भिन्न तथा विलक्षण है।^५

जहाँ तक योग के अङ्गों का प्रश्न है, उस क्रम से वैखानस आगम ने भी योग के आठ अङ्गों को स्वीकार किया है। वे आठ अङ्ग हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. ध्यान, ७. धारणा तथा ८. समाधि।^{*} इन आठ अङ्गों में से प्रत्येक के भी प्रभेद कहे गये हैं। उनके लक्षण भी निर्दिष्ट है। जैसे यम का विवरण देते हुए यम के अधोलिखित दस भेद कहे गये हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. गृहस्थों की स्वदारा में निरति तथा अन्यत्र सर्वत्र मैथुनत्याग, ५. दया, ६. आर्जव, ७. क्षान्ति, ८. धैर्य, ९. मिताशन तथा १०. शौचा^५ नियम में भी दस गुणों का समुच्चय है। जैसे—१. तप, २. सन्तोष, ३. आस्तिक्य,

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९६.

२. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।-अहिर्बुध्न्यसंहिता ३१/१५.

३. योगसूत्र १/२.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ९६. ख. नारदीयसंहिता ३०/९-२०.

५. विमानार्चनकल्प, पटल ९६.

५. विष्णु-अर्चन, ६. वेदार्थश्रवण, ७. कुत्सित कर्म में लज्जा, ८. गुरु के उपदेश में श्रद्धा, ९. मन्त्रों का अभ्यास तथा १०. होम। ये सभी यम-नियमों के अन्तर्गत आये २० गुणों से युक्त व्यक्ति योग के लिये अधिकारी माना गया है।^१

यम तथा नियम के बाद योग के तीसरे अङ्ग आसन की चर्चा के क्रम में आसन के नौ प्रकार कहे गये हैं। जैसे—१. ब्राह्म, २. स्वस्तिक, ३. पद्म, ४. गोमुख, ५. सिंहमुख, ६. मुक्तासन, ७. वीरासन, ८. भद्रासन तथा ९. मयूरासन। मुनि मरीचि ने विस्तारपूर्वक स्पष्ट रूप से इन आसनों के स्वरूप का निर्देश भी किया है।^२ उपर्युक्त नौ आसनों में ब्रह्मासन, स्वस्तिकासन तथा पद्मासन को उत्तम कहा गया है। गोमुख, सिंहमुख तथा मुक्तासन को मध्यम आसन एवं वीरासन, भद्रासन तथा मयूरासन को अधम आसन बताया गया है।^३

आसन के बाद योग का चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम आता है। प्राणायाम का विवरण देते हुए उसका लक्षण प्रतिपादित है। कहा गया है कि प्राण, अपान तथा समान वायुओं के योग को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम तीन तरह का होता है—१. रेचक, २. पूरक तथा ३. कुम्भक। श्वास के विसर्जन को रेचक, श्वास को ऊपर की ओर ले जाने को पूरक तथा श्वास के निरोध को कुम्भक कहा गया है। विमानार्चनकल्प में प्राणायाम के स्वरूप-वर्णन के क्रम में उपर्युक्त रेचक, पूरक तथा कुम्भक इन तीनों प्रक्रियाओं का अत्यन्त विस्तारपूर्वक निर्देश हुआ है।^४

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए कहा है कि अपने विषयों से सम्बन्ध-रहित इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप के साथ तदाकार हो जाना ही प्रत्याहार है।^५

१. विमानार्चकल्प, पटल ९६.

२. पाद्मसंहिता, योगपाद १/१०७२२.

३. विमानार्चकल्प, पटल ९६.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९६.

५. योगसूत्र, साधनपाद ५४.

प्रत्याहार की चर्चा करते हुए विमानार्चनकल्प में प्रत्याहार के पाँच प्रकार बताये गये हैं। जैसे—१. इन्द्रियों का उनके विषयों से बलात् आहरण, २. अपनी आत्मा में सभीका स्वात्मवत् दर्शन, ३. विहित कर्मों का पूर्ण मनोयोगपूर्वक सम्पादन, ४. पादाङ्गुष्ठ से मूर्धापर्यन्त अठारह मर्म-स्थानों में वायु का आरोपण तथा धारण, एक स्थान से दूसरे स्थान में ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर समाकर्षण। ५. नाडी-मार्गों में वायु का आरोपण कर निरोध करना। इन पाँचों प्रकारों को प्रत्याहार कहा गया है।^१ पादाङ्गुष्ठ से मूर्धापर्यन्त स्थित अठारह मर्म-स्थान अधोनिर्दिष्ट हैं, उनमें से अधिकांश का प्रमाण भी बताया गया है। जैसे—१. पाद सार्धचतुरङ्गुल, २. गुल्फ अंगुलमात्र ३. जंघामध्य दस अंगुल ४. चित्तिमूल दस अंगुल, ५. जानु दो अंगुल, ६. ऊरुमध्य नौ अंगुल, ७. पायुमूल नौ अंगुल, ८. देहमध्य सार्धसप्तांगुल, ९. मेढ्र सार्धद्व्यंगुल, १०. नाभि चतुरंगुल, ११. हृदय एकादशांगुल, १२. कण्ठकूबर द्वादशांगुल, १३. तालुमूल षडंगुल, १४. नासिकामूल चतुरंगुल १५. अक्षिमण्डल द्व्यंगुल, १६. भ्रूमध्य द्व्यंगुल, १७. ललाटान्त द्व्यंगुल, १८. मूर्धा त्र्यंगुल प्रमाण है।^२ पाञ्चरात्रागम में इन अठारहों स्थानों के अतिरिक्त कर्णमूल^३ स्थान का भी उल्लेख किया गया है।

मरीचि ने धारणा के आठ प्रकार कहे हैं। जैसे—आत्मा में यमादिगुणयुक्त मन की स्थिति को प्रथम धारणा कहा गया है। हृदयपद्म के अन्तः आकाश तथा बाह्य आकाश में मन के धारण को धारणा का दूसरा प्रकार कहा गया है। इन दो धारणाओं के निर्देश के पश्चात् अन्य पाँच धारणाओं का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि पृथिवी आदि पाँच महाभूतों में पाँच देवताओं की धारणा करते हैं। इन सात धारणा-भेदों के वर्णन के अनन्तर अन्तिम धारणा के स्वरूप को बताते हुए मरीचि ने कहा है कि हृत्पद्म के मध्य में परमानन्द-विग्रह के धारण को धारणा कहते हैं।^४ इन्द्रियों के चित्त में अन्तर्मुख होने के

१. विमानार्चनकल्प, पटल ९७.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९७.

३. पाद्मसंहिता, योगपाद ४/८-१३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९८.

बाद किसी एक शुभ स्थल में निश्चल रूप से चित्त के धारण को धारणा कहते हैं—ऐसा नारदीयसंहिता का मानना है।^१ सामान्य रूप से इन आठ धारणाओं का निर्देश करने के बाद पाँच महाभूतों में की जाने वाली धारणाओं का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है।

आराधक अपने पाद से आरम्भ कर जानु तक के शरीर भाग को पृथिवी-स्थान समझकर उसमें लकार-संयुक्त वायु का आरोपण करता है और उसमें भगवान् की अनिरुद्ध मूर्ति का ध्यान कर उसकी धारणा करता है। जानु से आरम्भ कर पायुपर्यन्त अप् का स्थान निर्दिष्ट किया गया है। उसमें वकार संयुक्त वायु का आरोपण कर उसमें अच्युत-मूर्ति की धारणा विहित है। पायु से हृदयपर्यन्त अग्नि का स्थान कहा गया है। उसमें रेफसंयुक्त पायु का आरोपण कर सत्य-मूर्ति का ध्यान तथा धारणा कहा गया है। हृदय से भ्रूमध्य पर्यन्त वायु के स्थान में यकार संयुक्त वायु का आरोपण कर उसमें पुरुष-मूर्ति का ध्यान तथा धारण करने को कहा गया है। भ्रूमध्य से आरम्भ कर मूर्धान्त तक व्योम का स्थान कहा गया है। उसमें हकार-संयुक्त वायु का आरोपण कर विष्णु-मूर्ति का ध्यान तथा धारणा विहित है। इन देवताओं के ध्यान से पहले नाडियों में अकार-संयुक्त वायु का आरोपण कर हृदय के मध्य में प्रणव के द्वारा उपर्युक्त देवताओं का ध्यान तथा धारणा की जानी चाहिये।^२

धारणा के वर्णन के पश्चात् मरीचि ने ध्यान का स्वरूप बताते हुए जीवात्मा के द्वारा परमात्मा के चिन्तन को ध्यान कहा है।^३ ध्यान धारणा की ही एकत्र पुनः पुनः अविचलित स्थिति है।^३ वैखानस मतानुसार ध्यान दो प्रकार के बताये गये हैं—(१) निष्कल तथा (२) सकल। कहा गया है कि निष्कल ध्यान देवताओं के द्वारा अनभिलक्ष्य एवं अदृश्य होता है। सकल ध्यान निर्गुण तथा सगुण भेद से दो प्रकार का है। निर्गुण निष्कल स्वभाव वाला होता है। वह परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह काष्ठ

१. नारदीयसंहिता २०/१७-१८.

२. विमानार्चकल्प, पटल ९८.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल ९६. ख. नारदीयसंहिता ३०/१८-१९.

में अग्नि की तरह सभी स्थानों में व्यापक रूप से रहता है। वह परमात्मा आकाश की तरह सभी की आत्मगुहा में अवस्थित अन्तः तथा बहिः स्थित, दृश्य, अदृश्य, स्थूल, सूक्ष्म स्वरूप, अमल, अत्यच्छ, अप्रमेय, निरवयव, निरुद्योग, नित्य, अचिन्त्य निष्कल है। प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा के द्वारा आत्मसंस्कार कर साधक उस निष्कल परमात्मा को स्वयं देखने का प्रयास करे, ऐसा कहा गया है। यह निर्गुण ध्यान की प्रक्रिया कही गई है।^१

मध्य देह से मूर्धपर्यन्त भ्रुवों के मध्य में अव्यय, अव्यक्त, सर्वजगत्कारणभूत अन्तरात्मा नारायण एकरूप 'परं ज्योतिः' के रूप में प्रज्वलित तथा अवभासित होता है। इसी एक निर्गुण ध्यान को श्रुति कहती है—“नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायण परः”। अतः ध्यानप्रधान परम अव्यय विष्णु सदा ध्यानयोग्य है।^२

निष्कल ध्यान के दूसरे पक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राणायाम से विकसित हृदयकमल के अन्तः आकाश में वैश्वानर शिखा के मध्य 'परं ज्योतिः' ज्वाला की तरह पुरुष कृष्णपिङ्गल ऊर्ध्वरिता विरूपाक्ष विश्वरूप परमानन्दविग्रह उपस्थित होता है। निष्कल ध्यान के क्रम में उसी विग्रह को परम भक्ति के साथ देखने एवं वहीं सम्यक् निहित होने का विधान है।^३

सगुण ध्यान का वर्णन करते हुए मरीचि का कहना है कि प्राण को अपान से जोड़कर उसमें अनुप्रवेश कर वहाँ पुरुष का दर्शन कर, फिर पिङ्गला नाडी के द्वारा आदित्य मण्डल में प्रवेश कर, वहाँ विद्यमान पुरुष को देखकर पुनः इडा के द्वारा चन्द्रमण्डल में प्रवेश कर वहाँ मण्डलपुरुष का दर्शन करना चाहिये। वहाँ से ज्वलिताग्नि कुण्डलीमुख को ज्वलन से दग्ध कर सुषुम्ना के द्वारा ऊपर जाकर प्राणायाम के द्वारा विकसित हृदयकमलान्तराकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य चतुरस्र हेमाभ बिन्दु के साथ यकार-बीजान्वित माहेन्द्र मण्डल तथा उसके मध्य अर्ध-चन्द्राकृति श्वेत बिन्दु के साथ वकार-

१. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

२. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

३. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

बीजान्वित वारुण मण्डल का ध्यान कर, उसके मध्य प्रणववेष्टित सुवर्णाभि आदिबीज का स्मरण कर, प्रज्वलित ज्योतीरूप का ही भक्तिपूर्वक सकल संकल्प करते हुए देवी, भूषण, आयुध तथा परिषद् गणों के साथ कल्याण-गुणनिधि का पूर्व की तरह ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार का सगुण ध्यान उत्तम कहा गया है। यह ध्यान सर्वसिद्धिप्रद तथा सर्वत्र प्रयोगार्ह कहा गया है।^१

मरीचि ने द्वितीय सगुण ध्यान का वर्णन अधोलिखित रूप में किया है। कहा है कि हृत्पद्माकाशस्थ वैश्वानरशिखा के मध्य अग्निमण्डल का ध्यान कर, उस अग्नि मण्डल के मध्य 'परं ज्योतिः' का ही सकल रूप में संकल्प कर देवी, भूषण, आयुध तथा परिषद्गणों से घिरी हुई यज्ञमूर्ति का ध्यान किया जाना चाहिये। इस क्रम से अग्निहोत्रादि होम भी सगुण ध्यान के अन्तर्गत आते हैं।^२

तृतीय सगुण ध्यान का निरूपण करते हुए कहा गया है कि हृत्पद्म-आकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य अर्कमण्डल का पूर्व की तरह ध्यान कर पद्म के मध्य 'परं ज्योतिः' का ही सगुण रूप में संकल्प कर तरुणादित्य के समान प्रभा वाले विष्णु का पहले की तरह ध्यान किया जाना चाहिये। यह सगुण ध्यान सर्वसिद्धिप्रद तथा सर्वत्र प्रयोग-योग्य कहा गया है।^३

चतुर्थ सगुण ध्यान के क्रम में कहा गया है कि हृदयकमल-अन्तराकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य सोममण्डल का पूर्व की तरह ध्यान कर उसके बीच 'परं ज्योतिः' का ही सकल रूप में संकल्प कर शुद्ध स्फटिक के समान प्रभायुक्त नारायण मूर्ति का ध्यान किया जाना चाहिये। इस तरह का सगुण ध्यान सर्वसिद्धिप्रद अतः सर्वत्र प्रयोगार्ह माना गया है।^४

उपर्युक्त क्रम से सगुण ध्यान चार प्रकार के कहे गये हैं। वैखानसों के अनुसार ये चार वैदिक ध्यान-कर्म कहे गये हैं। इनके मत में अन्य सभी

१. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

२. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

३. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

४. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

ध्यान अवैदिक हैं। इन अवैदिक कर्मों को वैखानसों ने जघन्य बताया है। इस प्रकार अभ्यास में रत रहना चाहिए। उक्त चार प्रकार के ध्यानों द्वारा साधक को नित्य ही भगवान् का ध्यान करना चाहिए, इससे वह सब कुछ देखने में समर्थ होता है।^१

अन्त में अष्टविध योगाङ्ग के अन्तिम अङ्ग समाधि का वर्णन करते हुए मरीचि का कहना है कि जीवात्मा तथा परमात्मा की सम अवस्था को समाधि कहते हैं।^२ यही परिभाषा विष्णुतिलकसंहिता में भी प्रतिपादित है।^३ जिस तरह अनुष्ण उपल आदित्य दर्शन के बाद उष्णता को प्राप्त करता है, उसी तरह परमात्मा के दर्शन से प्रत्यगात्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव तथा परमानन्दमयता को प्राप्त कर परमात्मा नारायण को सदा देखता तथा अनुभव करता है। अष्टाङ्ग योग मार्ग से सर्वदा अणिमादि ऐश्वर्य को भी प्राप्त करता है। ऐसा जीवात्मा जीवन्मुक्त भी होता है।

समाधि के द्वारा साधक वैष्णव जीवन के अन्तिम भाग में देहत्याग करता है। इस तरह देहत्याग भी समाधि का एक उद्देश्य मुनि मरीचि ने बताया है।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि वैखानस वैष्णव मत में योग की अष्टाङ्गरूपता के होते हुए भी इसके ध्यान आदि में कुछ वैलक्षण्य है। इस सम्प्रदाय के आराध्य देव का ध्येयत्व इसे अन्य ध्यान-योगों से सर्वथा अलग करता है।

नाडीचक्र

मुनि मरीचि ने विमानार्चनकल्प में “अथातो नाडीचक्रं वक्ष्ये” इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ देहस्थ नाडीचक्र का निरूपण शुरू किया है। कहा है कि कन्द से उद्भूत बहत्तर हजार नाडियाँ हैं। इन नाडियों में अधोलिखित मुख्य हैं—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा तथा गान्धारी।

१. विमानार्चकल्प, पटल ९९.

२. क. विमानार्चकल्प, पटल १००. ख. विष्णुतिलकसंहिता ५/१३२-१३३.

३. विमानार्चकल्प, पटल १००.

इनमें भी प्रथम तीन प्रमुख कही गई हैं। इन तीनों के मध्य सुषुम्ना को प्रमुख कहा गया है। यह नाडी वैष्णवी, सात्विकी तथा मुक्तिमार्ग-प्रदायिनी है। यह सुषुम्ना कन्द-मध्य में पद्मसूत्र के समान वीणादण्डान्त निर्गत तन्त्री अलाबू की तरह वंश-अस्थि के साथ मूर्धा के अन्त तक स्थित है। उनके दक्षिण भाग में दक्षिण नासा में पिङ्गला की स्थिति होती है। उस पिङ्गला में सूर्य-प्राण का संचरण होता है। सुषुम्ना के वाम भाग में वाम नासा के भीतर इडा की स्थिति होती है। इडा में चन्द्र की स्थिति कही गई है। ये दोनों राजस तथा तामस, विष तथा अमृत भाग दिवारात्रि के रूप में वर्णित हैं। सुषुम्ना के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर मेढ्रान्त तक कुहू का विस्तार है। अपर भाग में ऊपर से नीचे की ओर जिह्वान्त तक सरस्वती की स्थिति बतायी गई है। पिङ्गला के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर दक्षिण-पादाङ्गुष्ठान्त यशस्विनी तथा अलम्बुषा स्थित रहती है। अपर भाग में दक्षिण नेत्रान्त तक पूषा की स्थिति कही गई है। पूषा तथा अलम्बुषा के मध्य में वामनेत्रान्त हस्तिजिह्वा की स्थिति है। यशस्विनी तथा कुहू के मध्य में ऊपर की ओर जाती हुई सर्वगामिनी दक्षिणपाणि के अङ्गुष्ठान्त तक वारुणी की अवस्थिति होती है। पूषा तथा सरस्वती के मध्य में दक्षिण कर्णान्त तक पयस्विनी विद्यमान रहती है। इडा के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर वाम पादाङ्गुष्ठान्त तक हस्तिजिह्वा स्थित रहती है। अपर में वाम नेत्रान्त तक गान्धारी की अवस्थिति होती है। हस्तिजिह्वा तथा कुहू के मध्य नीचे से ऊपर की ओर वाम पाणि अङ्गुष्ठान्त सर्वगामिनी विश्वोदरा की स्थिति निर्दिष्ट है। गान्धारी तथा सरस्वती के मध्य वाम कर्णान्त गई हुई शंखिनी की अवस्थिति है। कन्द के मध्य ऊपर से नीचे की ओर पायुमूलाग्र तक गई हुई अश्वत्थपत्र की शिरा की तरह समुत्पन्न सर्वगामिनी अलम्बुषा कही गई है।^१

नाडियों में प्राणादि-संचार का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि इन नाडियों में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय—इन दस वायुओं का संचरण होता है। इनमें प्राणादि

पाँच वायु मुख्य कहे गये हैं। इन पाँच में भी प्राण तथा अपान मुख्य हैं। इन दोनों में भी प्राण को प्रधान कहा गया है। प्राण के पाँच निम्नलिखित स्थान हैं—आस्य, नासिकामध्य, हृदयमध्य, नाभिमध्य तथा दोनों पादाङ्गुष्ठ। वह प्राणवायु श्वास तथा निःश्वासकर है। प्राणवायु हृदयकमल का समाश्रयण कर मुख तथा नासिका के द्वारा निःश्वास तथा उच्छ्वास चलाता है। इन्द्रगोप की प्रभा की तरह अपान वायु गुदाश्रित होती है। यह मलमूत्र-विसर्जनकारक है। व्यानवायु सन्धिगत, फेन-वर्ण, हान-उपादान आदि चेष्टा कराता है। उदान-वायु किञ्जल्क की तरह होता है। उसका स्थान कण्ठ कहा गया है। वह अन्नपानादि पोषणक्रियाओं का सम्पादन करता है। समान व्योमाभ होता है। क्षीर में जिस तरह घृत सर्वव्यापी होता है, उसी तरह यह वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता हुआ आदान, विहरण, शयन आदि कराता है। नागवायु श्वेत वर्ण तथा कण्ठ में समाश्रित रहने वाला कहा गया है। उद्गारादि करना इसका काम है। श्वेत वर्ण कूर्मवायु नेत्रों में रहने वाला है। यह निमीलन तथा उन्मीलन कराता है। कृष्ण वर्ण कृकलवायु उदर समाश्रित होता है और यह सर्वग वायु तन्द्राकारक कहा गया है धनञ्जयवायु श्यामाभ सर्वग तथा शोभादि कर्म का सम्पादक बताया गया है।^१ प्रायः इसी तरह का विवेचन योगदर्शन में भी प्राप्त होता है।^२

महाभाग भृगु ने कूम्भपूजन के अवसर पर नाडियों का निरूपण तथा दश वायुओं के स्वरूप का विवेचन अपने ग्रन्थ वासाधिकार में किया है। यहाँ कहा गया है कि शरीर में ७२ हजार नाडियाँ हैं। इनकी स्थिति तिर्यग्, ऊर्ध्व तथा अधः बतायी गयी है। नाभि की स्थिति आग्नेय, सौम्य और सौम्याग्नेय वर्णित है। ये ऊर्ध्वमुख, अधोमुख तथा सौम्यतिर्यक् क्रम से निर्दिष्ट हैं। कन्द का आश्रय लेकर नाभि की स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार कमलनाल पर दश प्रधान नाडियाँ हैं—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, हस्तिजिह्वा, गान्धारी, पूषा,

१. विमानार्चकल्प, पटल ९३.

२. क. योगदर्शन, विभूतिपाद ३९ पर टीका

ख. पारमेश्वरसंहिता ३/१०२-१०८ (दशनाडी परिगणन)

सुयशा, अलम्बुसा, कुहू तथा शङ्खिनी। इनके वर्ण शुक्ल रक्त, पीत, कृष्ण, श्याम, अञ्जन, अरुण हैं। दश वायुओं के नाम तथा उनके वर्णों के स्वरूप के साथ नाडियों में उनकी स्थिति (बहाव) का स्पष्ट विवेचन किया गया है। जब प्राण इडा में होता है तब दक्षिणायन, जब प्राण पिङ्गला की ओर होता है तब उत्तरायण, जब प्राण की स्थिति दोनों नासापुटों में घटती-बढ़ती होती है तो संक्रांति तथा समान स्थिति में विषुवत् काल होता है। दक्षिणायन में स्नानादि जलकर्म, संक्रांति में दानकर्म, विषुवत् में यज्ञ-कर्म सम्पादित करना चाहिए—ऐसी नाडीकाल की स्थिति वर्णित है। प्राणायाम के निरूपण में वायुरोधन क्रम-विस्तार से विवेचित है।^१ इसका फल भी यहाँ प्रतिपादित है।^२

फ्रेञ्च विद्वान् प्रो० जी० कोलाज् ने वैखानस योग पर एक शोध आलेख लिखा है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् विचारक ने वैखानस सम्मत योग पर गहन चिन्तन किया है^३।



१. वासाधिकार, १२.

२. वासाधिकार, ११.

३. Le Yoga de l' officiant Vaikhānasa, G. Colas, Journal Asiatique 276/3-4, Paris 1988, pp. 245-283.

द्वितीय भाग

- प्रथम अध्याय - प्रतिमाविज्ञान या मूर्तिकला
- द्वितीय अध्याय - प्रतिमोपादान-द्रव्य
- तृतीय अध्याय - प्रतिमा-मान
- चतुर्थ अध्याय - प्रासाद-लक्षण आलय-कल्पन तथा निर्माण



प्रथम अध्याय प्रतिमाविज्ञान या मूर्तिकला

वैष्णवागम में भगवदाराधनार्थ कुम्भ, मण्डल, अग्नि तथा मन्दिर में प्रतिष्ठापित विग्रह ये चार स्थान मान्य हैं। इनमें तीन की अपेक्षा विग्रह या मूर्ति-आराधन आगमशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।^१ वैखानस सम्प्रदाय के अनुसार भगवदाराधन के तीन मार्ग प्रतिपादित हैं — १. मानसी पूजा, २. होम पूजा तथा ३. बेर (प्रतिमा) पूजा।^२ हृदय में जगदीश का निरन्तर ध्यानार्चन करना मानसपूजा है।^३ इस मानसार्चन को अन्तर्याग भी कहा गया है।^४ अग्निमण्डल में शुभ प्रभा के मध्य जनार्दन का ध्यान कर हविष् प्रदान करना होमपूजा कहा गया है।^५ यथालक्षण विष्णु-प्रतिमा को देवागार में स्थापित कर भक्ति-पूर्वक नित्याराधन करना बेर-पूजन बताया गया है।^६ बेर-पूजा को बहिर्याग भी कहा गया है।^७ इन तीनों में बेर-पूजा की विशेषता प्रतिपादित है। कहा गया है कि पुष्पादि से पूजन करना चक्षु, मन तथा हृदय को प्रीतिकर लगता है। प्रीति से भक्ति होती है तथा भक्ति से हरि सुलभ हो जाते हैं।^८

भगवदाराधन के दो रूप—साकार तथा निराकार निरूपित है।^९

-
१. अनिरुद्धसंहिता ६/६० ए ६३-६४.
 २. मानसी होमपूजा च बेरपूजेति सा त्रिधा, खिलाधिकार १/६.
 ३. खिलाधिकार १/१६; २३; क्रियाधिकार १/७.
 ४. वासाधिकार १.
 ५. क्रियाधिकार १/९, १२.
 ६. खिलाधिकार १/२५-२६.
 ७. वासाधिकार १.
 ८. क्रियाधिकार १/१२-१४.
 ९. समूर्तार्चनाधिकरण, १/२८, २७/१;
ज्ञानकाण्ड, अध्याय १; यज्ञाधिकार १/१०.

अग्न्याधान तो आहिताग्नि पुरुष-विशेष की मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है, किन्तु बेरार्चन की प्रक्रिया से आराधना शाश्वत अनन्त काल तक चलती है। अस्तु, यह पूजा भक्तिपूर्वक नित्य करनी चाहिए।^१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भगवदाराधन का सरल उपाय बेर-पूजा अर्थात् मूर्ति-पूजन है। मूर्तिकल्पन (प्रतिमा-निर्माण) प्रत्यक्ष रूप से शिल्पशास्त्रीय विषय है, फिर भी प्रत्येक वैखानसागम ग्रन्थ में विशेष रूप से इस विषय का वर्णन प्राप्त होता है। सारा विश्व शिल्प ही है। शिल्प से ही प्रतिमा का प्रादुर्भाव होता है।—विज्ञानं शिल्पकौशल्यम्। जगत् सर्वं शिल्पमेव भवति। शिल्पात् प्रतिमा जायन्ते।।^२

प्रतिमा शब्द के लिए समानार्थक विविध शब्दों तथा उनके अर्थों के प्रयोग वैखानसागम ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं। प्रतिमा के अर्थ में असाधारण रूप से 'बेर' शब्द-प्रयोग देखा जा सकता है।^३ यहाँ बेर शब्द विग्रह या बिम्ब का बोधकारक है। यह प्रयोग रूढ़ की तरह प्रयुक्त है। बिम्ब, कौतुक, बेर तथा प्रतिमा आदि शब्द भी मूर्ति के परिचायक हैं। कौतुक बेर के कई पर्याय प्राप्त हैं।

अर्चा च कौतुकं प्राणो वर एकार्थवाचकाः ।

स्पष्ट है अर्चा, कौतुक, प्राण तथा बेर एक ही अर्थ के प्रदायक हैं। अर्चा का अर्थ पूजा होता है। “अर्च्यत्वाज्जलपुष्पाद्यैः कीर्तिताऽर्चेति सूरिभिः” निरुक्ति निर्दिष्ट है।^४ कौतुक को सर्वमङ्गलकारी कहा गया है।^५ “सर्वेषां प्राणभूतत्वात् प्राण इत्युच्यते बुधैः” अर्थात् सभी का प्राण होने के कारण उसे प्राण कहा जाता है।^६ 'वर' पद का निर्वचन निम्नवत् है—श्रीभूदेव्योर्वरत्वाच्च वर इत्यपि कीर्तितः।^७

१. खिलाधिकार २०/१७; ज्ञानकाण्ड अध्याय १.

२. आगमसुषमा, पृष्ठ २६६.

३. यज्ञाधिकार १/१०; ज्ञानकाण्ड, अध्याय १; ५४; समूर्तार्चनाधिकरण १/२९; श्रीप्रश्नसंहिता १४/३; ईश्वरसंहिता १७/२४१; विमानार्चनकल्प, पटल १५.

४. समूर्तार्चनाधिकरण २४/१.

५. समूर्तार्चनाधिकरण २४/२.

६. समूर्तार्चनाधिकरण २४/२.

७. समूर्तार्चनाधिकरण २४/३.

प्रतिमा-भेद

विविध आराधन के आधार पर प्रतिमा के विविध भेद प्रतिपादित हैं। देवालय में आराधन के लिए प्रयुक्त प्रतिमा चल तथा अचल दो प्रकार की निर्दिष्ट है। चल बिम्ब जङ्गम तथा अचल बिम्ब स्थावर कहा गया है। चल बिम्ब, अर्थात् जङ्गम बिम्ब उसे कहा जाता है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए मान्य होता है। अचल बिम्ब से ध्रुव बेर का निर्देश है। यह बेर किसी भी दशा में दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए अनुमत नहीं होता। आराधना के समय ध्रुव बेर से शक्ति का आवहन कर चल-बिम्ब में अर्चना की जाती है तथा अर्चना की समाप्ति के बाद उस शक्ति का विसर्जन ध्रुव बेर में कर दिया जाता है।^१ प्रतिमा का उपर्युक्त विभाजन पाञ्चरात्रागम तथा शिल्पशास्त्र को भी मान्य है।^२

इसके पश्चात् प्रतिष्ठाप्यमान प्रतिमा की संख्या के आधार पर एक बेरार्चन तथा बहुबेरार्चन-क्रम में देवालय में प्रायः एक ही बेर, अर्थात् ध्रुवबेर मात्र की प्रतिष्ठा एवं आराधना होती है। बहुबेरार्चन-क्रम में वैखानसागम के अनुसार एक से अधिक बेर-विधान देखते हैं, जैसा—१. ध्रुवबेर, २. कौतुकबेर, ३. बलिबेर, ४. उत्सवबेर तथा ५. स्नपनबेर। ध्रुवबेर का तात्पर्य उस प्रतिमा से है, जो एक ही स्थान पर स्थायी रूप से स्थापित होती है। उसमें भगवच्छक्ति-प्रतिष्ठा के अनन्तर सामान्यतः आवाहन तथा विसर्जन नहीं होता। उसका स्थापना-स्थल गर्भगृह के मध्य ब्रह्मस्थान में निर्दिष्ट है।^३ कौतुकबेर का उपयोग नित्याराधन के लिए किया जाता है। यह दो प्रकार का चल तथा अचल स्वीकृत है।^४ बलिबेर का अर्थ उस प्रतिमा से है, जो नित्य तथा नैमित्तिक बलि प्रदान के लिए प्रयोग में लाया जाता हो। इसकी स्थापना कौतुकबेर के उत्तर या दक्षिण भाग में होती है।^५ यह दारु या शिला के द्वारा

१. समूर्तार्चनाधिकरण ४३/५२-५४.

२. अनिरुद्धसंहिता १३/१; मानसार, शिल्पशास्त्र ५१/१.

३. क्रियाधिकार ५/२६५.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५५.

५. क्रियाधिकार, अध्याय ७.

नहीं बनाया जाता। ध्यान रहे कि बलि से तात्पर्य पशु आदि की हिंसा रूप बलि से नहीं है, अपितु अन्न को ही बलि (भेंट) मानकर बलि-प्रक्रिया सम्पादित की जाती है। उत्सवबेर का बोध उस प्रतिमाविशेष से है, जिसका उपयोग नित्य तथा नैमित्तिक उत्सवों में किया जाता है। स्नपनबेर उसे कहते हैं, जिसका उपयोग भगवत्-स्नपन के अवसर पर होता है।^१ शान्तिक, नैमित्तिक, उत्सवाङ्ग तथा नित्यार्चना में इसका विशेष उपयोग होता है।^२

प्रतिमा-निर्माण की दृष्टि से ध्रुवबेर के तीन स्वरूप प्राप्त हैं—१. चित्र, २. चित्रार्ध और ३. चित्राभास।^३ प्रत्येक के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्दिष्ट हैं। जो मानोन्मान प्रमाण से युक्त हो तथा उसके सभी अङ्ग दिखाई पड़ें, उस प्रतिमा को चित्रबेर कहते हैं। जिस बेर का सर्वाङ्ग अर्धरूप से दृष्टिगोचर हो उसे अर्धचित्रबेर की संज्ञा दी गई है। पट, कुड्य आदि पर लिखा गया बेर चित्राभास नाम से कहा गया है।^४ यह भेद पाञ्चरात्रागम को भी अभीष्ट है।^५ तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम माना गया है।^६ चित्राभास की दो स्थिति निर्दिष्ट हैं—चल तथा अचल। पटादि पर लिखा गया चित्राभास चल तथा भित्ति पर लिखा गया चित्राभास अचल कहा गया है।^७ चित्रबेर की अर्चना ऐहिक तथा आमुष्मिक फल देने वाली कही गयी है। चित्राभास की अर्चना ऐहिक फलप्रदात्री है।^८ समूर्तार्चनाधिकरण में चित्राभास बेर की अर्चना का निषेध किया गया है।^९

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५४; ५७; समूर्तार्चनाधिकरण २४/४;
२. क्रियाधिकार १४; खिलाधिकार ८/१५.
३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०; समूर्तार्चनाधिकरण १८/११;
विमानार्चनकल्प, पटल १५.
४. समूर्तार्चनाधिकरण १८/१२-१३; विमानार्चनकल्प, पटल १५;
ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.
५. श्रीप्रश्नसंहिता ११/६-७; नारदीयसंहिता १३/६९-७२.
६. समूर्तार्चनाधिकरण १८/१३-१४; विमानार्चनकल्प, पटल १५.
७. विमानार्चनकल्प, पटल १५.
८. विमानार्चनकल्प, पटल १५.
९. समूर्तार्चनाधिकरण १८/१४.

प्रतिमाओं के भेद-क्रम में अवस्थिति के आधार पर ध्रुवबेर की त्रिधा स्थिति प्रातिपादित है—१. स्थानक, २. आसीन तथा ३. शयान।^१ पाञ्चरात्रागम में इन तीनों प्रतिमाओं के अतिरिक्त यानग मूलबेर का स्वरूप भी प्राप्त होता है।^२ यहाँ दोनों सम्प्रदायों का अन्तर स्पष्ट है। अर्चनाधिकार में स्थानक को सात्त्विक, आसीन को राजस तथा शयान को तामस बताया गया है।^३ स्थानक मूर्ति वह मूर्ति होती है, जो खड़े रूप में कल्पित हो। आसीन से तात्पर्य ऐसी मूर्तियों से है, जो नाना आसनों में बनाई गयी हो। शयान मूर्ति सर्वत्र शयन मुद्रा में, अर्थात् लेटी हुई होती है। स्थानकादि ध्रुवबेर के भी निर्दिष्ट हैं। कहा गया है कि सर्वाभ्युदय-धर्मार्थी को स्थानक मूर्ति की अर्चना करनी चाहिए। सुप्रतिष्ठित होने की कामना वाले को आसीन मूर्ति की अर्चना करनी चाहिए। अविनाशन मोक्षार्थी को शयान बिम्ब की अर्चना करने का निर्देश है।^४ ध्रुवबेर की तरह कौतुकबिम्ब की कल्पना की गयी है, किन्तु शयान कौतुक बिम्ब का निषेध किया गया है।^५

वैखानसागम के अनुसार स्थानकादि प्रत्येक ध्रुवबेर के अवान्तर चार भेद बताये गये हैं—१. योग, २. भोग, ३. वीर तथा ४. विरह। योगकामी के लिए योगबेर, भोगार्थी के लिए भोगबेर, वीरार्थी के लिए वीरबेर तथा विरहार्थी के लिए विरहबेर के आराधन का विधान है।^६

विमानार्चनकल्प में विरह के स्थान पर आभिचारिकबेर की कल्पना की गयी है तथा उसका प्रयोग शत्रु पर विजय के लिए बताया गया है।^७ अर्चना-धिकार में मोक्षार्थी के लिए विरह बेर का निर्देश है।^८ कुछ वैखानसागम

१. निरुक्ताधिकार १३; क्रियाधिकार ५/७४;
समूर्तार्चनाधिकरण १८/१७; विमानार्चनकल्प, पटल १५.
२. विश्वक्सेनसंहिता ११/३०७-३०८; भार्गवतन्त्रम् ४/८८-८९.
३. अर्चनाधिकार १२/१४.
४. समूर्तार्चनाधिकरण २०/४१-४२.
५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५४.
६. क्रियाधिकार ५/७५.
७. विमानार्चनकल्प, पटल १९.
८. अर्चनाधिकार ८.

शास्त्रों में आभिचारिक या विरह बेर का वर्णन नहीं मिलता। स्थानक, आसीन तथा शयान बेरों के योग, भोग तथा वीर — ये तीन ही भेद कहे गये हैं।^१ ज्ञानकाण्ड में योग, सुख, भोग तथा वीर भेद से ध्रुवबेर को चार प्रकार का कहा गया है।^२ स्थापन-स्थान तथा परिवार-देवता के न्यूनाधिक्य को आधार मानकर इन विविध प्रतिमाओं का भेद होता है।^३

योग स्थानक ध्रुवबेर उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार का बताया गया है।^४ भोग स्थानक ध्रुवबेर की स्थिति त्रिधा—उत्तम, मध्यम और अधम प्रतिपादित है।^५ उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन ही प्रकारों में वीर स्थानक ध्रुवबेर एक ही तरह का होता है। यह द्विभुज अथवा चतुर्भुज भी होता है। विरहबेर सायुध तथा निरायुध उभयविध होता है।^६ विरहस्थानक का स्वरूप द्विभुज, धूम्राम्बरयुक्त, श्यामवर्ण, शुक्लाङ्ग, ऊर्ध्वदृष्टि, तमोगुण-सम्पन्न, विमलनयन, ब्रह्मादि परिवार से रहित होता है।^७ धूम्रवर्णमाला, शुष्काङ्ग तथा तमोगुणवाला बताया गया है। इसकी स्थापना आर्द्रादि नक्षत्र में पैशाच पद में की जाती है।^८ विरहबेर निरायुध निर्दिष्ट है। भोगासन ध्रुवबेर के उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन, वीरासन ध्रुवबेर के श्रेष्ठ, मध्यम और अधम—ऐसे तीन भेद सप्रमाण प्रतिपादित हैं।^९ मूर्ति की कल्पन-प्रक्रिया के क्रम में वैखानस तथा पाञ्चरात्र-ग्रन्थों ने इस मूर्ति के एक-एक अङ्ग तथा उपाङ्ग-कल्पन की विधि तथा विशेष रूप से उनके मान तथा प्रमाणादि का निर्देश

-
१. निरुक्ताधिकार १३/३१.
खिलाधिकार १२/१.
 २. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५३.
 ३. यज्ञाधिकार १५/३७-३८.
 ४. यज्ञाधिकार १५/३७-३८;
विमानार्चनकल्प, पटल १९.
 ५. विमानार्चनकल्प, पटल १९;
यज्ञाधिकार १५/९-१८.
 ६. क्रियाधिकार ४/७७, ५/७६-७७.
 ७. यज्ञाधिकार १५/९-१८.
 ८. विमानार्चनकल्प, पटल १९.
 ९. क्रियाधिकार ५/७७; समूर्तार्चनाधिकरण २०/१७.

किया है। यह विषयविवेचन अत्यन्त सूक्ष्म तथा विस्तृत है।^१ ध्रुवबेर के अवयवों की संख्या चार सौ तिहत्तर बताई गई है।^२

मत्स्य, कूर्म, वराह तथा वामनादि अवतारों की प्रतिमाओं का निर्माण कौतुकबेर के अन्तर्गत रखा गया है तथा उन्हें चतुर्भुज रूप में स्वीकारा गया है।^३

भगवान् के पार्षद देव, भृगु, मार्कण्डेय, ब्रह्मा, हर (शंकर) तथा श्रीदेवी एवं भूदेवी की प्रतिमाओं का स्वरूप सम्यक् रूप से वर्णित है।

ध्रुवबेर या कौतुकबेर का अवस्थान के आधार पर परिवारबेर का होना आवश्यक माना गया है तथा कहा गया है कि ध्रुवबेर स्थानक होने पर परिवारबेर भी स्थानक होगा। विष्वक्सेन, विघ्नेश, रोहिणी मातायें, ज्येष्ठा तथा सरस्वती परिवार बेर को आसीन रूप से स्वीकारा गया है।^४

मत्स्य मूर्ति

मत्स्यमूर्ति-प्रतिष्ठा का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है कि जिसे वैराग्य, ऐश्वर्य, अभ्युदय तथा प्रतिष्ठा की इच्छा हो, उसे मत्स्य तथा कूर्म की अर्चना करनी चाहिए।^५ मत्स्य ध्रुवबेर का आलय ग्रामादि के मध्य या पश्चिम भाग में दीर्घशाला, त्रिकूट, हस्तिपृष्ठ, कुम्भाकार अथवा नन्दावर्ताकार होना कहा गया है।^६ मत्स्यबेर का उपादान-द्रव्य दारु या शिला मान्य है।



१. समूर्तार्चनाधिकरण २३/१-८५; विमानार्चनकल्प, पटल २२-२३; यज्ञाधिकार २०/१-७७; वासाधिकार ४; जयाख्यसंहिता २०/९-६६; भार्गवतन्त्र ४/९-८४; सात्वतसंहिता २४/९१-१८०; विश्वामित्रसंहिता २२/६१-६७.
२. प्रदेशसङ्ग्रहाद् ज्ञेयः चतुःशतं त्रिसप्ततिः। व्याख्यातमानुषूष्येण विज्ञेयं शास्त्रकोविदैः॥-खिलाधिकार १४/२४९.
३. प्रकीर्णाधिकार १६/११८-९१; समूर्तार्चनाधिकरण २४/३०.
४. क्रियाधिकार ५; विमानार्चनकल्प, पटल २०; खिलाधिकार १५.
५. ज्ञानकाण्ड ३७, ७९.
६. वासाधिकार १८; प्रकीर्णाधिकार १३/९-१०; समूर्तार्चनाधिकरण ५८/१२-१३.

मत्स्यमूर्ति का मान वासाधिकार में इस प्रकार है—

द्वितालेनोन्नतं कुर्यान्मानमेवमुदाहृतम् ।
 नासाग्रपुच्छपर्यन्तमष्टाविंशतिमात्रकम् ।
 नासामानान्तरं मात्राचतुष्टं (?) धाः (?) द्विमात्रकम् ॥
 तस्यां तु पुच्छमालानां नवगोलकमुच्यते
 तस्मात् पुच्छाग्रकं मात्राचतुष्टं हस्तकुन्दवत् ॥
 अणुमात्रशीर्षकं तारमुदरं नवमात्रकम् ।
 पुच्छमूलं चतुर्मात्रं पुच्छं तत्रैव योजयेत् ॥
 पुच्छार्धं तद् द्वितालं स्यात् कुर्यात्तद्वत् त्रिकौ बुधः ।
 एवं मत्स्यध्रुवं बेरं कारयित्वा परं क्रमात् १

क्रियाधिकार में दो प्रकार की मत्स्यमूर्ति का स्वरूप चित्रित है । प्रथम मूर्ति महासमुद्र के प्रलय की तथा दूसरी प्रलयोपरान्त की।^२ प्रकीर्णाधिकार में वेदोद्धारणार्थ मत्स्यावतार विशेष रूप से निर्दिष्ट है।^३ पाञ्चरात्र आगम की अनेक संहिताओं में मत्स्यमूर्ति के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।^४ मत्स्यपुराण में भी मत्स्य की प्रतिमा के कल्पन का स्वरूप वर्णित है।^५ उत्सव तथा स्नपन बिम्ब भी चतुर्भुज निर्दिष्ट है।^६

कूर्ममूर्ति

कूर्ममूर्ति के दो स्वरूप निर्दिष्ट है—

स्वस्थानाच्चलितजगदण्डरक्षणार्थं प्रथमः ।
 अमृतमथने मन्दराचलभरणार्थं द्वितीयः ॥^६

-
१. वासाधिकार १८.
 २. क्रियाधिकार ११/६-७; समूर्तार्चनाधिकरण ५८/६-७.
 ३. प्रकीर्णाधिकार १३/६-८.
 ४. पराशरसंहिता २८/६; विष्णुस्मृतिसंहिता ११/३१-३८.
 ५. मत्स्यपुराण २८८/३९. ६. विमानार्चनकल्प, पटल ५५.
 ७. समूर्तार्चनाधिकरण ५८/१६; ज्ञानकाण्ड ७९.
 ८. ज्ञानकाण्ड ७९; क्रियाधिकार ११/९-१०; समूर्तार्चनाधिकरण ५८/७-९.

कूर्म ध्रुवबेर के लिए नन्दावर्त विमान अथवा फेलाकार विमान का विशेष रूप से विधान है।^१ प्रतिमा का लक्षण अञ्जनाभ चतुरश्रासन स्थिति बतायी गयी है।^२ महर्षि मरीचि के अनुसार कूर्ममूर्ति का मान अधोलिखित है—



देहलब्धाङ्गुलेन एकाङ्गुलं शिरोमानं, द्विमात्रं कण्ठं (कर्ण) एकाङ्गुलं, त्र्यङ्गुलं हृदयान्तं, तत्समं नाभ्यन्तं, त्रिमात्रं पृष्ठान्तं, प्रकोष्ठं पाणितलं प्रत्येकमेकाङ्गुलं, तथैवोरुजङ्घापादतलं, तस्यायामसमं वैपुल्यं, पञ्चवर्णसमायुक्तं, अन्तःश्वेतनिभं, तस्यायामं षड्भागं कृत्वा द्विभागं त्रिभागं वा पीठोत्तुङ्गं वस्वङ्गुलविस्तारं पद्याकारं कारयेत् ।^३

वासाधिकार में उत्तम एकतालमान में प्रतिमामान का उल्लेख है।^४ जहाँ तक इसके कर्मादि रूपों का प्रश्न है, वह विष्णु की तरह चतुर्भुज होते हैं।^५ पौष्करसंहिता^६ तथा मार्कण्डेय-संहिता^७ में कूर्म बिम्ब का स्वरूप विद्यमान है।

वाराहमूर्ति

वराह ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा का उद्देश्य बताये हुए कहा गया है कि “राजराष्ट्रविवृद्धये वराहम्” अर्थात् राज्य एवं राष्ट्र की वृद्धि के लिए वराहमूर्ति की स्थापना करनी चाहिए।^८ वराह की स्थापना हेतु विमानविशेष—सर्वतोभद्र, अङ्गनाकार या सोमच्छन्द का उल्लेख है।^९ प्रकीर्णाधिकार में पर्वताकार तथा श्रीप्रतिष्ठित विमान विहित हैं।^{१०} वैखानसागम ग्रन्थों में

१. प्रकीर्णाधिकार १३/१५; वासाधिकार १८.

२. क्रियाधिकार ११/१०.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ५५.

४. वासाधिकार १८.

५. क्रियाधिकार ६/२०; यज्ञाधिकार १७/६; ज्ञानकाण्ड ७९; समूर्तार्चनाधिकरण ५८/१६.

६. पौष्करसंहिता २४/२२-२३.

७. मार्कण्डेयसंहिता ८/२२-२८.

८. ज्ञानकाण्ड ३७.

९. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ३७.

१०. प्रकीर्णाधिकार १३/२६.

वराह के तीन रूपों का निर्देश हैं—१. आदिवराह, २. प्रलयवराह तथा ३. यज्ञवराह। इन तीनों के रूप भिन्न-भिन्न रूप से तीन तरह के कहे गये हैं।^१ पाञ्चरात्र के ग्रन्थ विष्वक्सेनसंहिता में वराह के तीन रूप ही वर्णित हैं। यद्यपि तीनों का पृथक्-पृथक् नामनिर्देश नहीं किया है, फिर भी रूप निश्चित ही तीन तरह के हैं।^२ महाभाग भृगु ने सपरिवार वराह ध्रुवबेर का लक्षण निम्नलिखित रूप से किया है—



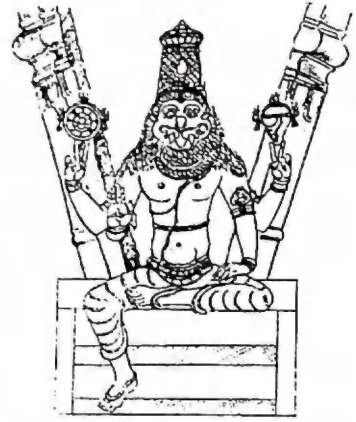
दंष्ट्रायां दक्षिणायां तु धृत्वोर्वीं मोहनाकृतिम् ।
स्थितं वराहवदनं चतुर्बाहुसमायुतम् ॥
शङ्खचक्रधरं देवं भिन्नाञ्जनचयप्रभम् ।
दंष्ट्रे स्फटिकसङ्काशे कुर्याच्छुभसमायते ॥
मेदिनी श्यामला प्रोक्ता पद्मपत्रनिभाम्बरा ।
न्यस्ताञ्जलिपुटा कार्या अङ्गे वा कोलरूपिणः ॥
उभाभ्यामपि बाहुभ्यां भर्त्रा कार्या धृता मही ।
पुण्यधर्मौ मुनी तस्य पूजकौ परिकीर्तितौ ॥
पुण्यः पद्मपलाशाभो धर्मः स्फटिकसन्निभः ।
रक्तचाषाम्बरौ तौ तु पूजायां परिकल्पयेत् ॥
पुण्यो दक्षिणभागस्थो धर्मः सव्यं समाश्रितः ।
ब्रह्माणीं पिङ्गलाभां च द्वारवामेऽथ दक्षिणे ॥
सुखासीने तथा कुर्यान्मुनिभिः परिवारिते ।
स्वाहा स्वस्ति स्वधा मेधा कान्तिर्लज्जाऽऽहुतिः श्रुतिः ॥
पुष्टिर्मतिर्धृतिः कीर्तिः श्रद्धा श्रीरिन्दुका सुधा ।
एताश्च परितः कुर्यादालेख्यस्थाः सुराङ्गनाः ॥^३

१. विमानार्चनकल्प, पटल ५६; ज्ञानकाण्ड ७०-८०;
समूर्तार्चनाधिकरण ५८; प्रकीर्णाधिकार १३/२४-२५.
२. विष्वक्सेनसंहिता ११/४५-४७.
३. खिलाधिकार १९/१०-१७.

वासाधिकार में ध्रुवबेर सपरिवार का लक्षण प्रतिपादित है। यहाँ वराह भगवान् का विग्रह मध्यमदशताल मानोन्मान के साथ बनाने का निर्देश है। नित्य अनपायी परिवार वाहन के साथ चित्रित किया गया है। चारों वेद भगवान् के भुजाओं में सुशोभित, मुकुटाभरण संयुक्त हैं।^१ तीनों वराह-मूर्तियों का उसी प्रकार का कौतुक तथा बिम्ब चतुर्भुज बनाना चाहिए, ऐसा कहा गया है।^२

नृसिंह मूर्ति

प्रादुर्भावों में अन्यतम नृसिंह के रूप का वर्णन प्रायः सभी वैखानसागम ग्रन्थों में देखते हैं। मुख्य रूप से इसकी दो तरह की मूर्तियाँ निर्दिष्ट हैं—एक स्थित तथा दूसरी आसीन।^३ विमानार्चनकल्प में नृसिंह के तीनों स्थित, आसीन तथा यानक रूपों का वर्णन किया गया है।^४ क्रियाधिकार में नरसिंह के पाँच का तथा प्रकीर्णाधिकार में १. स्थित, २. आसीन, ३. सुदर्शन-नृसिंह, ४. लक्ष्मी-नृसिंह, ५. पाताल-नृसिंह तथा ६. पुच्छ-नृसिंह का उल्लेख किया है।^५ सपरिवार नृसिंह-ध्रुवबेर का स्वरूप ज्ञानकाण्ड में इस प्रकार प्रतिपादित हैं—



“नृसिंहं स्फटिकोपलमध्ये वा उत्कुटिकासने स्वस्तिकासने वा आसीनं जानुप्रसारितोत्तमभद्विबाहुं शङ्खचक्रधरं वा सिंहासने चतुर्भुजं ब्रह्मेशाभिष्टुतं वा देवीभ्याम् ऋषिभ्यां यज्ञतीर्थाभ्यां ब्रह्मेशाभ्यां सामभूतीशाभ्यां वाहनशैषिकाभ्यामासीनम् ।”^६ नृसिंह ध्रुवबेर के लिए विमान विशेष-त्रिकूट, मण्डप तथा पर्वताकृत मान्य हैं।^७ नृसिंह ध्रुवबेरमान का विस्तार से विवेचन मुनि मरीचि ने किया है।^८ पाञ्चरात्रागम की विहगेन्द्रसंहिता में नृसिंह के प्रायः ७४ भेद

१. वासाधिकार १९.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ५६; समूर्तार्चनाधिकरण ५८/४९.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ५९/१; ज्ञानकाण्ड ८१.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ५७.

५. क्रियाधिकार ११/२७-२९; ५८; प्रकीर्णाधिकार १३/५१-५२.

६. ज्ञानकाण्ड ३७.

७. वासाधिकार २०.

८. विमानार्चनकल्प, पटल ५७.

नामोल्लेखपूर्वक बताये गये हैं, जिनके नाम अधोलिखित हैं—१. स्वयं नृसिंह, २. मोक्षनृसिंह, ३. विजयनृसिंह, ४. छत्रनृसिंह, ५. दीर्घनृसिंह, ६. विरूप नृसिंह, ७. पूर्णनृसिंह, ८. अब्धिनृसिंह, ९. लक्ष्मीनृसिंह, १०. विजय-लक्ष्मीनृसिंह, ११. योगनृसिंह, १२. योगेश्वरनृसिंह, १३. दीप्तिनृसिंह, १४. पुष्टिनृसिंह, १५. भूपप्रमाथिनृसिंह, १६. ज्वालानृसिंह, १७. उग्रनृसिंह, १८. घोरनृसिंह, १९. विदारणनृसिंह, २०. अहोबलनृसिंह, २१. स्तम्भनृसिंह, २२. महानृसिंह, २३. पातालनृसिंह, २४. अनन्तनृसिंह, २५. ग्रहणनृसिंह, २६. प्रदाननृसिंह, २७. आवेशननृसिंह, २८. अट्टहासननृसिंह, २९. नवव्यूह-नृसिंह, ३०. चक्रनृसिंह, ३१. दिक्नृसिंह, ३२. चण्डनृसिंह, ३३. अरनृसिंह, ३४. प्रसादनृसिंह, ३५. ब्रह्मनृसिंह, ३६. विष्णुनृसिंह, ३७. रौद्रनृसिंह, ३८. मार्तण्डनृसिंह, ३९. चन्द्रनृसिंह, ४०. भैरवनृसिंह, ४१. पृथिवीनृसिंह, ४२. वायुनृसिंह, ४३. आकाशनृसिंह, ४४. ज्वलननृसिंह, ४५. आधारनृसिंह, ४६. अमृतनृसिंह, ४७. हंसनृसिंह, ४८. आत्मनृसिंह, ४९. सत्यनृसिंह, ५०. यज्ञनृसिंह, ५१. अन्नदाननृसिंह, ५२. प्रभासनृसिंह, ५३. विश्वरूप-नृसिंह, तथा ५४. त्रितारनृसिंह। यहाँ नामों की गणना से कुल संख्या ५४ होती है। ग्रन्थ के प्रतिज्ञावाक्य तथा उपसंहारवाक्यों के अनुसार नृसिंह के ७४ रूपों का निर्देश है।^१ इस तरह पाञ्चरात्रागम में जितने भेद नृसिंहमूर्ति के देखते हैं, उतने भेद अन्य किसी देव के नहीं मिलते। जहाँ तक वैखानसागम की स्थिति है, क्रियाधिकार में पाँच भेदों की चर्चा करते हुए अन्त में “नारसिंहविकल्पाश्च बहुधा परिकीर्तिताः”—कहा गया है।^२ सपरिवार-गिरिजनरसिंहबेर का लक्षण^३, सपरिवारस्थूणजनृसिंह बेर का लक्षण^४, सपरिवारसुदर्शननृसिंहध्रुवबेर का लक्षण^५, सपरिवारलक्ष्मीनृसिंहध्रुवबेर का स्वरूप^६, सपरिवारपातालनृसिंहध्रुवबेर का स्वरूप^७, पुच्छनृसिंहध्रुवबेर का लक्षण^८

१. विहगेन्द्रसंहिता ४/७-१७।

२. क्रियाधिकार ११/५८।

३. समूर्तार्चनाधिकरण ५९/९-२९; प्रकीर्णाधिकार १३/५३-५८।

४. समूर्तार्चनाधिकरण ५९/२६-३४; ज्ञानकाण्ड ८१।

५. क्रियाधिकार ११/२९-३३; प्रकीर्णाधिकार १३/६२-६४।

६. क्रियाधिकार ११/३४-४२; प्रकीर्णाधिकार १३/६५-६७।

७. क्रियाधिकार ११/४९-५५; प्रकीर्णाधिकार १३/६७-६८।

८. प्रकीर्णाधिकार १३/६९-७०।

तथा यानक नृसिंह ध्रुवबेर^१ का स्वरूप पृथक्-पृथक् प्रतिपादित हैं। नृसिंह के कर्मार्चादि बेर का स्वरूप चतुर्भुज होता है।^२

वामन

विमानार्चनकल्प के पञ्चम अवतार-मूर्ति वामन की प्रतिमा का कल्पन पञ्चतालमान से किया जाना कहा है। स्वरूप द्विबाहु, छत्रदण्डधर, कौपीन-शिखाधारी, मेखला-सुशोभित, यज्ञोपवीतधारी तथा कृष्णाजिनधारी बालरूप ब्रह्मवर्चस्व वर्णित है।^३ प्रकीर्णाधिकार ने बटुरूपधारी, दण्ड-कमण्डलु लिए हुए, द्विभुज, स्वर्णच्छवि, बालरूप, वामन हरि होना कहा है।^४ काश्यप ज्ञानकाण्ड में वामनमूर्ति के दायें हाथ में दण्ड तथा वाम हस्त में छत्र लिए हुए रूप का वर्णन है।^५ वामनत्रिविक्रम ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा का उद्देश्य राज्यलाभ तथा विद्या की प्राप्ति कहा गया है।^६ विमानविशेष—नन्दीविशाल, सोमच्छन्द, बृहद्वृत्त तथा दीर्घशाल स्वीकारा गया है।^७ वामन ध्रुवबेर के प्रत्येक अङ्ग का विशद विवेचन उपलब्ध है।^८ पाञ्चरात्रागम में भी वामन-विग्रह-कल्पन का स्वरूप निर्दिष्ट है।^९ वामन का कौतुकबिम्ब चतुर्भुज होता है।^{१०}



त्रिविक्रम

वामन का ही प्रादुर्भाव-रूप त्रिविक्रम है, यह कहना गलत नहीं होगा।

१. विमानार्चनकल्प, पटल ५७.
२. अर्चनाधिकार १३; वासाधिकार २०.
३. विमानार्चनकल्प, पटल ५७.
४. प्रकीर्णाधिकार १७/१९-२०.
५. ज्ञानकाण्ड ८२.
६. ज्ञानकाण्ड ३७.
७. खिलाधिकार १९/७४-७५.
८. वासाधिकार २०; विमानार्चनकल्प, पटल ५७.
९. सात्वतसंहिता २४/२३५-२३७; ईश्वरसंहिता १७/२३६-२३७.
१०. समूर्तार्चनाधिकरण २४/३२-३३; वासाधिकार २०.

मान्यताओं के अनुसार भगवान् विष्णु ने वामन के रूप में राजा बलि से तीन पग पृथ्वी की याचना की थी, पर उसे मापने के समय सहसा उसे वञ्चित कर अतिविशाल रूप धारण कर लिया था और उस रूप से तीन ही पग में सारी वसुन्धरा तथा स्वर्लोकों के साथ उसके शरीर को भी नाप डाला था। वैखानसागम के अनुसार त्रिविक्रम भगवान् विष्णु के अवतारों में अन्यतम है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, त्रिविक्रम वामन का ही रूप-विशेष है, पर इसकी आकृति वामन की आकृति से सर्वथा विपरीत अतिविशाल होना कहा गया है। त्रिविक्रम रूप के साथ वामन-रूप के कल्पन का भी विधान है। त्रिविक्रम प्रतिमा का पादन्यास-भेद से त्रिविध रूप चित्रित है, जो इस प्रकार हैं—त्रिविक्रमस्त्रिधा प्रोक्तो लोकेषु त्रिपादन्यासात्। भूलोकाक्रमणार्थं जानुमात्रम्, अन्तरिक्षलोकाक्रमणार्थं नाभिमात्रम्, स्वर्गलोकक्रमणार्थं ललाटमात्रं च ऊर्ध्वपादो भवेत् ॥^१

त्रिविक्रम मूर्ति का उत्तम दशतालमान में किया जाना निर्देशित हैं। विग्रह चतुर्भुज, द्विभुज या अष्टभुज होता है। दक्षिण हस्त में गदा, चक्र, असि तथा शक्ति तथा वामहस्त में शङ्ख, धनुष, बाण, ढोलक धारण किये हुए होता है। द्विभुज-भूतिकामी, राज्यकामी-चतुर्भुज, सभी कामों में विजय को चाहने वाले को अष्टभुज विग्रह बनाकर स्थापित करने को कहा गया है।^२ फलभेद, युगभेद तथा वर्णभेद से त्रिविक्रम ध्रुवबेर का स्वरूप प्राप्त होता है—

मोक्षार्थी श्वेतवर्णं च पीतवर्णं तु पुत्रधीः ।
 धनधान्यसमृद्ध्यर्थी श्यामं कुर्यात् त्रिविक्रमम् ॥
 वीर्यार्थी विजयार्थी च रुक्मवर्णं समाचरेत् ।
 कृतत्रेताद्वापराश्च कलिश्चेति युगाः क्रमात् ॥
 श्वेतवर्णं पीतवर्णं श्याममञ्जनसन्निभम् ।
 यथाक्रमं प्रकुर्याद् वै युगेषु च विशेषतः ॥
 ब्राह्मणो यजमानश्चेत् श्वेतवर्णः प्रशस्यते ।
 क्षत्रियश्चेद् रक्तवर्णो वैश्यश्चेत् पीत आदृतः ॥

१. विमानार्चनकल्प, पटल ३७; क्रियाधिकार ११/६२; समूर्तार्चनाधिकरण ५९/४८.

२. वासाधिकार २०.

शूद्रश्चेदञ्जनो वर्णः सर्वेषां श्याम एव वा ।

एवं वर्णं यथावाञ्छं कारयेत् त्रिविक्रमम् ॥^१

त्रिविक्रम कौतुकबेर चतुर्भुज रूप का होता है।^२

परशुराम

परशुराम ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा का उद्देश्य धर्मवृद्धि तथा सुखाकांक्षा बताया गया है।^३ देवालय ग्राम के बाहर या नदीतट अथवा समुद्र के पास पुण्य मनोरम क्षेत्र में होना चाहिए।^४ जामदग्नि राम के लिए फेलाकार, श्रीप्रतिष्ठक अथवा महाशङ्ख विशेष विमान की व्यवस्था दी गयी है।^५ समूर्तार्चनाधिकरण में मालाकार विमान में विग्रह की प्रतिष्ठा करने को कहा गया है।^६ परशुराम की



मूर्ति दशतालमान, स्थित तथा आसीन दोनों रूपों में वर्णित है। रक्तवर्ण, द्विभुज, जटामुकुटभूषित, नीलाम्बरधर, वीरासन में सुशोभित है। दायें हस्त में परशु धारण किये हैं।^७ विमानार्चनकल्प में ध्रुवबेर इस प्रकार कल्पित है—“जमदग्निरामं मध्यमं दशतालमितं द्विभुजं रक्ताभं श्वेतवस्त्रधरं दक्षिणेन हस्तेन परशुधरम् जटामुकुटधरं सोपवीतं सर्वाभरणभूषितं स्थितमेव कारयेत्”^८ पाद्मसंहिता ने चतुर्भुज मूर्ति का निर्देश किया है। इनके चारों हाथों में क्रमशः शङ्ख, चक्र, शार्ङ्ग तथा शर धारण किये हैं।^९ कौतुक रूप चतुर्भुज कल्पित है।^{१०}

१. खिलाधिकार १९/५४-५९.
२. ज्ञानकाण्ड ८२; समूर्तार्चनाधिकरण २४/३२-३३.
३. ज्ञानकाण्ड ३७.
४. वासाधिकार २१.
५. वासाधिकार २१; ज्ञानकाण्ड ८३; प्रकीर्णाधिकार १५/४.
६. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/४.
७. ज्ञानकाण्ड ८३; क्रियाधिकार ११/८२-८४; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/५-७.
८. विमानार्चनकल्प, पटल ५८; प्रकीर्णाधिकार १५/५-७.
९. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १७/५९-६०.
१०. विमानार्चनकल्प, पटल ५८; वासाधिकार २१; क्रियाधिकार ११/८४; प्रकीर्णाधिकार १५/७.

राम

राम की प्रतिमा दो तरह की गयी है—सायुध तथा निरायुध।^१ सायुध मूर्ति का स्वरूप द्विबाहुयुक्त, श्यामवर्ण, धनुर्धारी, त्रिभङ्गी स्थिति में कल्पित होता है। खिलाधिकार में मुकुटादि सर्वाभरण विभूषित, श्रीवत्सवक्ष, पीताम्बरसुशोभित, हाथ में धनुष धारण किये हुए वर्णित है। वाम भाग में लक्ष्मण तथा दक्षिण भाग में सीता की स्थिति होती है।



इसका उच्छ्राय राम के कन्धे तक होता है। हेमवर्णा, पद्मनेत्रा, शुकपिच्छनिभाम्बरा सीता तथा धनुर्धारी रूप लक्ष्मण का निर्दिष्ट है। हनुमान् अञ्जनवर्ण, रक्तमुख, श्वेतवस्त्रधारी अष्टताल मान में वर्णित हैं। महान् भक्त हनुमान् सभी मूर्तियों के सामने स्थित है।^२ खिलाधिकार की भाँति ही महर्षि अत्रि को भी राममूर्ति का रूप मान्य है।^३ विमानार्चनकल्प में राम विग्रह के त्रिविध भङ्गों नतमान-आभङ्ग, समभङ्ग तथा अतिभङ्ग का लक्षण प्रतिपादित हैं। यहीं सपरिवार राम ध्रुवबेर मान का विशद विवेचन भी उपलब्ध है।^४ काश्यपीय ज्ञानकाण्ड में सपरिवार राम ध्रुवबेर का स्वरूप अधोलिखित है—

“सार्धनवतालेन मानेन राघवरामं श्यामाभं द्विभुजं दक्षिणेन पाणिना तीक्ष्णशरधरम्, वामेन धनुर्धरम्, किरीटमुकटादिसर्वाभरणभूषितं त्रिभङ्गम्, सीतां दक्षिणे अष्टतालमानेन देवीं द्विभुजां वामेन पद्मधरां दक्षिणमधः प्रसार्य तथैव स्थितम्, देवस्य वामे लक्ष्मणं पीताभं रामवत् तथा शरधनुर्धरं किञ्चिद्दामे स्थितम्, प्रमुखे वार्ताविज्ञापनपरं कपिरूपं द्विभुजं विहितास्थं वामेन स्वाम्बरावकुण्ठनपरं हनुमन्तं च कारयेत्।”^५

१. ज्ञानकाण्ड ८३; क्रियाधिकार ११/८७.

२. खिलाधिकार १९/८८-१३३.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/१७-२४; क्रियाधिकार ११/८६-९६.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ५८.

५. ज्ञानकाण्ड ८३.

अगस्त्यसंहिता के अनुसार राम की प्रतिमा पद्म के भीतर वीरासन में आसीन रूप में कल्पित है। यहाँ राम का वाम हस्त सीता के स्तन को स्पर्श करता हुआ तथा दक्षिण हस्त ज्ञानमुद्रा के रूप में होना निर्दिष्ट है। पक्षान्तर में यहाँ राम के चतुर्भुज रूप का भी स्वरूप प्राप्त है। इस रूप के अवशिष्ट दो हाथों में धनुष और बाण की कल्पना का विधान देखते हैं। यहाँ भी राम का रूप श्यामवर्ण होना कहा है। राम हनुमान् तथा वशिष्ठादि परिवार से युक्त होंगे।^१

सपरिवार निरायुध राम ध्रुवबेर का लक्षण इस प्रकार है—

“सिंहासने वामं पादमाकुञ्चितं दक्षिणं प्रसार्य हस्तं दक्षिणमभयं वामं कट्यवलम्बनपरमासीनं देवं तद्दक्षिणे पार्श्वे देवीं द्विभुजां वामेन पद्मधरां दक्षिणं पादं कट्यां न्यस्य वाममाकुञ्च्य दक्षिणं पार्श्वे देवं किञ्चिदुद्वीक्ष्य सहर्षमासीनां सीतां च तत्सिंहासनादधस्ताद्द्वामतः प्राञ्जलीकृत्य स्थितं लक्ष्मणं दक्षिणे तथा हनुमन्तमेवं निरायुधम्। भरतशत्रुघ्नाभ्यां तथैव लक्ष्मणं सिंहासनादधस्ताद् आसीनं वेति केचित्। एवं निरायुधं राघवं देवं सत्सपुत्र-दयासत्यतपःश्रीकामः स्थापयेत्।”^२

राम ध्रुवबेर निरायुध का लक्षण ज्ञानकाण्ड के समान समूर्तार्चनाधिकरण, क्रियाधिकार तथा प्रकीर्णाधिकार में भी वर्णित है। विशेष बात इतनी ही है कि हनुमत्-स्वरूप मार्तण्डसदृश आभा वाला कहा गया है।^३ वासाधिकार में हनुमान् को प्राञ्जलि (अञ्जलि बाँधे हुए) दिखाया गया है।^४

राम ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा का उद्देश्य विजयार्थी, पुष्ट्यर्थी तथा वीर्यार्थी कहा गया है।^५ खिलाधिकार में प्रजार्थी तथा मोक्षार्थी के लिये राम की अर्चना का विधान निर्दिष्ट है।^६ विग्रहस्थापना ग्राम, नगर, पत्तन, खर्वट, नदीतट, पर्वताग्र अथवा समुद्रतट पर करने को कहा गया है।^७ श्रीराम का कौतुकबेर

१. अगस्त्यसंहिता ३०.

२. ज्ञानकाण्ड ८३.

३. क्रियाधिकार ११/९४-९५; प्रकीर्णाधिकार १५/५२; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/२४-२५.

४. वासाधिकार २१.

५. प्रकीर्णाधिकार १५/१४; ज्ञानकाण्ड ८३.

६. खिलाधिकार १९/८०.

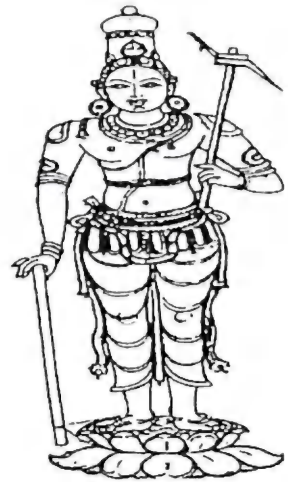
७. खिलाधिकार १९/८१-८२; ज्ञानकाण्ड ३७, ८३;

वासाधिकार २१; प्रकीर्णाधिकार १५/४१।

स्वर्ण, ताम्र अथवा दारु का भी बनाया जा सकता है।^१ कौतुकादिविग्रह चतुर्भुज स्थापित करने का विधान है। श्रीराम के साथ सीता तथा लक्ष्मण पीठपार्श्व में कल्पित हैं।^२

बलराम

बलराम अवतार का उद्देश्य भूमिभार को उतारने के लिए तथा दैत्यों का वध करना बताया गया है।^३ जिसे सार्वभौम साम्राज्य की कामना हो, उसे बलराम के विग्रह की स्थापना करना चाहिए।^४ ग्राम, अग्रहार, पत्तन, नगर खर्वट अथवा राजधानी में इनका देवालय बनाने का विधान है।^५ हस्तिपृष्ठ अथवा सोमच्छन्द विमान में बलराम ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा करने को कहा गया है।^६ बलराम का विग्रह दो प्रकार का—सायुध तथा निरायुध कहा गया है।^७ सायुध विग्रह दशतालमान में नीलाम्बरधारी, शङ्खाभ जैसे वर्ण वाला, द्विभुज होता है। दक्षिण हस्त में मूसल तथा वाम हस्त में हल धारण किये हुए सर्वाभरणभूषित बलभद्र होते हैं।^८ निरायुध बलराम का विग्रह अधोलिखित रूप में है—



वामपादं समाकुञ्च्य दक्षिणं सम्प्रसार्य च ।

सव्यं चाभयहस्तं तु वाममूरुनिवेशितम् ॥

१. खिलाधिकार १९/९८-९९.
२. अर्चनाधिकार १३.
३. ज्ञानकाण्ड ८४; प्रकीर्णाधिकार १५/६२-६४;
क्रियाधिकार ११/९९-१००; वासाधिकार २२.
४. ज्ञानकाण्ड ३७.
५. वासाधिकार २२.
६. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/५१; ज्ञानकाण्ड ८४; क्रियाधिकार ११/१००,
प्रकीर्णाधिकार १५/६५; वासाधिकार २२.
७. ज्ञानकाण्ड ८४; क्रियाधिकार ११/१९.
८. ज्ञानकाण्ड ८४; क्रियाधिकार ११/१०१-१०२.

रेवतीं दक्षिणे पार्श्वे नीलोत्पलदलप्रभाम् ।
पद्मं दक्षिणहस्तेन गृहीत्वाऽन्यं तथैव च ॥
ऊरौ निवेश्य चासीनां रेवतीं च प्रकल्पयेत् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं देवं देवीसमन्वितम् ॥^१

पाञ्चरात्रागम की हर्षशीर्षसंहिता में वर्णित बलराम के चतुर्भुज रूप का विधान देखते हैं, जहाँ, दक्षिण-ऊर्ध्वहस्त में मूसल तथा अधः दक्षिणहस्त में चक्र तथा वाम-ऊर्ध्वहस्त में लाङ्गल, अधः हस्त में शङ्ख रखने का विधान है। पक्षान्तर में शङ्ख-चक्र के स्थान पर गदा तथा कृपाण धारण करने का विधान किया गया है।^२ कौतुकबेर विष्णु की तरह चतुर्भुज बलराम का वैखानस ग्रन्थों में सर्वाभरणभूषित देवी के साथ स्थापित करने का निर्देश है।^३

कृष्णमूर्ति

विष्णु के विविध अवतारों में अन्यतम तथा अत्यन्त प्रसिद्ध कृष्णावतार के विविध रूपों का विस्तृत वर्णन हम कई वैखानस ग्रन्थों में देखते हैं। कृष्ण के मूर्ति-कल्पन का निर्देश करते हुए खिलाधिकार ने इसका वर्णन सस्यश्याम होना कहा है। यह सुन्दर विग्रह द्विभुज होता है। सभी भूषणों से भूषित पीतवस्त्रधारी है। दक्षिण कर्णनाल रत्नों का तथा वामकर्णनाल शङ्खपत्र का होना निर्दिष्ट है। उत्तरीय तथा वनमाला से युक्त होता है। इस मूर्ति का दक्षिणहस्त क्रीडायष्टिसमन्वित तथा वाम हस्त गरुड के स्कन्ध पर रखा होना कहा है। मूर्ति अत्यन्त बालरूप नहीं होना कहा



१. क्रियाधिकार ११/१०२-१०५; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/५४-५६;
प्रकीर्णाधिकार १५/६८-६९.
२. हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड २३/३२-३३.
३. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/५७; क्रियाधिकार ११/१०५; वासाधिकार २२.

गया है। क्रीडारससमायुक्त दिव्यरूप वर्णित है। दक्षिण पार्श्व में रुक्मिणी सर्वाभरणसंयुक्ता नवतालमान होना चित्रित है। वाम भाग में सत्यभामा रक्तवस्त्रा अलङ्कृता श्यामवर्णा कल्पित है। अथवा गरुड से पूर्व गोपाल हो सकते हैं। गोपाल गोपवेषधारी वंशहस्त अष्टताल में होना चाहिए।

श्रीदामा को अंजलि बाँधे श्वेतवस्त्र पहने हुए षण्मात्राधिक अष्टताल-मान प्रतिमा का विधान विहित है।^१ वासाधिकार में सपरिवार कृष्ण ध्रुवबेर अधोलिखित है—

कृष्णस्य ध्रुवबेरं तु देव्योश्च सहितं क्रमात् ॥
 उक्तं ध्रुवस्य मानेन कुर्यात् कृष्णं विधानतः ।
 लीलायष्टिधरं देवं वामे नासाङ्गकूर्परम् ।
 सर्वाभूषणसंयुक्तं ब्रह्मसूत्रसमन्वितम् ॥
 रक्ताम्बरधरं चैव श्यामलं कमलेक्षणम् ।
 मुकुटे कुन्तलैर्युक्तं रुक्मवर्णसमायुतम् ॥
 रुक्मिणीं दक्षिणे कुर्यात् सत्यभामां तु वामतः ।
 वामे वामकरे धृत्वा उत्फुल्लं चारविन्दकम् ॥
 अन्यत् तद्विपरीतं वा सा धृत्वोपलपद्मके ।
 रुक्मिणीं रुक्मवर्णाभां श्यामाभां सत्यभामिनीम् ॥
 वासुदेवं देवकीं च पुरतो दक्षिणे कृते ।
 यशोदां नन्दगोपं च देवेशं वीक्ष्य संस्थिताम् ॥
 साम्बप्रद्युम्नकौ वामे कल्पयेद् देशिकोत्तमः ।
 गोपमन्यत् तथा कुर्याद् दामं सुमनसं तथा ॥
 कृष्णस्य कर्णनाभ्यन्तं समस्तं हनुमास्यकम् ।
 कक्षबाहुसमं वाथ कारयेद् युक्तितः क्रमात् ।
 नवतालेन मानेन मानेन सर्वभूषणभूषितम् ।
 देवकीं वसुदेवं च रुक्मवर्णेन कारयेत् ॥

यशोदां गौरवर्णाभां कर्बुरं नन्दगोपकम् ।
 प्रद्युम्नं श्यामवर्णं च साम्बं कालाम्बुदप्रथम् ॥
 दामं रक्तनिभं कुर्याद् गौरं सुमनसं तथा ।
 पूर्वोक्तेनैव कृत्वा तु मानोन्मानप्रमाणवत् ॥^१

वासाधिकार में कृष्णावतार में भगवान् द्वारा की गयी विविध लीलाओं के आधार पर अनेक मूर्तियों के कल्पन का विधान है। इस क्रम में निम्नलिखित रूपों के नाम निर्दिष्ट हैं—कालियमर्दन, पार्थसारथि रूप तथा विश्वरूप आदि। इन विविध रूपों की कल्पना देवियों के सहित अथवा रहित करने का निर्देश है। अन्त में कहा गया है कि यजमान अपनी इच्छा से कृष्ण का जो रूप उसे रुचिकर लगे, वह उस रूप की कल्पना कर उसकी अर्चना कर सकता है, क्योंकि कृष्ण के रूप असंख्य हैं, उनका वर्णन देवताओं तथा ऋषियों द्वारा भी असम्भव है।^२ इस वर्णन का समर्थन क्रियाधिकार^३, प्रकीर्णाधिकार^४, समूर्तार्चनाधिकरण^५ के द्वारा किया गया है। आराधक की आराधना तथा कृष्णरूप की विविधता का उद्घोष करते हुए महर्षि अत्रि कहते हैं कि—

कृष्णरूपमसङ्ख्यातं सङ्ख्या वक्तुं न शक्यते ।
 स्वेच्छारूपं तु कृत्वा तु तद्रूपं तु समर्चयेत् ॥^६

मुनि मरीचि, कश्यप तथा भृगु उक्त कथन का अनुमोदन करते हैं।^७
 वैखानसागम के कुछ ग्रन्थों ने श्रीकृष्ण के अन्यान्य रूपों का निर्देश किया है। कुछ स्थलों में कृष्ण का चतुर्भुज रूप वर्णित है।^८ निरायुध मूर्ति की

१. वासाधिकार २२.

२. वासाधिकार २१.

३. क्रियाधिकार ११/११४-११६.

४. प्रकीर्णाधिकार १६/२०-२१.

५. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/७०.

६. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/८१-८२.

७. विमानार्चनकल्प, पटल ५९; ज्ञानकाण्ड ८४; खिलाधिकार १९/१९६-१९८.

८. क्रियाधिकार ११/१२३-१२५.

कल्पना भी प्रतिपादित है।^१ कृष्ण ध्रुवबेर के पीठ तथा प्रतिमोत्सेध क्रमशः पाँच भाग तथा तीन भाग विभाग में विभक्त कर प्रतिमामान का विशद विवेचन किया गया है।^२ वय के आधार पर भी मानविभाजन का क्रम यहीं निर्दिष्ट है।^३

वैखानस आगम में वसुदेव से उद्भूत दो प्रकार के वासुदेव की कल्पना की गई हैं—मानुष वासुदेव तथा दैविक वासुदेव।^४ मानुष वासुदेव की प्रतिष्ठा शौर्यवीर्यादि कामना की सिद्धि के लिए दीर्घशाला या गोपुराकार विमान में करने का निर्देश है।^५ मानुष वासुदेव का ध्रुवविग्रह श्यामाङ्ग द्विभुज सर्वाभरणसंयुत होता है। हाथ में चक्र तथा शङ्ख धारण किये हुए हैं। दायें रुक्मिणी देवी स्वर्णाभा सर्वाभरणभूषिता तथा इनके दायें बलभद्र मूसल लिए हुए कल्पित हैं। इसी क्रम में प्रद्युम्न पीतकौशेयधारी वर्णित है। वाम पार्श्व में अनिरुद्ध खड्गखेटक लिए हुए तथा इनके पार्श्व में साम्ब की प्रतिमा का विधान होता है। ये सभी मूर्तियाँ दशताल प्रमाण में कल्पित होंगी।^६

दैविक वासुदेव ध्रुवमूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए सोमच्छन्द अथवा बृहद् वृत्त विमान का विधान है। इस मूर्ति की स्थापना से स्वदार, पुत्र, पौत्र, भ्रातृ, स्वकुलवर्धन, निरोगता, ऐश्वर्य, सुख, भोग, श्री, कीर्ति, श्रीवृद्धि होती है।^७ सपरिवार दैविक वासुदेव के मूर्ति का विधान समूर्तार्चनाधिकरण में अत्यन्त स्पष्ट रूप से उपलब्ध है। तदनुसार विग्रह चतुर्भुज होता है, ऊर्ध्व दोनों हस्त में शङ्ख तथा चक्र धारण किए हुये हैं। तथा नीचे के दक्षिण हस्त अभय मुद्रा में तथा वामहस्त कट्यावलम्बित है। यह दशतालमान प्रमाण का होता है।

१. ज्ञानकाण्ड ८४; क्रियाधिकार ११/११३; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/६९.

२. प्रकीर्णाधिकार १६/२१-४०.

३. प्रकीर्णाधिकार १६/२-६.

४. ज्ञानकाण्ड ८६; समूर्तार्चनाधिकरण ६१/१; विमानार्चनकल्प, पटल ६०.

५. ज्ञानकाण्ड ८६.

६. खिलाधिकार १९/२०३-२१०; ज्ञानकाण्ड ८६;
विमानार्चनकल्प, पटल ६०; समूर्तार्चनाधिकरण ६१/२-११.

७. ज्ञानकाण्ड ८६; समूर्तार्चनाधिकरण ६१/१२;

खिलाधिकार १९/२१४;

क्रमशः पार्श्व में श्री देवी तथा भूमि का विधान है। बलभद्र सायुध अथवा निरायुध कल्पित हैं। बलभद्र के पार्श्व में रेवती दायें तथा प्रद्युम्न के पार्श्व में रोहिणी नीलवर्णा निरूपित हैं। अनिरुद्ध के पार्श्व में रामा तथा साम्ब के पार्श्व में श्यामा पीताइन्दुकरी निर्दिष्ट हैं। सभी देवियाँ किरीटाभरणयुक्त होती हैं। रुक्मिणी नीलवर्णा प्रद्युम्न के पार्श्व में तथा रामा अनिरुद्ध के पार्श्व में चित्रित हैं।^१

प्रकीर्णाधिकार में कृष्ण के विविध रूपों का वर्णन प्राप्त होता है— बालगोपाल रूप^२, लीलामानुष विग्रह रूप^३, क्रीडायष्टिधररूप^४, सन्तानगोपाल रूप^५, वृन्दावनचर रूप^६, जगन्मोहन रूप^७, वेणुनादनट रूप^८, राजगोपाल रूप^९, ज्ञानगोपाल रूप^{१०}, मोहनगोपाल रूप^{११}, गोवर्धनधर रूप^{१२}, पार्थसारथि रूप^{१३}, वटपत्रशयन-रूप^{१४}, सर्वमोहनरूप^{१५}, बालरूप^{१६}, वेणुगोपाल रूप^{१७}, सुन्दर गोपाल-रूप^{१८} कल्पित हैं। कृष्ण के रासमण्डल- मध्यस्थ नवनीत नर्तन रूप सामान्यतः प्रमुख कहे गये हैं। महर्षि अत्रि ने सर्वाभरणभूषित, नृत्य

१. समूर्तार्चनाधिकरण ६१/१२-२१; खिलाधिकार १९/२१४-२२०;
विमानार्चनकल्प, पटल ६०.
२. प्रकीर्णाधिकार १६/८३-८५.
३. प्रकीर्णाधिकार १६/६१-६९.
४. प्रकीर्णाधिकार १६/८-२०; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/६३-६८;
ज्ञानकाण्ड ८४; क्रियाधिकार ११/१०९-१११.
५. प्रकीर्णाधिकार १६/४८-५०.
६. प्रकीर्णाधिकार १६/४०-४२.
७. प्रकीर्णाधिकार १६/५१-५७.
८. प्रकीर्णाधिकार १६/५७-६०.
९. प्रकीर्णाधिकार १६/७०-७१.
१०. प्रकीर्णाधिकार १६/७१-७३.
११. प्रकीर्णाधिकार १६/७४-७६.
१२. प्रकीर्णाधिकार १६/७६-७९.
१३. प्रकीर्णाधिकार १६/७९-९०; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/७१-७८.
१४. प्रकीर्णाधिकार १६/८६-९०.
१५. प्रकीर्णाधिकार १६/९०-९२.
१६. प्रकीर्णाधिकार १६/६-७.
१७. क्रियाधिकार १६/११६-११८.
१८. क्रियाधिकार १६/११९-१२१.

करते हुए, बालरूप गोपियों के साथ आँचल की गाँठ बाँधे हुए रूप का भी वर्णन किया है। दक्षिणहस्त अभय मुद्रा में अथवा नवनीत लिए हुए, तथा बाँया हाथ फैलाए हुए, नवनीत पाने के लिए नट की तरह नाचते हुए से वर्णित है। गोपियों के साथ नर्तन मुद्रा में वर्णित हैं।^१ विमानार्चनकल्प में नवनीतनट का वर्णन समूर्तार्चनाधिकरण के भाँति ही किया है। यहाँ अन्तर नवनीतनृत्त रूप अम्बरहीन तथा अम्बराधारयुत दोनों प्रकार का है।^२ कालियमर्दन का लक्षण ज्ञानकाण्ड में निरूपित है। तदनुसार कालियनाग के सात या पाँच फणों के ऊपर नृत्य करते हुए कालिय का मर्दन कर रहे हैं।^३ कृष्ण के विविध रूपों का वर्णन हम पाञ्चरात्र-आगम ग्रन्थों में भी देखते हैं।^४ पर वे सभी प्रायः उसी प्रकार के कहे गये हैं, जैसे वैखानसागम ग्रन्थों में।

श्रीकृष्ण का कौतुकबेर ध्रुवबेर की तरह कल्पित होता है, अथवा चतुर्भुज बिम्ब अभय तथा वरद मुद्रा में शङ्ख और चक्र धारण किये हुए है।^५ कर्मार्चा-स्थानक चतुर्भुज होता है।^६ द्रव्यविग्रह का उपादान स्वर्ण, रजत अथवा ताम्र का होना निर्दिष्ट है।^७ उत्सवविग्रह क्रीडायष्टिधर अथवा पार्थसारथि रूप मान्य है।^८

कल्कि मूर्ति

विष्णु का अन्तिम अवतार कल्कि के रूप में वर्णित है। कल्कि-विग्रह-प्रतिष्ठा का उद्देश्य “पापौघविघ्नाय कल्किणं पूजयेदिति विज्ञायते” ज्ञानकाण्ड

१. समूर्तार्चनाधिकरण ६०/७१-७४; ज्ञानकाण्ड ८४; खिलाधिकार १९/१९४-१९५.
२. विमानार्चनकल्प, पटल ५९.
३. ज्ञानकाण्ड ८४; विमानार्चनकल्प, पटल ५९; प्रकीर्णाधिकार १६/४६-४७.
४. सात्वतसंहिता १२/१४५-१५५; पाद्मसंहिता; क्रियापाद १८/१-३७; नारदीयसंहिता १३/२८८-३००.
५. प्रकीर्णाधिकार १६/९५-९६; विमानार्चनकल्प, पटल ५९; समूर्तार्चनाधिकरण ६०/६३-६८; क्रियाधिकार ११/११३.
६. अर्चनाधिकार १३.
७. खिलाधिकार १९/१८१.
८. क्रियाधिकार ६/२२-२३.

में निर्दिष्ट है।^१ कल्कि-ध्रुवबेर की स्थापना पर्वताकृति, गोपुर अथवा कूटागार देवालय में करने का विधान विहित है।^२ चतुर्भुज कल्कि-मूर्ति नराकृति में कल्पित है। मुख कहीं अश्व की तरह भी निर्दिष्ट है। हाथों में क्रमशः चक्र, शङ्ख, खड्ग तथा खेटक धारण किये हुए है। अथवा द्विभुज अश्वारोही रूप होना कहा गया है। शुद्ध स्फटिक खड्ग तथा खेटक लिए हुए अश्वारूढ़ हैं।^३ कौतुकबेर विष्णु की तरह अथवा चतुर्भुज होना वर्णित है।^४ उत्सवस्नपन बिम्ब विष्णु के सदृश स्वीकृत है।^५ पाञ्चरात्र संहिताओं में भी कल्कि-मूर्ति की कल्पना कई रूपों में की गई है।^६



चौबीस अवतार

दशावतार के पश्चात् वैखानस आगम ग्रन्थों ने केशवादि चतुर्विंश ध्रुवबेर की कल्पना का निर्देश दिया है। केशवादि मूर्तियों के देवालय विष्णु-विमान के सदृश होते हैं।^७ इन मूर्तियों के हस्त में विभिन्न कमलों के वर्ण का कमल होना विहित है। केवल वर्ण तथा आयुधादि के आधार पर ही ये चतुर्विंश मूर्तियाँ एक दूसरी से भिन्न होती हैं।

प्रथम केशव—ध्रुवबेर के रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह मूर्ति शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये होती है। सौम्यरूप, सर्वालङ्कारसंयुक्त मुक्ताहार विभूषित है। इस मूर्ति के साथ श्रीदेवी तथा भूदेवी के कल्पन का विधान किया है।^८ पाञ्चरात्रागम की पराशरसंहिता में केशव-विग्रह का स्वरूप उपर्युक्त वर्णन से पूरी तरह साम्य रखता है।^९

१. ज्ञानकाण्ड ३७.

२. प्रकीर्णाधिकार १६/१०३.

३. प्रकीर्णाधिकार १६/१०४-१०६; विमानार्चनकल्प, पटल ५९.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ५९; प्रकीर्णाधिकार १६/१०७.

५. क्रियाधिकार ६/२२; प्रकीर्णाधिकार १६/११०.

६. मार्कण्डेयसंहिता ८/६७-७०; नारदीयसंहिता १३/३०३-३०५;

पाद्मसंहिता, क्रियापाद, १८/४५-४६.

७. प्रकीर्णाधिकार १७/३७.

८. प्रकीर्णाधिकार १७/१-३.

९. पराशरसंहिता १३/१८.

द्वितीय नारायण की प्रतिमा घनश्याम चतुर्भुज होती है। हाथों में क्रमशः शङ्ख, पद्म, गदा तथा चक्र लिए हुए हैं। पीताम्बरधारी एवं मणियों से विभूषित हैं।^१ वशिष्ठसंहिता ने नारायण को केवल शङ्ख तथा चक्रधारक होना कहा है।^२

लक्ष्मीनारायण की मूर्ति सिंहासन पर समासीन दक्षिण हस्त प्रसार कर, वाम हस्त आसन पर रखे हुए दशतालप्रमाण में है। वाम भाग में लक्ष्मी प्रसारितहस्त पञ्चताल प्रमाण में कल्पित है। दायाँ हस्त अभयमुद्रा में तथा बाँये भाग में लक्ष्मी को आलिंगन किये हुए हैं। अन्य हाथों में शङ्ख तथा चक्र धारण किये हुए हैं। अथवा गरुडासीन लक्ष्मीनारायण मूर्ति होती है। अथवा सप्त या पञ्च फणों से युक्त शेषनाग पर समासीन लक्ष्मीनारायण की कल्पना की गयी है। यहाँ नारायण के दक्षिण हस्त में लक्ष्मी आलिंगित हैं तथा वामहस्त अभयदायक मुद्रा में है।^३ विश्वामित्रसंहिता में भी नारायण मूर्ति के साथ लक्ष्मी तथा भूदेवी की कल्पना का विधान है।^४

माधवध्रुवबेर का रूप उत्पल (कमल) के सदृश है। चतुर्भुजों में क्रमशः चक्र, चाप, गदा तथा खड्ग धारण किये हुए हैं।^५ पाञ्चरात्र संहिताओं में माधव को आराधक के दक्षिण-चक्षु से सम्बद्ध माना है। पाद्म तथा मार्कण्डेय संहिता ने इन्हें गदा, चक्र, शङ्ख तथा अम्बुज हस्त बताया है।^६

गोविन्दमूर्ति पाण्डुर रङ्ग का होना कहा गया है। इस मूर्ति के चारों हाथों में गदा, शङ्ख, चक्र तथा पद्म धारण किये हुए निर्दिष्ट हैं।^७ गोविन्द का विग्रह पीताम्बर धारण किये हुए तरुण अर्क की आभा की तरह अथवा श्याम या अभ्र वर्ण का होता है।^८

१. प्रकीर्णाधिकार १७/३-४.

२. वशिष्ठसंहिता १६/१०.

३. प्रकीर्णाधिकार १७/५-१२.

४. विश्वामित्रसंहिता ६/४७.

५. प्रकीर्णाधिकार १७/१२-१३.

६. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/३; मार्कण्डेयसंहिता ८/४.

७. प्रकीर्णाधिकार १७/१३-१४.

८. विष्वक्सेनसंहिता ११/१६४-१६७.

विष्णुध्रुवरे का लक्षण नीलकमल की तरह कल्पित किया गया है। सर्वाभरणयुक्त, पीतवासधारी है। हाथों में शङ्ख, चक्र, पद्म तथा गदा लिए हुए निर्दिष्ट है।^१ विष्णुसंहिता में विष्णु को अष्टभुज सर्वाभरण-समन्वित बताया गया है। यह मूर्ति पक्षिराज पर आरूढ है। इसके हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्ग, असि, शर तथा खेटक का विधान है।^२

मधुसूदन का रूप रक्त कमल की भाँति है। यह रूप भी चतुर्भुज होता है। चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, पद्म तथा गदा धारण का विधान है।^३ सात्वतसंहिता में मधुसूदन का अष्टभुज होना कहा है। इनका स्वरूप प्रलयानल सूर्य की आभा की तरह होता है। यह मूर्ति शङ्ख, चक्र, बाण तथा कार्मुक लिए होती है। इसके इतर अन्य चार हाथों में अक्षसूत्र, दण्ड, कमण्डलु तथा श्वेत पद्म के धारण का विधान है।^४

त्रिविक्रम मूर्ति का स्वरूप नील वर्ण का बताया गया है। यह रूप भी चतुर्भुज चित्रित है। हाथों में शङ्ख, चक्र, पद्म तथा गदा विभूषित रहती है।^५ हयशीर्षसंहिता के अनुसार त्रिविक्रम का एक पाद ऊपर की ओर उठा हुआ और दूसरा पाद राजा बलि के पास स्थित होता है। यह रूप चतुर्भुज होता है तथा गदा, पंकज, चक्र तथा शङ्ख धारण किये हुए होता है।^६

वामन-विग्रह मेघवर्ण चतुर्भुज होना निर्दिष्ट है। हाथों में गदा, शङ्ख, चक्र तथा कमल लिए हुए कल्पित है।^७ पराशरसंहिता में वामन रूप का चक्र, शङ्ख, छत्र तथा वंशधारी होना विहित है। इस रूप के साथ लक्ष्मी की भी कल्पना चित्रित है।^८ शेषसंहिता में ये तेजःपुञ्ज, शिखाधारी, कमण्डलु तथा छत्र हाथ में लिए हुए है।^९

१. प्रकीर्णाधिकार १७/१४-१५.

२. वशिष्ठसंहिता १/१८-२०.

३. प्रकीर्णाधिकार १७/१५-१६.

४. सात्वतसंहिता १२/२०-२४.

५. प्रकीर्णाधिकार १७/१६-१७.

६. हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड, २३/२१-२३.

७. प्रकीर्णाधिकार १७/१७, १८/२०.

८. पराशरसंहिता १५/१८६.

९. शेषसंहिता ८/७.

श्रीधरमूर्ति का रूप चतुर्भुज होता है और इसके हाथों में गदा, शङ्ख, चक्र तथा पद्म के धारण का विधान किया गया है। इसका वर्ण सितासित कहा गया है।^१ पाञ्चरात्र संहिताओं में इनका वर्ण तप्त स्वर्ण वर्णित है।^२

हृषिकेश की मूर्ति चार भुजाओं वाली निर्दिष्ट है। इनमें चार अस्त्रों के धारण का विधान है। चे चार अस्त्र हैं—गदा, शङ्ख, चक्र और पद्म। इसका वर्ण श्याम कहा गया है।^३ पाञ्चरात्र ग्रन्थों में भी इनका स्वरूप प्रतिपादित है, वहाँ इन्हें नीलोत्पल वर्ण का कहा गया है।^४

पद्मनाभ के चारों हाथों में गदा, चक्र, पद्म तथा शङ्ख के साथ सामान्यतः कल्पन का विधान है। महर्षि भृगु ने इसका वर्ण सितासित निरूपित किया है।^५ विष्णुक्सेनसंहिता के अनुसार इनकी भुजाओं में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण का विधान है। इनका वर्ण अम्बर की तरह नील कहा है।^६

दामोदर मूर्ति का सितगौरवर्ण का होना निर्दिष्ट है। इनके भुजाओं में पद्म, शङ्ख, गदा तथा चक्र धारण का विधान है।^७ पाद्मसंहिता में दामोदर मूर्ति का स्वरूप वर्णित है।^८

संकर्षण की प्रतिमा का वर्ण श्वेत कहा गया है। चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण का विधान है।^९ संकर्षण की मूर्ति हल तथा मूसल, गदा तथा पद्महस्त युक्त हयशीर्षसंहिता में वर्णित है।^{१०}

वासुदेव-विग्रह का रूप तरुणादित्य या चन्द्रमा की दीप्ति सदृश

१. प्रकीर्णाधिकार १७/२०-२१.
२. विष्णुक्सेनसंहिता ११/१८७-१९०; मार्कण्डेयसंहिता ८/७; पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/३४.
३. प्रकीर्णाधिकार १७/२१-२२.
४. पराशरसंहिता १३/७४; मार्कण्डेयसंहिता ८/८; पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/३५.
५. प्रकीर्णाधिकार १७/२२-२३.
६. विष्णुक्सेनसंहिता ११/१२०-१२२.
७. प्रकीर्णाधिकार १७/२३-२४.
८. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १९/३५.
९. प्रकीर्णाधिकार १७/२४-२५.
१०. हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड २१/४.

अथवा नवकुन्दाभ बताया गया है। इनकी भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण का विधान है।^१ लक्ष्मीतन्त्र में वासुदेवमूर्ति का स्वरूप चतुर्भुज प्रतिपादित है।^२

प्रद्युम्न की मूर्ति सुवर्णाभ वर्ण की बतायी गयी है। चक्र, शङ्ख, गदा तथा पद्म हस्तयुक्त महाबलशाली है।^३ लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार प्रद्युम्न वरद तथा अभय हस्त निर्दिष्ट हैं। इनका वर्ण तथा वस्त्र रक्त होगा।^४ पाद्मसंहिता में प्रद्युम्न को शङ्ख, चक्र, दण्ड तथा पद्मधारक कहा गया है।^५

अनिरुद्ध के सम्बन्ध में उसका वर्ण हिरण्याभ के समान सर्वालङ्कारसंयुत होना कहा है। इनके भुजाओं में शङ्ख, चक्र, धनुष तथा खड्ग का होना निर्दिष्ट है।^६ बृहद् ब्रह्मसंहिता ने अनिरुद्ध को क्षीरसागर के बीच श्वेतद्वीप में हेम-निर्मित प्रासाद में विविध योगियों, चण्डादि द्वारपालों, कुमुदादि अनुजीवियों, गरुड तथा विष्वक्सेन से सुसेवित, श्रीवत्सलाञ्छित एवं श्री-भूमि देवियों के साथ विराजमान कहा गया है।^७

पुरुषोत्तम मूर्ति सितासित वर्ण की होती है। यह मूर्ति चतुर्भुज है। शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण निर्दिष्ट है।^८

अधोक्षज शङ्खाभ सदृश कल्पित हैं। इनके चारों भुजाओं में चक्र, शङ्ख, गदा तथा पद्म विभूषित हैं।^९

नारसिंह मेघ के समान सर्वालङ्कारसंयुत निर्दिष्ट हैं। भक्त को अभय देने वाले इस विग्रह की भुजाओं में चक्र, शङ्ख, गदा तथा पद्म का विधान विहित है।^{१०}

१. प्रकीर्णाधिकार १७/२५-२६.
२. लक्ष्मीतन्त्र ३८/५४.
३. प्रकीर्णाधिकार १७/२७.
४. लक्ष्मीतन्त्र ३८/५६.
५. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/३८.
६. प्रकीर्णाधिकार १७/२८.
७. बृहद् ब्रह्मसंहिता १३/१८३-१८६.
८. प्रकीर्णाधिकार १७/२९.
९. प्रकीर्णाधिकार १७/३०.
१०. प्रकीर्णाधिकार १७/३१.

पाद्मसंहिता तथा मार्कण्डेयसंहिता में नृसिंह का चतुर्भुज रूप वर्णित है। इनके चारों हाथों में धार्यमान आयुध शंख, चक्र गदा तथा पद्म कहे गये हैं।^१

अच्युत को सितमेचकवर्ण कहा गया है। यह रूप चतुर्भुज होता है और गदा, पद्म, चक्र तथा शङ्ख धारण किये हुए होता है।^२

जनार्दन की प्रतिमा नीलवर्ण कही गयी है। इनके हाथों में चक्र, शङ्ख, गदा तथा पद्म का होना वर्णित है।^३

उपेन्द्र काले मेघ वर्ण के कल्पित हैं। जगत्प्रभु के भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण का विधान प्रतिपादित है।^४

हरि की प्रतिमा सितासित वर्ण की सर्वालङ्कारशोभित अङ्कित है। शङ्ख, पद्म, गदा तथा चक्र के कल्पना का विधान देखते हैं।^५

कृष्ण की मूर्ति का निर्देश करते हुए प्रकीर्णाधिकार ने इसका वर्ण वर्षाकालीन मेघ के समान बताया है। इनके चतुर्भुजों में शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण का निर्देश है।^६ पाञ्चरात्रागम में कृष्ण के विविध रूपों का निर्देश है। कुछ स्थलों में कृष्ण का चतुर्भुज रूप भी वर्णित है।^७

वैखानसागम में पञ्चवीरध्रुवबेर का विधान देखते हैं। ये पञ्चवीर हैं—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा साम्बा^८ इन पञ्चवीरों की प्रतिष्ठा ग्राम, नगर, पर्वत, वन, नदी अथवा समुद्र या एकान्त स्थल में करने का निर्देश है।^९ इनके लिए स्वीकृत विमान हैं—विशाल, नन्दी, अष्टाङ्ग,

१. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/४०; मार्कण्डेयसंहिता ८/२८-३०.

२. प्रकीर्णाधिकार १७/३२.

३. प्रकीर्णाधिकार १७/३३.

४. प्रकीर्णाधिकार १७/३४-३५.

५. प्रकीर्णाधिकार १७/३४-३५.

६. प्रकीर्णाधिकार १७/३६-३७.

७. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १६/४२, १८/३;
विष्णुक्सेनसंहिता ३०/४; विष्णुतन्त्र १८/७.

८. ज्ञानकाण्ड ८६.

९. क्रियाधिकार ३०/११०-१११.

सोमच्छन्द, सर्वतोभद्र तथा गोपुराकृति । ये विमान एकतल अथवा द्वितल होते हैं।^१ वासुदेवादि की स्थापना मानुषपद में होना अनुमान्य है।^२

सपरिवार वासुदेव की प्रतिमा का वर्ण श्याम कहा गया है। द्विभुज शङ्खचक्रसमन्वित, पीताम्बरधारी सर्वाभरणभूषित हैं। बायें रुक्मिणी विराजती हैं। उसके दक्षिण में बलदेव श्वेत वर्ण द्विबाहु वर्णित हैं। दायाँ तथा वामहस्त क्रमशः अभय तथा उद्देश मुद्रा में हैं। भित्तिपार्श्व में दक्षिण ओर द्विभुज ब्रह्मा कनकवर्ण वामहस्त कटि पर तथा दक्षिण कर अभयप्रद, उदङ्मुख कल्पित हैं। वासुदेव की उत्तर दिशा में द्विभुज प्रद्युम्न सस्यश्याम वर्ण, वामहस्त कटिन्यस्त तथा दक्षिण हस्त अभय मुद्रा में चित्रित है। उत्तर दिशा में भित्ताश्रित साम्ब द्विभुज स्थित दक्षिणाभिमुख कल्पित हैं। दक्षिण कर अभय और वाम कर कटिन्यस्त रहता है।^३

वासुदेव विग्रह की ऊँचाई गर्भ-गृह भाग के सात भागों के व्यास के समान निर्दिष्ट है। संकर्षण ३४ दण्ड माण के हैं। प्रद्युम्न की ऊँचाई वासुदेव के कर्णसीमान्त कल्पित है। रुक्मिणी और साम्ब का प्रतिमोच्छ्राय वासुदेव के स्तन के बराबर वर्णित है। वासुदेव के हिक्काप्रमाण उच्छ्राय अनिरुद्ध का होना कहा है। वासुदेवसमोत्सेध ब्रह्मा का होना विहित है।^४

इन सबके मध्य में विष्णु श्री तथा भूमि देवियों के सहित अथवा रहित कल्पित हैं। अनिरुद्ध के पूर्व में भूताकार अन्नप्रजापति द्विभुज या चतुर्भुज निर्दिष्ट हैं। चारों तरफ तैंतीस देवों की स्थापना होती है। प्राग्भित्ति पर द्वादश आदित्य, दक्षिण भित्ति पर एकादश रुद्र, प्रतीची भित्ति पर आठों वसु, उत्तर भित्ति पर दो नासत्य, द्वार के दक्षिण भाग में खड्ग, शक्ति, शर चक्र तथा गदा, वाम भाग में शङ्ख, शार्ङ्ग, खेटक, अङ्कुश तथा पद्म की स्थापना करने का विधान किया है। द्वार की चारों ओर भित्तियों पर लोकपाल, प्रह्लाद

१. क्रियाधिकार ३०/४४-४५.

२. क्रियाधिकार ३०/५१.

३. क्रियाधिकार ३०/५१-६३.

४. क्रियाधिकार ३०/४६-५०.

और पूज्यों का होना कहा गया है। पूर्वी दीवालों पर पाण्डवों की प्रतिमा होती है।^१

पञ्चवीर ध्रुवार्चन का फल, सर्वलोकों को देने वाली, पुष्टिप्रदायी, सर्वयज्ञफलावाप्ति, सर्वैश्वर्यप्राप्ति, सर्वैश्वर्यप्रद, मुक्तिदायक और सर्वसिद्धिप्रदायी कहा गया है।^२

आदिमूर्त्यादि ध्रुववेर कल्पन का निरूपण वैखानसशास्त्र में वर्णित है। आदिमूर्ति से तात्पर्य ऐसी मूर्ति से है जो सभी मूर्तियों का आदि हो और वह मूर्ति है विष्णु की। कुछ लोगों के अनुसार आदिमूर्ति अनिरुद्ध है। आदिमूर्ति की प्रतिष्ठा कुम्भाकार, चतुर्भुज, सोमच्छन्द, त्रिकूट अथवा नन्द्यावर्त देवालय में करने का विधान देखते हैं।^३ योगासनस्थ आदिमूर्ति अनन्तासन पर विराजती है और अनन्त पञ्चवर्णों तथा पाँच फणों से युक्त हैं। ये विग्रह के ऊपर चंदोवा लगाये हुए हैं। मूर्ति का दक्षिण पाद प्रसारित तथा वाम पाद आकुञ्चित होगा। शङ्ख तथा चक्र भुजाओं में धारण किये हुए हैं। सर्वाभरण-भूषित प्रवालसदृश द्युतिमान् है। दक्षिण में नारसिंह तथा वाम भाग में वाराह रूप कल्पित हैं। ये दोनों अञ्जलि में पुष्पों को लिए हुए आदिमूर्ति की पूजा कर रहे हैं। पूजकस्थान, ब्रह्मस्थान तथा दीवाल के मध्य में है।^४

सपरिवार सुखासनस्थ अनिरुद्ध (आदिमूर्ति) श्री तथा भूमि देवियों के साथ सिंहासन में वाम हस्त बायें घुटनों पर तथा दक्षिण हस्त दक्षिण जानुओं पर अच्छी तरह प्रसारित है।^५

गजेन्द्रमोक्ष मूर्ति की कल्पना इस प्रकार है—भगवान् गरुड के कन्धे पर सवार हैं और चक्र से ग्राह पर आक्रमण करते हैं। उनके वाम हस्त में शङ्ख

१. वैखानसागमकोश, भाग २ भूमिका, पृष्ठ ११.

२. क्रियाधिकार ३०/४२-४३.

३. खिलाधिकार १९/२३३-२३४.

४. खिलाधिकार १९/२३५-२४३.

५. समूर्तार्चनाधिकरण ६२/७-११.

तथा शार्ङ्ग धारण किये हुए निर्दिष्ट है। इनका दायाँ हाथ उठा हुआ ग्राह पर टकटकी लगाये हुए है। गजेन्द्र का पैर ग्राह के द्वारा जल में पकड़ा हुआ वर्णित है। गजराज अपनी गर्दन उठाये हुए सूँड में कमल लिए कल्पित हैं।^१

त्रैलोक्यमोहन मूर्ति का लक्षण और उसके पूजन का फल प्रतिपादित करते हुए महाभाग भृगु कहते हैं कि गरुडासीन नारायण और शेष कृपावश अपने हृदय से त्रैलोक्य को मोहित करते रहते हैं। यही त्रैलोक्यमोहन मूर्ति है। इसकी प्रतिमा का लोह (धातु) अथवा चित्राभास में करने का विधान है। इसकी पूजा से तीनों लोकों पर विजय, ऐहिक आमुष्मिक सर्वेष्ट लाभ, शत्रुक्षय, सर्वप्राणिवशीकरण तथा अन्त में विष्णुसायुज्य प्राप्त होता है।^२

सूर्यमण्डलान्तस्थ मूर्ति भगवान् सूर्यमण्डल में कमल पर आसीन हैं। इनका स्वरूप हिरण्यमय है। हाथों में शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये हैं। सर्वाभरणभूषित पीताम्बर पहने हुए हैं। इनका चेहरा, हाथ तथा पैर लाल है और श्रीवत्सांकित है। यह विग्रह चतुर्भुज योगासन युक्त है। ऐसी मूर्ति की परिकल्पना कर पूजा करनी चाहिए। यदि ऐसी मूर्ति के निर्माण में अशक्तता हो तो हरि का ध्यान सूर्यमण्डल में करना चाहिए। इससे मनुष्य सभी पापों से छूटकर विष्णुसायुज्य को प्राप्त होता है।^३ ऐसे विग्रह का विधान वेदानुमोदित है—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।

सपरिवार **अनन्तशयन** का लक्षण—भगवान् श्रीहरि योगनिद्रा में शेषनाग पर क्षीरसागर में लेटे हैं। हजारों फणों वाले शेषनाग छाता लगाये हुए हैं। चतुरानन ब्रह्मा भगवान् के नाभिकमल पर विराजमान हैं। दिव्याभरणयुत हैं। देवियाँ पैरों को दबा रही हैं। पञ्चायुधों से परिवृत मधु और कैटभ द्वारा सेवित हैं। यह मूर्ति तार्क्ष्य सहित अथवा रहित, चित्र अथवा चित्राभास में करने का विधान है। इनकी पूजा से सभी इच्छायें पूरी हो जाती हैं।^४

१. खिलाधिकार १९/२४४-२५०.

२. खिलाधिकार १९/२५०-२५४.

३. खिलाधिकार १९/२५५-२५९.

४. खिलाधिकार १९/२६०-२६३.

अनिरुद्धादि पञ्चमूर्त्यर्चनविधि

पञ्चमूर्ति जैसे—अनिरुद्ध, विष्णु, पुरुष, सत्य और अच्युत—इन सभी मूर्तियों की एक साथ विधिवत् अर्चना करना पञ्चमूर्त्यर्चन कहा गया है।^१

श्रीधरमूर्ति

यह मूर्ति चन्द्रमण्डलमध्यस्थ सुखासीन मुक्तादामभूषित, हाथों में शङ्ख तथा चक्र धारण किये हुए है। इनकी पूजा का विधान सभी को मिलकर अथवा अपने हृदय में करने का निर्देश है। इनके पूजन से सर्वार्थसिद्धि होती है।^२

विश्वमूर्ति

अनेक भुजाओं से संयुक्त, बहुत से अस्त्रों को धारण किये हुए है। अनेक देवताओं से घिरे हुए अनेकाभरणभूषित हैं। संसार के सभी प्रपञ्चों को अपने सहस्र दन्तों से विलीन किये हुए है। यह प्रतिमा स्थानकमुद्रा में समस्त देवताओं द्वारा वन्दित और पूजनीय है। इसकी अर्चना से सर्वशत्रुक्षय, सर्वोपद्रवनाश तथा सर्वार्थकार्य की सिद्धि होती है।^३

हरिहरध्रुवरेर का लक्षण

यह मूर्ति आधी विष्णुरूप तथा आधी शिवाकार होती है। ऐसी प्रतिमा का निर्माण कर वैष्णव और रुद्र मन्त्रों से संस्थापित कर पूजित करने का विधान है।^४

परिवार-बेरों का विशिष्ट-वर्णयुक्त होना अत्यावश्यक है। यहाँ शिलाबेर पर यह नियम नहीं है। स्थापक परिवार-बेर की स्थापना सर्वकामफलदायक, आयु तथा श्री तथा कीर्ति वृद्धि-प्रदायक है। आसन परिवार बेर की स्थापना से पुण्यवृद्धि होती है। शयन बेर की स्थापना योग एवं ऐश्वर्य प्रदान करने वाली कही गयी है।^५

१. खिलाधिकार १९/२६४-२६५.

२. खिलाधिकार १९/२६६-२६७.

३. खिलाधिकार १९/२६८-२७०.

४. खिलाधिकार १९/२७१-२७३.

५. क्रियाधिकार ५; खिलाधिकार १८.

अनपायिपरिवार देवों में श्रीभूत, गरुड, चक्र, ध्वज, शङ्ख, विष्वक्सेन, जया, अनन्त, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, वायु, कुबेर, विखना, मरीचि, कश्यप, भृगु, अत्रि, आदित्य, इन्द्र, गंगा, यमुना, सरस्वती, सावित्री, स्वाहा, स्वधा, गदा, पृथिवी, संह्लादिनी, वैष्णवी, वाराही, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, काली, दुर्गा, शिव, हलधर, प्रह्लाद, मत्स्यादि दशावतार, सीता, सौमित्री, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान्, राम, विभीषण, सुग्रीव, रुक्मिणी, सत्यभामा, बलभद्र, गोपीनाथ आदि प्रतिमाओं के लक्षण हैं।^१

भक्तबेर की भी विशद कल्पना कल्पित है। ब्राह्मण शिखाधारी, यज्ञोपवीत-युक्त, ध्यानमुद्रा में पीतवर्ण श्वेतवस्त्रधारी बताया गया है। क्षत्रिय मुकुटादिभूषणों से युक्त कहा गया है। वैश्य केशबन्ध-समायुक्त, उपवीत पहने, हृदय पर अञ्जलि बाँधे निर्दिष्ट है। शूद्र मुण्डितकेश या केशबन्ध किये बिना उपवीत के, हाथ जोड़े हुए है। सभी भक्तबेरों की प्रतिमा ऊर्ध्वपुण्ड्रधारण किये हुए, सात्त्विक लक्षणों से युक्त पीत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण की कही गयी है।^२ भगवान् के आयुध सुदर्शनचक्र का भी निरूपण उपलब्ध है।^३

प्रतिमापूजन का अभिप्राय प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठितविग्रह के पूजन से है, क्योंकि कहा गया है कि “न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये। देवो हि विद्यते भावे तस्माद् भावो हि कारणम्।” अर्थात् विग्रह भक्त की भाव-निष्ठा का मूर्त रूप है। वैष्णवागम भगवान् में अपने भाव का आधान कर उनकी मानवोचित परिचर्या करते हैं, जिससे भक्त तथा भगवान् में निकटतम स्वीय सम्बन्ध हो सके जो वैखानस तथा पाञ्चरात्रागम सम्प्रदायों की परम प्राप्ति है। इसका उद्देश्य है “इहलोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं वसेत्।” प्रतिमा-विग्रह की विविधता, स्वरूप-भिन्नता तथा अनेक-रूपता भक्त के अधिकारी होने तथा उसकी रुचि-विशेष का भी प्रतीक है, जिसका

१. समूर्तार्चनाधिकरण २०/४७-४८; क्रियाधिकार १७/३४/३५; ज्ञानकाण्ड ३९।

२. वैखानसागम कोश, तृतीय सम्पुट, बेरनिर्माण प्रकरण (भाग २), सम्पादकौ आचार्य लक्ष्मीनरसिंहभट्ट, हयवदनपुराणिक, राष्ट्रिसंस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति-२००४, भूमिका, पृष्ठ १३-१४।

३. विमानार्चनकल्प, पटल ५०.

मूल आधार सर्वतोभावेन आराध्य में आत्मसमर्पण है। वैखानस आगम ने इस वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन को मूर्त रूप दिया है।

अर्चनोपयोगी पात्र आदि

मूर्ति-निर्माण से सम्बद्ध विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद विमानार्चनकल्प में भगवदर्चनोपयोगी पात्र आदि के निर्माण-विधि का विस्तार से विवेचन किया है। इन पात्रों के मान, प्रमाण, स्वरूप, उपादानद्रव्य तथा बनाने की विधि का विवरण निर्दिष्ट है। आवाहनपात्र स्वर्ण, रजत चतुरङ्गुलविस्तार सुवृत्ताकार होना बताया गया है।^१ पुष्पपात्र का लक्षण चतुर्विंश अंगुल तथा सुवर्ण द्रव्य से निर्मित करने का निर्देश है।^२ धूपपात्र ताम्र अथवा पीतल का षड् अङ्गुल विस्तारवाला मुकुलाकार स्वीकारा गया है।^३ दीपपात्र की स्थिति षड् अङ्गुलविस्तृत अश्वत्थपत्राकार कही गयी है।^४ घण्टा, महाघण्टा का विस्तार अङ्गुल, अष्टांगुल, सुषिरयुक्त, चतुर्नाडिसमायुक्त ताम्र या पीतल का होना निर्दिष्ट है।^५ अर्घ्यपात्र का विस्तार युगांगुल, ऊँचाई दो अंगुल कहा गया है।^६ हविष्पात्र स्वर्ण, रजत, ताम्र अथवा कांस्य का द्वादश अंगुल से लेकर, छत्तीस अंगुल विस्तार का बताया गया है।^७ जलपात्र स्वर्ण, रजत, ताम्र या कांस्य का विस्तार षड् अङ्गुल या सप्तांगुल कहा गया है।^८ ताम्बूलपात्र या मुखवासपात्र स्वर्ण, रजत, ताम्र अथवा दारु का द्वादशांगुल विस्तार, समवृत्त, पद्माकार कल्पित है।^९ नित्यनैमित्तिक अभिषेक के लिए सहस्रधारापात्र सुवर्णादि से निर्मित चतुर्विंश, षोडश, द्वादशांगुल विस्तार वाला, समवृत्त बताया गया है।^{१०} दीपाधार पात्र ताम्रादि द्रव्य का एकहस्तादि से नवहस्तोत्सेध नव प्रकार का समवृत्त, पद्माकार का निर्दिष्ट है।^{११} नीराजनपात्र

१. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

२. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

३. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

४. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

५. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

६. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

७. विमानार्चनकल्प, पटल २४.

हेम, रजत, ताम्र तथा कांस्य का चतुर्विंश, षोडश, द्वादशांगुल विस्तार का समवृत्त समसीमाविस्तार-वाला बताया गया है।^१ दर्पण शुद्धकांस्य का नव, दश, त्रयोदशांगुल विस्तार वाला पूर्ण चन्द्राकार कल्पित है।^२ पादुका स्वर्ण, रजत, ताम्र की त्रिमात्रादि से सप्तमात्रादि विस्तार प्रमाण की विहित है।^३ जलद्रोणी स्वर्ण, रजत अथवा ताम्र की सम्पूर्ण सुदृढ़, निर्विवर, सुवृत्त, प्रतिपादित है।^४ ध्वज तीन, पाँच, सात, आठ, दस, बारह हस्त का चतुः त्रिताल विस्तार वाला श्वेत, पीत, रक्त वर्ण का बताया गया है।^५ इसके अतिरिक्त दर्वि, त्रिपादिका, पादोदक, गण्डिका, दीपाधार, शंखनिधि, पद्मनिधि, दीपमाला, यवनिका, तरङ्ग (वस्त्र), स्तम्भवेष्टन, वितान, छत्र, पिच्छ, चामरदण्ड, पताका, शिबिका, रथ, खट्वा, उपधान, पुष्पफलक, आसनविष्टर, स्नानविष्टर, भेरिका, कर्त्रिकाफलक, उलूढाल, मुसल, दात्र, खनित्र, पेषणी, यन्त्रिका आदि अर्चनपात्रों की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।^६ पात्रपरिच्छदादि पूजोपकरणों का संस्कार किया जाता है। इसके लिए यजमान को अनुकूल शुभ नक्षत्र में हवनादि क्रिया सम्पन्न कर ब्राह्मण-भोजनादि कराने का विधान है।^७ इनके विवरण के पश्चात् भगवद् आभरण जैसे मुकुट आदि अनेकविध आभूषणों के कल्पन की चर्चा मान-प्रमाण के साथ प्रतिपादित है।^८



-
१. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 २. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ३. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ४. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ५. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ६. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ७. विमानार्चनकल्प, पटल २४.
 ८. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५२.

द्वितीय अध्याय प्रतिमोपादान-द्रव्य

वैखानस आगम के जिन ग्रन्थों में प्रतिमा-निर्माण विषय का प्रतिपादन किया गया है, प्रायः उन सभी ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से उपादान-द्रव्य का भी विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम उपादान-द्रव्य के आधार पर ही प्रतिमा के पाँच भेद कहे गये हैं। ये पाँच उपादान-द्रव्य हैं—(१) शिला, (२) रत्न, (३) धातु, (४) दारु तथा (५) मृद्।^१ अर्चनाधिकार में भी पाँच उपादान-द्रव्य ही निर्दिष्ट हैं—(१) मृद्, (२) शिला, (३) दारु, (४) लोह तथा रत्न।^२ उपर्युक्त पाँच द्रव्यों के भी विशिष्ट भेद तथा लक्षणादि कहे गये हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में उपादान-द्रव्य के आधार पर आठ प्रकार की प्रतिमाओं का निर्देश है। ये आठ प्रतिमाएँ हैं—शैली, दारुमयी, लौही लेप्या, आलेख्या, सैकती, मनोमयी तथा मणिमयी।^३ यजमान के वर्णानुरोध पर ध्रुवबेर के उपादान-द्रव्य इस प्रकार हैं—शैलज ध्रुवबेर ब्राह्मण के लिए, क्षत्रियों के लिए ताम्र ध्रुवबेर, वैश्य के लिए मृद् तथा शूद्र के लिए दारु-प्रतिमोपादान विहित हैं।^४ निरुक्ताधिकार में राजा के लिए लोहनिर्मित प्रतिमा का निर्देश है।^५

उपर्युक्त प्रतिमोपादान-द्रव्यों के भी पृथक्-पृथक् विशिष्ट भेद तथा लक्षणादि होते हैं। शिला के अनेक भेद होते हैं। गिरिजा, भूमिजा तथा वारिजा के रूप में शिलाएँ तीन तरह की होती हैं।^६ ये शिलाएँ-भूमिजा-

१. प्रकीर्णाधिकार ७/१२.

२. अर्चनाधिकार १२.

३. श्रीमद्भागवतमहापुराण ११/२७/१२९.

४. समूर्तार्चनाधिकरण १८/१८-१९.

५. निरुक्ताधिकार १३.

६. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २८; समूर्तार्चनाधिकरण १२/१;

विमानार्चनकल्प, पटल १५; यज्ञाधिकार ११/१; खिलाधिकार ८/१७.

उत्तम, गिरिजा-मध्यम तथा अधम-वारिजा कही गयी हैं।^१ भूमिजा शिला प्रतिमा के लिए प्रशस्त होती है।^२

लिङ्ग के आधार पर शिला के—स्त्रीशिला, पुंशिला तथा नपुंसकशिला—ऐसे तीन भेद निर्दिष्ट हैं।^३ यहाँ इनके लक्षण भी उपलब्ध होते हैं।^४ स्त्रीशिला का उपयोग देवी-प्रतिमाओं के लिए होता है।^५ पुंशिला का प्रयोग पुरुष-प्रतिमा के लिए किया जाता है।^६ नपुंसकशिला का उपयोग प्रासादतल, कुड्य आदि के निर्माण में होता है।^७ महर्षि भृगु का कहना है कि नपुंसकशिला का प्राकार तथा गोपुर आदि में भी उपयोग किया जा सकता है।^८ इस शिला से प्रतिमा निर्माण का निषेध है।^९

वय के आधार पर भी शिला के भेद होते हैं। सामान्यतः वय के आधार पर शिलाएँ तीन तरह की होती हैं—बाला, युवती तथा वृद्धा। बाला स्निग्धा मृदु क्षीण स्वर वाली होती है तथा क्षयप्रदा कही गयी है। युवती शिला सुस्वरा कान्तियुक्त तथा समृद्धि देने वाली होती है। वृद्धा शिला-निस्वरा, रूक्षा तथा कार्यनाशकरी कही गयी है।^{१०}

वैखानसागम के अनुसार कृत आदि चार युग क्रम से श्वेत शिला, रक्त शिला, पीत शिला तथा कृष्ण शिलाओं से प्रतिमा का निर्माण होना निर्दिष्ट है।^{११} क्षिति चार प्रकार की होती है—(१) वारुणी, (२) माहेन्द्री, (३) आग्नेयी तथा (४) वायवी। इन्हीं क्षितियों के आधार पर उपलब्धि-स्थान के अनुरूप

-
१. खिलाधिकार ८/२३; ज्ञानकाण्ड-२८.
 २. खिलाधिकार ८/१७.
 ३. खिलाधिकार ८/२४; विमानार्चनकल्प, पटल - १५; यज्ञाधिकार ११/३.
 ४. विमानार्चनकल्प, पटल १५; ज्ञानकाण्ड, अध्याय २८.
 ५. समूर्तार्चनाधिकरण १२/६; विमानार्चनकल्प, पटल १५; वासाधिकार-४.
 ६. विमानार्चनकल्प, पटल १५; ज्ञानकाण्ड २८; खिलाधिकार ८/११३.
 ७. विमानार्चनकल्प, पटल १५; ज्ञानकाण्ड २८; खिलाधिकार ८/११३.
 ८. वासाधिकार ४.
 ९. खिलाधिकार ८/११४; ज्ञानकाण्ड, अध्याय २८.
 १०. प्रकीर्णाधिकार ७/४४-४६.
 ११. खिलाधिकार ८/६०-६२.

शिलाएँ भी वारुणी, वायवी, ऐन्द्री तथा आग्नेयी के नाम से प्रसिद्ध होती हैं। इन चार क्षितियों तथा शिलाओं के लक्षण इस प्रकार हैं—**वारुणी**—जो भूमि सुपुष्ट जलसङ्कीर्ण जलाशय से आवृत हो उसे वारुणी भूमि कहते हैं। इसमें उपलब्ध शिला को वारुणी शिला कहते हैं। ऐसी शिला से निर्मित प्रतिमा शान्तिदा तथा शुभविधायिनी होती है। **माहेन्द्री**—उत्तर में तोयसंवीत हो, पश्चिम में क्षीरवृक्ष हो, ब्रीहिक्षेत्र से आवृत पूर्वभाग में तृण हो, यह माहेन्द्री क्षेत्र होता है। ऐसे देश में उपलब्ध शिला माहेन्द्री होती है तथा माहेन्द्री शिला से निर्मित प्रतिमा राज्य-भोग तथा पुष्टिप्रदा कही गई है। **आग्नेयी**—आग्नेय दिशा में पलाश, खदिर तथा आम्र के वृक्ष हों, कपोत, गृध्र तथा तित्तिर पक्षियों का वास हो, भ्रमर और मयूर रहते हों। जल का अभाव हो, उसे आग्नेयी कहते हैं। इस क्षेत्र की शिला आग्नेयी होती है और इनसे निर्मित प्रतिमा आयु-आरोग्य पुष्टि प्रदान करने वाली होती है। **वायवी**—पीलु, श्लेष्मातक, विभीतक तथा महावृक्ष, पक्षियों में मृग, भारुण्ड और शृगाल दिखाई देते हों, ऐसी भूमि वायवी तथा ऐसे देश में उपलब्ध शिला वायवी शिला होती है।^१ पाञ्चारात्रागम में भी उपर्युक्त शिलाओं का पूर्ण विवरण प्राप्त है।^२

वैखानसशास्त्र में शिला के ग्राह्यत्वाग्राह्यत्वादि-विवेचन के साथ शिलासंग्रह के लिए ग्राह्य स्थलों का भी निर्देश किया गया है। मुख्य भूधरों से शिलासंग्रह विहित है। इन भूधरों में हेमकूट, निषध, हिमवान्, नीलपर्वत, मन्दर, माल्यवान्, त्रिकूट, मलयाचल, गन्धमादन तथा मेरुपर्वत प्रतिमा-निर्माण के लिए मान्य हैं। सह्य, विन्ध्य, महेन्द्र, कैलाश तथा किष्किन्धा पर्वत भी शिलासंग्रह के लिए नामित किये गये हैं। इन गिरियों के अभाव में अन्य भूधरों से भी शिलासंग्रह किया जा सकता है।^३ पाञ्चरात्र संहिताओं में भी उपर्युक्त विवेचन को देखा जा सकता है।^४

१. खिलाधिकार ८/३१-३९

२. विश्वामित्रसंहिता २२/४, ५; पुरुषोत्तमसंहिता ५/१२-१७.
हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड १५/८-१०.

३. खिलाधिकार ८/१३-१६.

४. पुरुषोत्तमसंहिता ५/८-१२; नारदीयसंहिता १३/६-९.

समूर्तार्चनाधिकरण में शिलाओं के दोष तथा फल भी प्रतिपादित हैं, जो अधोलिखित हैं —

शिला-दोष	फल
‘सिरा’	यजमान कुल की निन्दा
विवर्ण	कीर्तिनाश
स्फुटित	कुलनाश
भेद	परिवार में भेद
सुषिर	स्थाननाश
रेखा	वैरूप्य ^१

यहाँ गर्भ-शिला-दोष नहीं निर्दिष्ट है। खिलाधिकार में भी यह विषय निरूपण उपलब्ध हैं, जो निम्नवत् है—

शिला दोष	फल
सिरा	स्वयंनाश
विवर	पुत्रनाश
वर्तुल	स्वजननाश
ग्रन्थि	स्थापकनाश
स्फोट	कर्ता का नाश
निम्न	राजा का नाश ^२

सनत्कुमारसंहिता में शिला तथा शिला-कल्पित प्रतिमा के पृथक्-पृथक् सात दोष तथा उसके अनुसार पृथक्-पृथक् फलों का निर्देशन भी किञ्चित् न्यूनाधिक्य रूप से प्राप्त होता है।^३ अतः शिलासंग्रह के अवसर शिला-दोषों को भी भलिभाँति जानना चाहिए।

शिलाओं के विविध अंग भी होते हैं। मुख, पृष्ठ, सिर और पाद को जानकर लक्षण सम्पन्न ही शिला प्रयोग में लेने का निर्देश है।^४ खिलाधिकार

१. समूर्तार्चनाधिकरण १२/१२-१५.

२. खिलाधिकार ८/५७-५८.

३. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र ७/५१-५९

४. ज्ञानकाण्ड - २८

तथा अनेक वैखानसागम-ग्रन्थों में शिलासंग्रह के काल, गमनविधि शुभाशुभ फल निर्मित वस्तु-दर्शन विवरण तथा शिलासंग्रह प्रयोग से पूर्व का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। शिलासंग्रह से पूर्व उसके परीक्षण का विधान विहित है। यह एक वैज्ञानिक विषय है। कुछ शिलाएँ गर्भयुक्त होती हैं। इन शिलाओं के गर्भ में कुछ जन्तुविशेष निवास करते हैं। किस गर्भयुक्त शिला में किस जन्तुविशेष का आवास है, यह परीक्षण के द्वारा जाना जा सकता है। परीक्षण के उपाय भी प्रतिपादित हैं।^१

प्रतिमोपादन-द्रव्यशिला के पश्चात् प्रतिमोदान द्रव्य के रूप में रत्न का निर्देश प्राप्त होता है। ध्रुवबेर कल्पनार्थ सात रत्नों के नाम तथा उनके फल अधोलिखित हैं—

रत्ननाम	फल	रत्ननाम	फल
माणिक्य	श्रीकर	प्रवाल	वश्यकारक
वैडूर्य	आकर्षण	स्फटिक	पुत्रवृद्धि
मरकत	विद्वेषण	पुष्पराग	स्तम्भन
नील	रमणीकार्थ ^२		

आठ धातुओं के अन्तर्गत आने वाले द्रव्य तथा उनसे निर्मित ध्रुवबेर के फल निम्नलिखित हैं—

धातुनाम	फल	धातुनाम	फल
हेम	श्रीप्रदायी	रूप्य	राज्यप्रदायक
ताम्र	पुत्रसमृद्धि	कांस्य	विद्वेषकारक
आमकूट	प्रोच्चारण (उच्चाटन)	आयस	क्षयकारी
सीसा	नीरोगिता	त्रपु	आयुनाशक ^३

१. खिलाधिकार ८/१-१२, ६६-९०, १०५-१०७; विमानार्चनकल्प, पटल १५.

वासाधिकार-४; समूर्तार्चनाधिकरण १३/१-४५; प्रकीर्णाधिकार ७/३४;

नारदीयसंहिता १३/२९-४९, ७२-९३

२. प्रकीर्णाधिकार ७/१३, २३-२६.

३. प्रकीर्णाधिकार -७/१४, २७-२९.

काश्यपीय ज्ञानकाण्ड में कांस्य के द्वारा वसुओं, वृत्तलोह से साध्या, पितल से मरुतों, त्रपु से दानवों, सीसा से असुरों, आरकूट से पिशाचों आयस से राक्षसों तथा लौह से भूतों की प्रतिमा बनाने का उल्लेख है।^१ स्वर्ण से भगवान् की, उपल से शंकर की, रजत से ब्रह्मा की तथा ताम्र से आदित्य की प्रतिमा निर्माण करने को कहा गया है।^२

प्रतिमा के उपादान-द्रव्यों में शिला, रत्न तथा धातु के अतिरिक्त दारु का परिगणन किया गया है। प्रकीर्णाधिकार में सोलह प्रकार के दारुओं का उल्लेख दारुध्रुवबेर-कल्पनार्थ निर्दिष्ट हैं—देवदारु, शमीवृक्ष, पीपल, चन्दन, असन, खदिर, वकुल, शंखिवातन, मयूर, पद्म, डुण्डूक, कर्णिकार, निम्ब, कांजनिक, प्लक्ष तथा उदुम्बर।^३ विमानार्चनकल्प में खदिर, असन, तिमिश, चन्दन, चम्पक तथा मधूक आदि शुभ वृक्षों का परिगणन किया गया है।^४ ज्ञानकाण्ड में निर्दिष्ट वृक्षों की सूची इस प्रकार है—खदिर, असन, साल, सुवर्ण, अनिल, अर्जुन, अशोक, मधूक, निम्ब, दलित्थ, वकुल, कन्दलि तथा वज्जुला।^५ खिलाधिकार तथा समूर्तार्चनाधिकरण में प्रायः इन्हीं वृक्षों के नाम निर्दिष्ट हैं।^६ पाञ्चरात्रागम के पौष्करसंहिता में ग्राह्य दारुओं की विशद सूची दी गयी है।^७

वृक्ष के तीन भेद हैं—पुंवृक्ष, स्त्रीवृक्ष तथा नपुंसकवृक्ष।^८ अनेक शाखाओं से संयुक्त वृक्ष को पुंवृक्ष कहा गया है।^९ स्थूलमूल तथा कृशाग्र को स्त्रीवृक्ष की संज्ञा दी गयी है।^{१०} कृशमूल को नपुंसकवृक्ष बताया गया है।^{११} पुंवृक्ष का उपयोग पुंभेरे के लिए तथा स्त्रीवृक्ष का उपयोग स्त्रीभेरे के लिए करना चाहिए।^{१२} नपुंसक वृक्ष को त्याज्य कहा गया है।^{१३}

-
- | | |
|--|---------------------------|
| १. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५६. | २. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५६. |
| ३. प्रकीर्णाधिकार-७/१४, ३०-३२ | ४. विमानार्चनकल्प, पटल-१७ |
| ५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २७. | |
| ६. खिलाधिकार ८/१२४-१२९, समूर्तार्चनाधिकरण - १५/१-३. | |
| ७. पौष्कर संहिता ४०/१३-३३ | |
| ८. क. यज्ञाधिकार १२/४; ख. विमानार्चनकल्प, पटल १७ | |
| ९. क. विमानार्चनकल्प, पटल १७; ख. यज्ञाधिकार १२/५.६. | |
| १०. क. विमानार्चनकल्प, पटल १७; ख. यज्ञाधिकार १२/५.६. | |
| ११. क. विमानार्चनकल्प, पटल १७; ख. यज्ञाधिकार १२/५.६ | |
| १२. क. विमानार्चनकल्प, पटल १७; ख. यज्ञाधिकार १२/४. | |
| १३. विमानार्चनकल्प, पटल-१७. | |

ध्रुवबेर-योग्य दारु ऐसे स्थानों से नहीं लेना चाहिए, जहाँ चाण्डाल-स्थान हो। दुष्ट प्राणियों से निषेवित, श्मशान प्रदेश में विद्यमान, देवमन्दिर में, कूपवापी तडागादि, मुनिवास में, धर्मशाला में, रास्ते का मध्य, प्रेत-भूतों का वास, चोर आदि का निवास, सर्पनिलय, बहुवल्मीक संयुत, तरुण वृक्ष, रुक्षपक्षी-आवासयुक्त, एकशाखा, कृमिदष्ट, जन्तुयुत, जीर्ण, कोटर, पुष्पफल-विस्तीर्य वृक्ष सर्वथा वर्जित हैं।^१

प्रतिमार्थ वृक्षग्रहण के लिए शुभाशुभ निमित्त परीक्षण का विधान देखते हैं। आचार्य तथा यजमान होमादि क्रिया सम्पादित कर शिल्पी के साथ प्राङ्मुख वन में जाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। रास्ते में दायें क्रौंच, चकोर, कपोत, हंस तथा कृकाल मिले तो शुभ होता है। बायें श्येन और टिट्ठिभ सिद्धि देने वाले निर्दिष्ट हैं।^२ छेदन के पूर्व वृक्ष की पूजा करते हैं। वृक्ष की पूजा के प्रसंग में हवनादि के प्रयोग का विधान है। प्रातःकाल गुरु की आज्ञा से वृक्ष का छेदन किया जाता है। कटे हुए वृक्ष को शकट (गाड़ी) पर रख कर देवालय ले जाकर कर्ममण्डप में रख कर प्रतिमाकल्पन का विधान है।^३ शयनबेर दारु का बनाना वर्जित है।^४

विशेष फल के लिए द्रव्यविशेष-निरूपण प्राप्त है, यथा—पुत्रार्थी के लिए दारु, आयु-कामना के लिए शिला, समृद्धि के लिए ताम्र, श्रीकामनार्थ रजत, ऐहिक-आमुष्मिक सिद्धि के लिए स्वर्ण तथा सद्यःसायुज्य कामनापूर्ति के लिए रत्न की प्रतिमा बनानी चाहिए।^५

प्रतिमा-कल्पना के लिए चतुर्थ उपादान द्रव्य मृद् है। मृद् के दो भेद—पक्व तथा अपक्व कहे गये हैं। अपक्व मृत् प्रतिमा के लिए प्रशस्त कही गयी

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल १७; ख. ज्ञानकाण्ड २७;

ग. विष्णुसंहिता-१४/५०-५१.

२. विमानार्चनकल्प, पटल १७.

३. क. ज्ञानकाण्ड - २७, ४०; ख. विमानार्चनकल्प, पटल १७;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण १५/४-१४; घ. यज्ञाधिकार १२/८-१७.

४. समूर्तार्चनाधिकरण १३/५६.

५. विमानार्चनकल्प, पटल २२

६. क. विमानार्चनकल्प, पटल १९/६६; ख. प्रकीर्णाधिकार ७/३३ तथा ९/१५;

ग. विष्णुसंहिता ६/१२१.

है।^६ मृण्मय पक्वबेर सर्वनाश करने वाला कहा गया है। विष्णु की प्रतिमा अपक्व मृण्मयी बनाने का निर्देश है।^१ पिशाच की प्रतिमा पक्व मृण्मयी से बनाने को कहा गया है।^२

मृण्मय प्रतिमा ब्राह्मणादि चार वर्णों के हित के लिए चारों युगों के आधार पर चार प्रकार की कही गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों के लिए कृत युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः श्वेत, रुक्माभ, रक्त तथा श्याम वर्ण मृद् ग्राह्य होती है।^३ श्याम वर्ण मृद् की प्रशस्ति प्रतिमा निर्माण में निर्दिष्ट है।^४ मृद्-ग्रहण के लिए ये स्थान निर्दिष्ट हैं—पर्वत, नदी, तालाब, देवालय, सस्यक्षेत्र तथा पुण्य तीर्थक्षेत्र।^५

प्रतिमा-निर्माण-विधि

वैखानस आगम ग्रन्थों में मूर्तियों के निर्माण की विधियाँ भी वर्णित हैं। मृद्-संग्रह के पश्चात् उसके संस्कार का प्रसंग आता है। इस क्रम में मधूच्छिष्टक्रिया तथा प्रलम्बफलक आदि विषयों का विस्तार से विवेचन उपलब्ध है।^६ संस्कार-क्रम में तत्काल निकाली गयी गन्धवर्णयुक्त मृत्तिका को कपिला गाय के घृत से कांस्य पात्रों में मिलाकर उसके आधे भाग में दुग्ध, दधि तथा तीसी के तेल को कई पात्र या एक पात्र में रखकर गेहूँ, सरसों, तिल का चूर्ण बनाकर मृत्तिका में सम्मिलित कर एक मास अथवा पन्द्रह दिन या दस दिन रखे। हरिताल, हरिद्रा, आखु, मरीच, ब्राह्मी आदि की छालों के यथा-लाभ चूर्ण को मृत्तिका में मिलाकर पन्द्रह दिन अथवा सात दिन रखें। पुनः उसमें न्यग्रोध, उदुम्बर, प्लक्ष तथा खदिर आदि के छिलकों को पृथक्-पृथक् कूट कर उसका भाग लेते हैं, तुलसी, अपामार्ग, नन्दावर्त, करवीर, भोजपत्र, विल्व, शमीपत्र तथा अश्वत्थ आदि के पत्रों को लेकर

१. समूर्तार्चनाधिकरण १९/६८-६९; प्रकीर्णाधिकार ९/१६.

२. समूर्तार्चनाधिकरण १९/७०.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण २१/३-७; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २०.

४. क. समूर्तार्चनाधिकरण २१/२-३; ख. विमानार्चनकल्प, पटल १८, २०.

५. क. खिलाधिकार १३/१-५; ख. ज्ञानकाण्ड ४७; ग. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

६. क. विमानार्चनकल्प, पटल २२; ख. समूर्तार्चनाधिकरण, अध्याय २५.

पन्द्रह दिन तक कूट कर रखें। पुनः अश्वत्थ, उदुम्बर तथा प्लक्ष का दूध, घी की आधा मात्रा के बराबर एक पात्र में रखते हैं। श्रीवेष्ट, सर्जर, कुन्दरु, गुग्गुल तथा कपित्थ को लेकर यथालाभ चूर्ण कर मृत्तिका में मिला कर उसे दशरात्र रख कर परिवासित करते हैं। इस प्रकार मृद्-बिम्ब का उपादान-द्रव्य तैयार होता है।^१ समूर्तार्चनाधिकरण में मर्दित मृद् को शोधित कर उसमें सभी औषधियों के चूर्ण को मिला कर कषायों से सेवित करते हैं। सम्यक् यथाविधि सुसंस्कृत मृद् को एक मास या अर्धमास अधिवास करने का निर्देश है।^२ इस प्रकार प्रतिमोपादान-द्रव्य मृद् के संस्कार की प्रक्रिया सभी वैखानस-ग्रन्थों में नाम-मात्र भेद के साथ सामान्य रूप से समान है।^३

मृद्-मूर्ति-कल्पन के लिए आवश्यक उपादान-द्रव्यों में संस्कारित मृद् के अतिरिक्त कुछ अन्य द्रव्य भी अपेक्षित होते हैं। मृद्-मूर्ति के निर्माण के लिए आधार रूप में शूल की आवश्यकता होती है। शूल शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—

प्रतिमान्तःस्थदारुर्वै शूल इत्युच्यते बुधैः ।

मृण्मयं कर्तुकामस्तु शूलयुक्तं समाचरेत् ।

तस्माच्छूलविधानार्थं दारुसंग्रहमिष्यते ॥^४

प्रतिमान्तःस्थ दारु, स्वर्ण, रजत या पत्थर के दण्ड को शूल कहते हैं।^५ दारुशूल पर पवित्र जल छिड़कते हैं। उस समय 'आपो देव' इस मन्त्र से अग्र भाग, 'रुद्रमन्य' इस मन्त्र से मध्य भाग तथा 'ब्रह्म जज्ञान' इस मन्त्र से अधोभाग का स्पर्श करते हुए आदरभाव प्रकट करते हैं। उसके पश्चात् गोदानसूक्त पाठ करते हुए उसे कुल्हाड़ी से काटते हैं।^६ शूल के तीन भाग होते हैं। लिङ्ग से नाभि तक चतुरश्र ब्राह्म भाग कहा गया है। नाभि से ग्रीवा पर्यन्त अष्टाश्र भव भाग तथा ग्रीवा से मूर्धापर्यन्त वृत्त त्रैनेत्र कहा गया है।^७

१. ज्ञानकाण्ड ४७.

२. समूर्तार्चनाधिकरण १९/४३-४५.

३. क. खिलाधिकार १३/१८-३२; ख. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

४. ज्ञानकाण्ड ४८.

५. ज्ञानकाण्ड ४१.

६. ज्ञानकाण्ड ४२.

७. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

शूलदण्ड स्थानक, आसन तथा शयान विग्रहों में मेढ़ से नाभि तक चतुरश्र, नाभि से हिकका (ग्रीवा) अष्टाश्र तथा हिकका से उष्णीषान्त विष्णु की प्रतिमा के लिए विहित है। अन्य देवों के लिए चतुरस्र का विधान है। वंशदण्ड-आयाम ६२ अङ्गुल निर्धारित है। वक्षदण्ड आयाम ३४ अङ्गुल स्वीकारा गया गया है। कटिदण्ड आयाम षोडश अङ्गुल निर्धारित है। ऊरुदण्ड आयाम २७ अङ्गुल बताया गया है। बाहुदण्ड आयाम भी २७ अङ्गुल कहा गया है। प्रकोष्ठदण्ड आयाम २१ अङ्गुल प्रतिपादित है।^१

देवियों के शूलदण्ड को चतुरश्र तथा किञ्चित् वक्र कहा गया है। वंशदण्ड की ऊँचाई ६० अङ्गुल बताई गयी है। वक्षदण्ड आयाम २५ अङ्गुल, कटिदण्ड आयाम १९ अङ्गुल से एक यव अधिक आयाम विस्तारादिमान का विधान शिल्पशास्त्र के अनुसार पूरी तरह से करना निर्दिष्ट है।^२ यदि उक्त शूलदण्डों के प्रमाण का अतिक्रमण किया गया, तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। सारी प्रजाजनों की मृत्यु होना वर्णित है। जीर्णोद्धार का विधान पुराणों के अनुसार करना कहा गया है। अन्यथा राष्ट्र, राजा तथा यजमान को महान् दोष लगता है।^३

शूलस्थापन के लिए उत्तरायण काल श्रेष्ठ कहा गया है। दक्षिणायन काल आपत्काल में अनुमत है। फाल्गुन, चैत्र तथा वैशाख को प्रशस्त कहा गया है। शुक्ल पक्ष को प्रशस्त कहा गया है। कृष्ण पक्ष को भी अन्य तीन भागों को छोड़कर स्वीकार किया गया है। मार्गशीर्ष तथा माघ मास निषिद्ध है। शेष महीनों को भी आपद्ग्रस्त समय को छोड़कर लिया जा सकता है। रोहिणी-हस्त-स्वाति तथा पुनर्वसु नक्षत्रों को प्रशस्त बताया गया है। विष्टिवर्जित युग्मतिथि हमेशा सुन्दर होती है। चर राशि को छोड़कर हमेशा स्थिर राशि में शूल की स्थापना करनी चाहिए। यजमान तथा ग्राम के अनुकूल दिनों में शूलस्थापन करना निर्दिष्ट है।^४

१. विमानार्चनकल्प, पटल १७; प्रकीर्णाधिकार ८/५२-८०.

२. विमानार्चनकल्प, पटल १७.

३. ज्ञानकाण्ड ४२.

४. खिलाधिकार ११/१-५; यज्ञाधिकार १३/१.

शूलस्थापन दिवस से पूर्व नव, सात, पाँच या तीन दिनों का विधिवत् अङ्कुरार्पण किया जाता है। शूलदण्डों का जलाधिवास करते हैं। चार स्थापक पुरुष क्षौरादिकर्म से निवृत्त होकर सुन्दर वस्त्र धारण कर अपराह्न से उपवास व्रत करते हैं। पुरोहित, यजमान और उसकी पत्नी जो व्रत लिए हुए हों, उनके ऊपर 'हिरण्य' तथा 'प्रमाण' आदि मन्त्रों से पवित्र जल को छिड़कते हैं, तत्पश्चात् भगवान् का ध्यान करते हुए दोनों रात्रि शयन करते हैं।^१ देवालय के सामने या दायें प्रपा (जलविभाजक) का तथा द्वादशस्तम्भ संयुक्त यज्ञशाला का निर्माण करते हैं। एकादशहस्तविस्तार आयताकार यमोत्सेध-स्थलान्विता अरन्तिमात्रोत्सेधा शयनवेदिका सहित यज्ञशाला का होना निर्दिष्ट है। उसके पास सभ्यादि पाँच अग्निकुण्डों का होना कहा गया है यज्ञशाला को पताका, झालर झण्डों तथा वितानादि से अलंकृत, दर्भमालादि से आवेष्टित गोमय से लिपा हुआ होना चाहिए। विधि-विधान पूर्वक होम करना चाहिए।^२ ऋत्विक् की पूजा करनी चाहिए। शय्या-यज्ञशाला के मध्य निर्दिष्ट है। शय्या के पूर्व में सभ्य अग्नि का होना वर्णित है। सभ्याग्नि के पूर्व आहवनीय, दक्षिण में अन्वाहार्य, पश्चिम में गार्हपत्य तथा उत्तर में आवसथ्य का स्थान बताया गया है इस प्रकार पाँच अग्निकुण्डों का निर्माण कर विधिवत् आधान करना चाहिए तथा अन्त में वैष्णव होम का विधान विहित है। किस देवता का किस अग्निकुण्ड में हवन का विधान किया गया है, उसका वर्णन अधोलिखित है—

अग्निकुण्ड

आहवनीय
अन्वाहार्य
गार्हपत्य
आवसथ्य
सभ्य

देवतागण

द्वारपाल, गरुड, विघ्नराज, नागराज तथा महाभूत
इन्द्र, अग्नि, यम, गुह, हविरक्षक तथा दुर्गा
नील, वरुण, वायु, रोहिणी, मातृ तथा पुष्परक्षक
कुबेर, ईशान, आदित्य, बलिरक्षक तथा सरस्वती
विष्णु तथा अन्य सभी देवतागण।^३

१. ज्ञानकाण्ड-४३.

२. समूर्तार्चनाधिकरण १७/२-८; खिलाधिकार - १२/७-१०.

३. खिलाधिकार १२/१०-१७; ज्ञानकाण्ड ४४.

शय्यावेदि का स्थान ईशानकोण में द्विहस्त आयत विस्तारवाला, धान्यवेदि का निर्माण उत्तर दिशा की ओर करके क्रम से दर्भग्रास को अन्त तक फैलायें, प्रतिमा शूल को वस्त्र पर रखकर पञ्चगव्य का उस पर छिड़काव करते हैं। पायस से शूल का प्रक्षालन कर पुनः तैल विलेपन किया जाता है, उसके पश्चात् दण्डवेदि के पूर्व में चतुर्दश कलशों को क्रम से रखते हैं, तत्पश्चात् शूल का भलीभाँति जलावर्षण 'स्वस्तिसूक्त' के द्वारा किया जाता है। मध्य में वंशदण्ड का स्थान निर्धारित है, दोनों पार्श्वों में पार्श्वदण्ड, ऊपर की तरफ वक्षोदण्ड तथा नीचे कटिदण्ड का संयोजन किया जाता है। "अस्थिभ्यो नमः" इस मन्त्र से नमन करते हुए 'वैष्णवम्' मन्त्र का पाठ करते हुए शूल को शयन कराते हैं। अन्य देवों का तत्तत् मन्त्रों से शूलों का शयन कराकर तत्पश्चात् आच्छादन कर चारों दिशाओं में चारों वेदों का पाठ करते हैं। पुनः विधिवत् होम कर रात्रिशयन कराते हैं। प्रातःकाल स्नान कर आचार्य शयनस्थ देवों को प्रणाम कर गर्भगृह में शूल-कल्पन के निमित्त पीठ का निर्माण करता है। ध्रुवबेरपीठ में रत्नन्यास के लिए षोडश अङ्गुल अथवा द्विगुण विस्तृत चतुरस्र गहरे गढ़े को खोदा जाता है।^१ उसके ऊपर रत्नन्यास कर विग्रह की स्थापना की जाती है। शूल सर्वदा रत्नन्यास के अवसर में न्यस्त रत्नों को स्पर्श करता हुआ होता है। तत्पश्चात् यजमान आचार्य को दक्षिणा प्रदान करता है।^२

ब्राह्म मुहूर्त प्राप्त होने पर आचार्य शय्या-वेदिका के पास पहुँचकर स्थापकों के साथ शूलदण्डों को उठाकर जय-जयकार तथा वाद्यादि-घोष के साथ आलय का प्रदक्षिणा करके उसमें प्रवेश करता है। विष्णुसूक्त और विष्णु गायत्री का जप करते हुए ब्रह्मदण्ड की स्थापना करके उसके स्थान पर शूलदण्डों को लगाकर स्थिर किया जाता है।^३ स्थापनक प्रतिमा के लिए शूलदण्ड की संख्या १८ कही गयी है।^४ प्रकीर्णाधिकार में यह संख्या १७

१. ज्ञानकाण्ड-४४.

२. समूर्तार्चनाधिकरण १७/२९-३२.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

ख. समूर्तार्चनाधिकरण १७/३२-३५.

४. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

ही निर्दिष्ट है।^१ चतुर्भुजशयन-बिम्ब के लिए १९ शूलदण्डों का तथा द्विभुजशयन-बिम्बार्थ १७ शूलदण्डों की भी विधान है।^२ विधिपूर्वक शूलस्थापन के पश्चात् शान्तिहोम किया जाता है।^३ नारिकेल-त्वक्कल्पित रज्जुओं के द्वारा शूलदण्ड को अच्छी तरह बाँधते हैं। जिस प्रकार मानव-शरीर में शिरा होती है, उसी प्रकार प्रतिमा-शूल में रज्जुबन्ध होता है। नाभि-स्थान से आरम्भ कर सुषुम्नादि १४ नाडी स्थानों में रज्जु को एकत्रित करने के पश्चात् शिरा (नाडी) की भाँति मूर्धा-पाद पर्यन्त, दोनों पार्श्वों में समावेष्टित कर ताँबे के पट्टे से हस्त-तल तथा पादतल, बना कर सूत से सभी अङ्गों में लपेटकर पुनः रज्जु लपेटने को कहा गया है। आचार्य को दक्षिणा देना चाहिए तथा शिल्पी का सत्कार करने के पश्चात् संस्कार का विधान विहित है।^४ इतनी क्रिया सम्पादित कर शूलों में अष्टबन्धालेपन किया जाता है।^५ शूलों पर दृढबन्धन होने के पश्चात् मृल्लेप का अवसर आता है। संस्कारित मिट्टी से प्रतिमा में आलेपन कर उसे पुष्ट बनाते हैं। यह कार्य कुशल कुलाल अथवा शिल्पी के द्वारा होना चाहिए।

मृत्तिका-आलेपन के अनन्तर रत्नन्यास का विधान किया जाता है। हृदयभाग, ललाट तथा ग्रीवा आदि अवयवों में पद्मराग, जातिरत्न, मौक्तिक आदि रत्नों का निक्षेपण किया जाना कहा गया है।^६ तत्पश्चात् प्रतिमा के विविध अङ्गों को उनके लक्षणानुसार बनाना चाहिए।^७ अङ्गकल्पन के समय में अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए। नेत्र-कान आदि अवयवों में छिद्र न हो इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। नेत्रादि ठीक न बनने पर यजमान की अन्ध, बधिर, प्रमेह, कुष्ठ आदि व्याधियाँ होने की सम्भावना प्रबल रहती है।^८

१. प्रकीर्णाधिकार ८/८०-८२.

२. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

३. क. ज्ञानकाण्ड ४६; ख. खिलाधिकार ११/९६, ९८.

४. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

५. खिलाधिकार १३/३२-४७.

६. क. ज्ञानकाण्ड ४९; विमानार्चनकल्प, पटल १८.

७. ज्ञानकाण्ड ४९.

८. विमानार्चनकल्प, पटल १८.

मृण्मय ध्रुवबेरों में शर्करा-लेपन किया जाता है। शर्करा का नदी-जल, कपित्थ-दुग्ध, श्रीफल आदि गन्धों को मिलाकर उबटन बनाकर कपास तूल से शिर से पैर तक आलेपन किया जाता है।^१ पुनः शुद्ध कपास-तन्तु से सूक्ष्म वस्त्र बनाकर प्रतिमा-पटाच्छादन किया जाता है। ढकने से पूर्व वस्त्र का प्रोक्षण कर लेना चाहिए।^२ कल्क (उबटन) का लेप करने के पश्चात् आभूषणों से प्रतिमा को सजाया जाता है।^३

उपर्युक्त क्रिया के पश्चात् ध्रुवबेर में वर्ण लेप, (रङ्ग) का विधान विहित है। श्वेत, सुनहरा, लाल तथा कृष्ण वर्ण क्रमशः ब्राह्मणादि वर्णों में प्रशस्त माने गये हैं। इसी भाँति सत्ययुग, त्रेतादि युगों भी ये ही वर्ण उत्कृष्ट कहे गये हैं।^४ इन सबमें भी श्याम वर्ण सर्वोत्तम है तथा सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है।^५ रङ्ग की छः जातियाँ बताई गयी हैं—श्वेत, लाल, पीत, शुकसमान, नीलकण्ठ समान तथा कृष्ण। श्वेत तथा पीत दोनों सात्त्विक हैं, श्याम तथा लाल दोनों राजस हैं, नीलकण्ठ वर्ण तथा कृष्णवर्ण दोनों तामस हैं। परस्पर मिलने से वर्णों की अनेक जातियाँ बनती हैं।^६ सभी वर्णों को एकत्रित कर स्वर्णपात्र में कपित्थ के दुग्धरस से पीस कर तूलिका के अग्रभाग में रङ्ग लेकर लगाया जाता है। शिल्पी से उन अङ्गों पर रङ्ग लगाने का निर्देश है।^७ जय आदि परिवार देवताओं के पृथक-पृथक वर्ण होते हैं।^८ विधिपूर्वक उक्त रूप से लेपन करने पर इस लोक में सुख-समृद्धि होती है तथा पुनरागमन रोकने वाले विष्णुपद की प्राप्ति होती है।^९

१. क. अर्चनाधिकार ११.
ख. यज्ञाधिकार १३/३५-४४.
२. क. विमानार्चनकल्प, पटल १८; ख. ज्ञानकाण्ड ४९.
३. क. ज्ञानकाण्ड ४९.
४. क. समूर्तार्चनाधिकरण २१/३-६.
ख. विमानार्चनकल्प, पटल २०.
५. क. विमानार्चनकल्प, पटल २०.
ख. समूर्तार्चनाधिकरण २१/६-१०.
६. खिलाधिकार १३/६५-७०.
७. खिलाधिकार १३/८३-९८.
८. खिलाधिकार १३/७०-८२.
९. खिलाधिकार १३/९८-१०१.

बिम्बार्चन के समय वर्ण, वाहन, केतु, नाम, नक्षत्र, पत्नी तथा बीजाक्षर आदि का ज्ञान प्राप्त करके ही अर्चन करना चाहिए। अन्यथा असुरगण अर्चन ग्रहण कर लेते हैं।

मृत्प्रतिमा में मानव-शरीर की तरह अधोलिखित सप्तधातुओं की कल्पना की गयी है—

१. मध्वाज्यमिश्रित	शुक्ल पदार्थ	२. शूल	अस्थि
३. रज्जु	शिरा	४. मेद	अष्टबन्ध
५. कल्क	रक्त	६. मृद्	मांस
७. पट	त्वक्		

इस भाँति अर्चन करने से राष्ट्र की अभिवृद्धि सूचित है।^१ पाञ्चरात्रागम में भी कतिपय संशोधन के साथ उपर्युक्त तथ्यों का विवेचन प्राप्त होता है।^२

ध्रुवबेर किरीटादि कल्पन

ध्रुवबेर में किरीट आदि आभरणों का मान तथा आकार विधिपूर्वक वर्णित रीति का अनुगमन करते हुए शिल्पियों से करवाया जाता है। अन्यथा आभूषणों में लक्षणहीनता के कारण धनधान्य का नाश होता है। वस्त्र के लक्षणहीन होने पर दरिद्रता, आयुधों के लक्षणहीन होने पर चोर तथा शत्रु की वृद्धि आदि कुफल प्राप्त होते हैं।^३

ध्रुवबेर पीठादि कल्पना

ध्रुवबेर पीठ की ऊँचाई तथा आकार बेर की ऊँचाई के अनुरूप होना चाहिए। विपरीत करने पर अधिक होने की स्थिति में व्याधिपीड़ा तथा कम होने पर उसका फल मृत्यु कहा गया है।^४ प्रभा (दीप्तिमण्डल) तथा पीठ ठीक-ठीक वर्णित ढंग कर, नवरत्नों का विन्यास करके पीठ पर प्रभासहित

१. क. अर्चनाधिकार १२. ख. विमानार्चनकल्प, पटल १७.

२. क. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र ७/१७८.

ख. विष्वक्सेनसंहिता ५/७३-७८.

३. क. ज्ञानकाण्ड ५२; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २२.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल २२.

ख. अर्चनाधिकार २२.

बेर की स्थापना की जाती है।^१ इसी स्थल पर यह भी वर्णित है कि ध्रुवबेर पद्म-पीठ के नीचे अलग पीठ के रूप में स्थापित की जानी चाहिए।^२ प्रभा में सूर्य की, पीठ में अग्नि की तथा छत्र में सोम की पूजा कर प्रभा का समायोजन होता है।^३ प्रभामण्डल के लक्षणहीन होने पर कीर्ति का नाश होता है।^४ प्रमाणभेद से ध्रुवपीठ उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार का होता है।^५ इसी भाँति ध्रुवबेर का सिंहासन भी ऊँचाई के मान के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से तीन तरह का होता है।^६

ध्रुवबेर के 'आय' आदि* की परीक्षा

ध्रुवबेर के आय, व्यय, नक्षत्र, योनि, वार आदि की परीक्षा-विधि प्रतिपादित है। बेर की ऊँचाई को त्रिगुणित करके उसमें आठ का भाग दे, जो शेष बचे वही आय है। ऊँचाई को चतुर्गुणित करके उसमें पाँच का भाग दे, उसका शेष व्यय होता है। यदि व्यय से आय अधिक है, तो शुभ है कम है तो अशुभ है। ऊँचाई को अष्टगुणित करके सत्ताइस से भाग देने पर शेष को नक्षत्र कहते हैं। ऊँचाई को अष्टगुणित कर आठ से भाग देने पर शेष योनि होती है। उत्सेध को नव-गुणित कर सात से भाग देने पर शेष अंशक होता है। उत्सेध को अष्टगुणित कर आठ क्षय (घटाने) करने पर शेष दिन होता है। नवगुणित कर सात से विभक्त करने पर शेष वार होता है। इनके अलग-अलग फल बताए गये हैं। बेरोत्सेध को एकादशगुणी करके १५ से भाग देने पर यदि शेष बचता है तो सभी शुक्लपक्ष कहा जाता है। पाँच से गुणित कर १२ का भाग देने पर शेष मेष राशि होती है।^७

१. क्रियाधिकार ६/३१-३२.

२. क्रियाधिकार ६/३२-३३.

३. निरुक्ताधिकार १८.

४. विमानार्चकल्प, पटल २२.

५. ज्ञानकाण्ड ३६.

६. विमानार्चनकल्प, पटल १९.

७. क. विमानार्चनकल्प, पटल १९; ख. वासाधिकार ४.

*. प्रतिमा के माप-परिमाण में विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में 'आय'-'व्यय' आदि संज्ञाओं का उपयोग हुआ है।

बेरों की नव-स्थान विधि

बेर के नव-वृत्त होते हैं, जिन्हें ऋज्वागत, अर्धज्यागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष, पार्श्वागत परावृत्त, ऋज्वागत परावृत्त, अर्धज्यागत परावृत्त, साचीकृत परावृत्त तथा अध्यर्धाक्षपरावृत्त। इनमें से प्रत्येक के लक्षण भी बताए गये हैं।^१

गर्भगृह में ध्रुवबेरादि की स्थापना स्थान-गर्भगृह के पूर्व तथा उत्तर किनारे को, सत्रह सूत्रों से २५६ भाग में विभाजित कर, उसके मध्य में सोलहवें भाग को ब्रह्मा-भाग जाने। उसके चारों ओर चौरासी भाग को दैविक जाने। उसके चारों ओर ९६ भागों को मानुष भाग जाने। इसके बहिर्भाग में ६० खण्डों को पैशाच जाने। उसमें ब्रह्माभाग में कौतुक, दैविक भाग में स्थानक, दैविक-मानुष के मध्य में आसन, बेरों को क्रमशः स्थापित करे। शयनबेर की स्थापना मानुष-भाग से कुछ बढ़ाकर दैविक भाग में करे।^२

ब्रह्मा में स्थापित कौतुक के दक्षिण भाग में स्नपन-बेर तथा वाम भाग में उत्सव बेर की स्थापना करे। यदि ध्रुवबेर कौतुकबेर से लगा हो, तो उसे मानुष भाग में स्थापित करें। योग तथा वीरबेर की स्थापना ब्रह्मस्थान में करे। भोग की स्थापना देव तथा मानुष के मध्य भाग में करे। विरह की स्थापना पैशाच-स्थान में करे।^३

ध्रुवार्चा की स्थिति में गर्भगृह को ४९ भागों में विभक्त करे। मध्य का एक भाग ब्राह्म, उसके चतुर्दिक अष्टभाग दैविक, १६ भाग मानुष, उसके चतुर्दिक २४ भाग पैशाच होता है, यह जाने। ब्रह्मा स्थान में शान्तिक, दैविक में पौष्टिक तथा देव-मानुष के मध्य में जयद की स्थापना करे। इस भाँति ध्रुवार्चबेर की स्थापना की जानी चाहिए।^४

१. खिलाधिकार १४/२५४-२८०.

२. क. समूर्तार्चनाधिकरण १८/२१-२७; ख. यज्ञाधिकार १२/२५-२७.

३. क. यज्ञाधिकार १२/३२-३३; ख. निरुक्ताधिकार १५.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल. १५; ख. प्रकीर्णाधिकार ८/१२-१४.

तृतीय अध्याय प्रतिमा-मान

मूर्ति-निर्माण के लिए अपेक्षित उपादान-द्रव्यों के वर्णन के अनन्तर बेर-मान-प्रमाण (Iconometry) विषय का विस्तार से विवेचन वैखानसागम साहित्य में मिलता है। मान की तीन विधियाँ दी गयी हैं—

१. अङ्गुलादिमान, २. मानादिविभाग तथा ३. तालमान विभाग।

इन तीनों शब्दों की परिभाषा और उसकी मौलिक इकाई (Unity), उन-उन प्रमाणों के उपयोग स्थल और अवसर, तत्तत् प्रतिमानों का विषय, देवालयादि में उन-उन वस्तुओं के आधार पर उनके अनुरूप सापेक्ष रूप से मूर्ति का निर्धारण तथा प्रतिपादन प्राप्त होता है।

बेर-बाप की सबसे छोटी इकाई 'अङ्गुल' कही गई है। अङ्गुल के तीन भेद—१. मानाङ्गुल, २. मात्राङ्गुल तथा ३. देहलब्धाङ्गुल निर्दिष्ट हैं।^१ मानाङ्गुल-माप में परमाणु या अणु सबसे छोटी अन्विति कही गई है। परमाणु को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि गवाक्ष से भीतर कक्ष में आती हुई सूर्य की रश्मियों में दिखनेवाले कणों को परमाणु या लवाणु कहते हैं।^२

मानाङ्गुल प्रमाण

८ परमाणु या अणु = १ अधरेणु	८ अधरेणु = १ रोमाग्र
८ रोमाग्र = १ लिक्ष	८ लिक्ष = १ यूक
८ यूक = १ यव	८ यव = १ अङ्गुलि ^३

-
१. विमानार्चनकल्प, पटल २२; समूर्तार्चनाधिकरण २२/१-२;
प्रकीर्णाधिकार ५/२-३; यज्ञाधिकार १९/१.
 २. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
 ३. विमानार्चनकल्प, पटल २२.

खिलाधिकार में मानाङ्गुल की स्थिति अधोलिखित है—

८ अणु = १ रथरेणु	८ रथरेणु = १ केश
८ केश = १ लिक्ष	८ लिक्ष = १ यूक
८ यूक = १ यव	८ यव = १ अङ्गुल

यहाँ अणु को अप्रत्यक्ष नित्यघन अणु कहा गया है।^१

यज्ञाधिकार के अनुसार मानाङ्गुल प्रमाण का क्रम निम्नवत् है—

८ परमाणु = १ रथरेणु	८ लिक्षा = १ यूका
८ रथरेणु = १ रोमाग्र	८ यूका = १ यव
८ रोमाग्र = १ लिक्षा	८ यव = १ अङ्गुल ^२

२. मात्राङ्गुल

दक्षिण हस्त के मध्यमाङ्गुल के मध्य पर्व के दीर्घ का परिमाण 'मात्राङ्गुल' कहा जाता है।^३ मात्राङ्गुल मान को उत्तम बताया गया है।^४

३. देहलब्धाङ्गुल-लक्षण

तालगणन से विभक्त प्रतिमा के आधार पर जो अङ्गुल-मान होता है, उसे देहलब्धाङ्गुल प्रमाण कहते हैं।^५

अङ्गुलमान का प्रयोग ब्रह्मा आदि देवताओं के प्रतिमान-कल्पन के लिए होता है।^६ मात्राङ्गुल-प्रमाण से गृह-निर्माण, शय्यासन, इध्म, स्तुक् स्तुवा आदि के पात्रों की माप होती है।^७ ध्रुवादि प्रतिमा-कल्पन में देहलब्धाङ्गुल मान का प्रयोग होता है।^८ शाखाङ्गुल मान का उपयोग अग्निकुण्डादि के निर्माणार्थ होता है।^९

१. खिलाधिकार १४/३-६.

२. यज्ञाधिकार १९/२-४.

३. विमानार्चनकल्प, पटल २२.

४. क्रियाधिकार ३/१०; विमानार्चनकल्प, पटल २२.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०; प्रकीर्णाधिकार ५/५;

यज्ञाधिकार १९/५; विमानार्चनकल्प, पटल २२.

६. क्रियाधिकार ३/१३; समूर्तार्चनाधिकरण २२/६; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०;

७. समूर्तार्चनाधिकरण २२/७; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०; क्रियाधिकार ३/१४.

८. प्रकीर्णाधिकार ५/७; समूर्तार्चनाधिकरण २२/९;

विमानार्चनकल्प, पटल १९; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.

९. क्रियाधिकार ३/१५; समूर्तार्चनाधिकरण २२/८.

मात्राङ्गुल का ही प्रभेद शाखाङ्गुल है। यवादि मान का उपयोग गृहार्चन के लिये निर्दिष्ट है।^१

अङ्गुष्ठ तथा तर्जनी के मध्य की दूरी को प्रदेशमान कहते हैं।^२ अङ्गुष्ठ तथा मध्यमा के बीच की दूरी को तालमान की संज्ञा दी गयी है।^३ अङ्गुष्ठ तथा अनामिका के मध्य के अन्तराल को वितस्तिमान कहा गया है।^४ अङ्गुष्ठ तथा कनिष्ठिका के बीच की दूरी को गोकर्णमान से अभिहित किया है।^५ चौबीस अङ्गुल का एक हाथ होता है, उसी को किष्कुहस्तान कहते हैं।^६ संवृतमुष्टि को रत्निमान कहते हैं।^७ दो यमों से अरत्निमान होता है। प्रसृत-अङ्गुल को अरत्नि कहते हैं।^८

चार हाथ का दण्ड होता है।^९ २५ अङ्गुल का प्राजापत्य हस्तमान निर्दिष्ट है।^{१०} २६ अङ्गुल का धनुर्ग्रह, २७ अङ्गुल की धनुर्मुष्टि, यही क्रम दोनों अर्थात् २६ अङ्गुल का धनुर्मुष्टि तथा २७ अङ्गुल का धनुर्ग्रह भी होता है।^{११} कपिञ्जलसंहिता में मान का सामान्य निर्देश प्रायः इसी तरह है।^{१२} शयनादि प्रतिमाओं का कल्पन वितस्तिमान से, देवालय का कल्पन प्राजापत्य हस्तमान से, प्रतिमानिर्माण धनुर्ग्रह या धनुर्मुष्टिमान से, मनुष्य अथवा ब्रह्मा का विग्रह किष्कुहस्तमान से, मनुष्य गृह, देवालय कल्पन हस्तमान से तथा ग्रामादि का कल्पन दण्डमान प्रमाण से करना चाहिए।^{१३}

१. यज्ञाधिकार १९/२९.
२. विमानार्चनकल्प, पटल २२; यज्ञाधिकार १९/२५.
३. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
४. विमानार्चनकल्प, पटल २२. यज्ञाधिकार १९/२५.
५. यज्ञाधिकार १९/२६; विमानार्चनकल्प, पटल २२.
६. क्रियाधिकार ३/१२; प्रकीर्णधिकार ५/७.
७. खिलाधिकार १४/११-१२; समूर्तार्चनाधिकरण २२/२३.
८. खिलाधिकार १४/११-१२.
९. समूर्तार्चनाधिकरण २२/२३.
१०. विमानार्चनकल्प, पटल २२. प्रकीर्णधिकार ५/८; यज्ञाधिकार १९/२६.
११. विमानार्चनकल्प, पटल २२; समूर्तार्चनाधिकरण २२/१८; यज्ञाधिकार १९/२७.
१२. कपिञ्जलसंहिता १०/६०अ
१३. यज्ञाधिकार १९/२७; विमानार्चनकल्प, पटल २२; समूर्तार्चनाधिकरण २२/२४-२५.

एक अङ्गुल से आरम्भ कर सत्ताईस अङ्गुल प्रमाण-मान-मात्रादि नक्षत्रपर्यन्त विशेष मान तथा उनके पर्याय का विशद विवेचन वैखानस ग्रन्थों में प्रतिपादित है।^१

प्रतिमा की ऊँचाई को सुनिश्चित कर दशतालादिसंख्या को द्वादश भाग में विभक्त कर उसके एक भाग को देहलब्ध अङ्गुलमान कहा जाता है।^२

मान (Measurements) छः प्रकार का कहा गया है। १. मान, २. प्रमाण, ३. उन्मान, ४. परिमाण, ५. उपमान तथा ६. लम्बमान।^३ यहाँ मान से तात्पर्य 'ऊर्ध्वमान' से है।^४ शरीर के पैर से लेकर सिर तक की ऊँचाई 'ऊर्ध्वमान' के नाम से अभिहित है। प्रमाण का लक्षण तिर्यङ्मान कहा गया है।^५ प्रत्येक अङ्ग के विस्तार (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई) को प्रमाण कहा गया है।^६ उन्मान (Thickness) का अभिप्राय प्रत्येक अङ्ग की मोटाई (Diameter) से है।^७ परिधि अथवा विस्तार को परिमाण की संज्ञा दी गई है।^८ उपमानमान को उपाङ्ग कहा गया है। पीठ, प्रभा, छत्र तथा शङ्ख-चक्रादि आयुध इसके उदाहरण हैं।^९ लम्बमान का लक्षण सूत्रमान साहुलमान बताया गया है।^{१०}

पाञ्चरात्रागम में मानोन्मानादि शब्द का निरूपण निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट है—१. मान-उत्तुङ्गमान, २. उन्मान-विस्तृतमान, ३. प्रमाण-नाभिमान, ४. उपमान-अन्तर्मान, ५. लम्बमान-सूत्रमान।^{११}

१. विमानार्चनकल्प, पटल २२;
समूर्तार्चनाधिकरण २२/९-२१.
२. समूर्तार्चनाधिकरण २२/५-६;
ज्ञानकाण्ड, अध्याय ४०.
३. विमानार्चनकल्प, पटल २२; यज्ञाधिकार १९/२३.
४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०; अर्चनाधिकार १३; खिलाधिकार १४/१३.
५. यज्ञाधिकार १९/१४.
६. खिलाधिकार १४/१३.
७. खिलाधिकार १४/४.
८. यज्ञाधिकार १९/१५.
९. अर्चनाधिकार १३.
१०. विमानार्चनकल्प, पटल २२; अर्चनाधिकार १३.
११. अनिरुद्धसंहिता १२/१-९.

मान का पर्यायवाची शब्द आयाम, आयत तथा दीर्घ कहा गया है। प्रमाण का समानार्थक शब्द विस्तार, विस्तृति, व्यास, विपुल तथा विशाल वर्णित है। तुङ्ग, उन्नत, उत्सेध तथा उच्छ्राय उन्मान का द्योतक है। परिमाण का पर्यायवाचक शब्द निष्क्रम, निष्कृति, निर्गम तथा परिणाह है। विवर, तीव्र और अन्तर उपमान के परिचायक हैं।^१

ध्रुवबेर-कल्पन के समय षण्मानादि पर विशेष बल दिया गया है। न्यूनातिरेक मूर्ति बनने पर उसके परिणाम प्रतिपादित हैं। जो अधोलिखित हैं—

- | | |
|-------------------------|--------------------------------|
| १. मानहीन | - धनधान्यनाश |
| २. मानाधिक | - रोगवर्धक |
| ३. प्रमाणाधिकर या न्यून | - दृष्टादृष्टफलनाश |
| ४. उन्मानविहीन या अधिक | - पुत्रमृत्यु |
| ५. परिमाणविहीन या अधिक | - स्त्रीमृत्यु |
| ६. लम्बमानविहीन या अधिक | - ग्राम-विनाश |
| ७. उपमानविहीन या अधिक | - राजा की मृत्यु। ^२ |

अङ्गुलमान के निरूपण के पश्चात् अब तालमान के स्वरूप पर विचार करने का यत्न होगा। तालमान एकताल से शुरू होकर दश ताल तक वर्णित है।^३ ये उत्तम, मध्यमादि भेद से पृथक्-पृथक् प्रतिपादित हैं।^४ किसी भी विग्रह-विशेष के मान को दश भागों में बाँटकर, उसके एक भाग को पुनः द्वादश भागों में विभक्त करने से जो एक भाग होता है, उसे अङ्गुल की संज्ञा दी गयी है। अङ्गुल का अष्टमांश यव कहा गया है। द्वादशांगुलक मान ताल के नाम से जाना जाता है। यही ताल मुख्य ताल कहा गया है। प्रस्तुत क्रम में दश ताल से विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र की मूर्ति के मान का विधान है।^५ मध्यमदशतालमान से श्रीदेवी, भूमिदेवी, उमा तथा सरस्वती की प्रतिमा

-
१. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
 २. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
 ३. खिलाधिकार १५/१४२-१४३.
 ४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.
 ५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.

बनाने का निर्देश है।^१ द्वादश आदित्य, चन्द्रमा, एकादश रुद्र तथा अष्ट वसुओं आदि की मूर्तियों का कल्पन अष्टदशतालमान में करने को कहा गया है।^२ सार्द्धनवतालमान से यक्षेश, नवग्रह की प्रतिमा का मान निर्धारित होता है।^३ खिलाधिकार का कहना है कि नवार्द्धताल का उपयोग रवि, स्कन्द तथा इन्द्र की प्रतिमा के लिए है।^४ नवताल से निशाचरों तथा असुरों की प्रतिमा निर्मित होनी चाहिए।^५ प्रकीर्णाधिकार में प्रतिपादित है कि नवतालमान से मुनियों, गणदेवताओं तथा चारणों की प्रतिमा बनानी चाहिए।^६ मनुष्यमूर्ति अष्टमान प्रमाण की कही गयी है।^७ बेतालों की सप्ततालमान, प्रेतों की षट्तालमान, कुब्जों की पञ्चतालमान से प्रतिमा के कल्पन का विधान है।^८ चतुस्तालमान से विमानों की प्रतिमा, त्रितालमान से भूतों तथा किन्नरों की प्रतिमा, द्वितालमान से कूष्माण्डों की प्रतिमा तथा एकतालमान से कबन्धों की प्रतिमा के कल्पन का निर्देश है।^९ जहाँ तक दशतालमान के स्वरूप का प्रश्न है, यह १२० अङ्गुल परिमित कहा गया है।^{१०} यहाँ उत्तम दशतालमान १२४ अङ्गुल बताया गया है।^{११} मध्यम दशताल १२० अङ्गुल तथा अधम दशताल ११६ अङ्गुल का माना गया है।^{१२}

प्रतिमा का मान सामान्यतः विमान, द्वारमान या गर्भगृह के मान पर आधारित होता है। मूल प्रासाद की बाहरी दीवाल को दो भागों में विभक्त कर

१. विमानार्चनकल्प, पटल २२; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.
२. विमानार्चनकल्प, पटल २२-२३.
३. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
४. खिलाधिकार १५/१९४.
५. विमानार्चनकल्प, पटल २२; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.
६. प्रकीर्णाधिकार ९/४१.
७. विमानार्चनकल्प, पटल २२; यज्ञाधिकार १९/२१.
८. विमानार्चनकल्प, पटल २२; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०; यज्ञाधिकार १९/२१.
९. विमानार्चनकल्प, पटल २२; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०;
प्रकीर्णाधिकार ९/४१; यज्ञाधिकार १९/२२.
१०. खिलाधिकार १५/१९८.
११. विमानार्चनकल्प, पटल २२; यज्ञाधिकार १९/२३.
१२. विमानार्चनकल्प, पटल २२; यज्ञाधिकार १९/२४.

उसमें से एक भाग को पहले के दो विभागों के साथ जोड़ना चाहिए, तब उसे सत्ताईस विभागों में विभक्त करना चाहिए। इस चौड़ाई के बराबर ध्रुवबेर की ऊँचाई कही गयी है।^१ अगर ध्रुवबेर की ऊँचाई मन्दिर की चौड़ाई (तार) के एक तिहाई हो, तो उसे सर्वोत्तम माना जाता है। ध्रुवबेर की ऊँचाई गर्भागार के चार भाग में से तीन भाग के बराबर, तीन भाग में दो के बराबर या पाँच भाग से तीन भाग के बराबर होना निर्दिष्ट है।^२ विकल्प भी वर्णित है। तदनुसार गर्भागार का आधा हिस्सा छब्बीस भागों में विभक्त कर इस परिमाण के बराबर बेर की ऊँचाई होनी चाहिए।^३ योगशयन ध्रुवबेर की ऊँचाई गर्भद्वार की ऊँचाई के एक तिहाई के बराबर होनी चाहिए।^४ ध्रुवबेर की ऊँचाई यजमान की आँख, वक्षस्थल तथा नाक के सातगुनी के बराबर होनी चाहिए।^५ यजमान के हाथ से नापी जाय। एक हस्त से आरम्भ कर छः छः अङ्गुल की वृद्धि से त्रिहस्तान्त नवधा उत्सेध वर्णित है।^६ विश्वामित्रसंहिता के अनुसार यह प्रमाण चार अङ्गुल से प्रारम्भ कर चार-चार अङ्गुल की वृद्धि से अष्टोत्तरशत अङ्गुल पर्यन्त होता है।^७ अधिष्ठानमान के अनुसार ध्रुवबेर का उत्सेध तीन प्रकार का बताया गया है।^८

स्थानकादि ध्रुवबेर पूर्ण होना चाहिए। इसके सभी अवयव मान-उन्मान-प्रमाण की अनिवार्यता प्रतिपादित है। सभी अङ्ग-उपाङ्ग से पूर्ण प्रतिमा का निर्माण निर्दिष्ट है।^९ ध्रुवबेर का अवयव उत्तमदशतालमान के अनुसार कहा गया है।^{१०} इसका निम्नलिखित मान के अनुसार निर्माण करने को कहा गया है—तीन यव से अधिक एक अङ्गुल उष्णीशकेश के अन्ततक तीन

-
१. विमानार्चनकल्प, पटल २२.
 २. क्रियाधिकार ६/९३
 ३. यज्ञाधिकार ११/२०-२१.
 ४. अर्चनाधिकार ८.
 ५. यज्ञाधिकार ११/२६-२८.
 ६. यज्ञाधिकार ११/२४-२५.
 ७. विश्वामित्रसंहिता २२/३१-२२.
 ८. निरुक्ताधिकार १३.
 ९. यज्ञाधिकार ११/१४-१६; वासाधिकार १४; समूर्तार्चनाधिकरण १९/२०-२२.
 १०. वासाधिकार ४.

अङ्गुला उष्णीश से अङ्गुल तथा मुख का विस्तार चतुर्दश अङ्गुल आदि वर्णित है। उत्तमदशतालमान के अनुसार ध्रुवबेर का उपमान, लम्बमान तथा ऊर्ध्वमान का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।^१ ध्रुवबेर के प्रत्येक अङ्गों के सौन्दर्याधान की आवश्यकता भी वर्णित है।^२

ऊपर जो प्रतिमा-प्रमाण का विवेचन किया गया है वह सामान्यतः प्रायः ध्रुवबेर का विषय है। हमने पीछे ध्रुवबेर के अतिरिक्त आलयों में कुछ अन्य बेरों की चर्चा भी की है। अधिकतर देवालयों में ध्रुवबेर के अतिरिक्त कुछ अन्यान्य बेर भी स्थापित होते हैं। इन बेरों में आराधनामूलक विविध कर्म सम्पादित होते हैं। ये बेर मूलबेर की अपेक्षा लघु होते हैं। कौतुक, स्नपन, उत्सव तथा बलिबेर का मान अधोलिखित है—

“ध्रुवबेरस्योत्सेधं त्रिधा कृत्वा एकांशमुत्तमम्, द्विभागं त्रिधा कृत्वा एकांशं मध्यमम्, तद्द्विभागं त्रिधा कृत्वा एकांशमधमम्, ध्रुवबेरं दशांशं कृत्वा एकांशं तालम्, तत्तालं द्वादशभागं कृत्वा एकांशमङ्गुलं तदङ्गुलेनैक-दशाऽङ्गुल समारभ्य त्र्यङ्गुलअधिक षष्ठ्यङ्गुलान्तं द्वि-अङ्गुलवृद्ध्या सप्तविंशत्य-ङ्गुलान्तानि कौतुकादीनि कारयेत् ।”^३ श्रीप्रश्नसंहिता तथा भार्गवतन्त्र में भी कौतुकादि बिम्बों का माननिर्देशन प्रायः उपर्युक्त विधि से निर्दिष्ट है।^४

वैखानस ग्रन्थों ने इसी प्रकार विविध प्रतिमाओं के मान का निर्देश किया है। इसमें कुछ स्थानों में ग्रन्थ के भाव कुछ क्लिष्ट प्रतीत होते हैं, पर सामान्य रूप से निर्दिष्ट विषय को समुचित कहा जा सकता है। महर्षि भृगु के खिलाधिकार में प्रतिमा के एक-एक अङ्गविशेष का मान अत्यन्त विस्तार के साथ बताया है। जैसे—मुख, केशान्त, नासिका, चिबुक, ग्रीवाग्र, नाभि, मेढ्र, जङ्घा, मूर्धा, ग्रीवा, जानु, गुल्फ तथा पादादि अङ्गों का स्पष्ट वर्णन किया है।^५ पाञ्चरात्र संहिताओं में भी इन अङ्ग-विशेषों का निरूपण निर्दिष्ट है।^६

१. अर्चनाधिकार ८; विमानार्चनकल्प, पटल २, २३; ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०-५१.

२. समूर्तार्चनाधिकरण १३/४५-४९.

३. विमानार्चनकल्प, पटल २२.

४. श्रीप्रश्नसंहिता २४/५-१०; भार्गवतन्त्र ४/१०२-१०३.

५. खिलाधिकार ४/१४-२४९.

६. पाञ्चसंहिता, क्रियापाद २०/१-१०१; विधामित्रसंहिता २२/६१-६७.

चतुर्थ अध्याय प्रासाद-लक्षण आलय-कल्पन तथा निर्माण

वैखानस आगम के पुरस्कर्ताओं ने मूर्तिपूजा के लिए देवप्रासादों की आवश्यकता विशेष आग्रह के साथ प्रतिपादित की है। सभी वर्णों के धर्मनिष्ठ लोगों का देवालय बनवाने के लिए आह्वान किया गया है। इसी कारण सारे देश में मन्दिरों की स्थापना हुई और हरिनाम का जयघोष गाँव-गाँव में बड़े धूम-धाम के साथ गूँजने लगा। कलात्मक वस्तुओं की चर्चा करते समय हमारा ध्यान, सर्वप्रथम उन देवप्रासादों की ओर जाता है, जो स्थापत्यकला के अनमोल रत्न हैं और जो दक्षिणी भारत के तीर्थस्थानों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इन प्रासादों (विमानों) की विशालता, भव्यता एवं इनकी प्राचीन द्राविड-शैली एवं कालचक्र तथा विधर्मी आक्रामकों के प्रहारों से बचकर आजतक सुरक्षित रहा इनका रूप तीर्थ-यात्रियों के मन में विशेष श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः प्रासाद (मन्दिर) भारतीय स्थापत्य का मुकुटमणि एवं सर्वस्व है। इसीलिए प्रसिद्ध कलासमीक्षक पर्सीब्राउन ने भारतीय स्थापत्य के प्रसंग में परोक्ष रूप से प्रासाद-स्थापत्य की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि भारत में स्थापत्य के माध्यम से चट्टानों, पाषाणों एवं ईंटों में मस्तिष्क को मूर्तस्वरूप प्रदान किया गया है।^१ भारतीय मन्दिर वस्तुतः देश की परम्परा तथा प्रतिभा का मूर्त रूप हैं।

वैखानस आगम में आलय के कई पर्याय निर्दिष्ट हैं। यथा—प्रासाद, सन्न, गृह, विमान, हर्म्य, निलय, मन्दिर, भवन, निकेतन तथा भवन आदि।^२ पाञ्चरात्रागम में आलयरूपी शरीर के विभिन्न अंगों को मानवीय अंगों

१. इण्डियन आर्किटेक्चर, पर्सीब्राउन (बुद्धिस्ट-हिन्दू) पृष्ठ १.

२. निरुक्ताधिकार ८.

की संज्ञा प्रदान की गयी है।^१ वैखानसागम यह मानता है कि किसी भी पनुष्य का देह अपने अंगुल से छियानवें अंगुल-प्रमाण का होता है।^२ यहाँ छियानवें प्रकार के विमानों का उल्लेख उपलब्ध है।^३ स्पष्ट है कि मानव शरीर की भाँति विमान की कल्पना की गई है। विमानार्चन की विशेष महिमा गाई गई है। सृष्टिकार ब्रह्मा का वचन है कि विमानार्चन से सभी कामनाओं की सिद्धि हो जाती है।^४

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न खड़ा होता है कि जब अग्निहोत्रादि साधन उपलब्ध हैं, तो फिर आलय, अर्चा आदि की आवश्यकता क्या है? समाधान देते हुए यहाँ कहा गया है कि अग्नि-आराधनादि यजमान की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, किन्तु आलय-अर्चा यजमान की मृत्यु के बाद भी शाश्वत, अनवरत चलती रहती है। अस्तु, भक्तिपूर्वक नित्य आलय-अर्चा शाश्वत, अनन्त है और परम पुण्य प्रदान करनेवाली है।^५

आलय-कल्पन विषय साक्षात् रूप से शिल्पशास्त्रीय विषय है। यद्यपि इसे वैखानसागम का मुख्य विषय नहीं कहा जा सकता, फिर भी आलयार्चा-विषय-प्रतिपादनपरक वैखानस आगम-साहित्य में देवालय-निर्माण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है, क्योंकि परोक्ष रूप से यह वैखानस दर्शन का ही भाग है। इस सन्दर्भ में वैष्णव-देवालय से सम्बद्ध विषय प्रायः उसी तरह प्रतिपादित हैं, जिस प्रकार वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं। वास्तुविशारदों ने प्रासादादि को ही वास्तु कहा है, क्योंकि वास्तु के आश्रय के कारण उसे वास्तु कहा जाता है—**प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्। तान्येव वस्तुरेवेति कथितं वै वास्तुविद्बुधैः**^६॥ प्रकृत

१. क. पाद्मसंहिता, क्रियापाद, ३०/४८-५३.

ख. विष्णुसंहिता १३/६०-७०.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ९०.

३. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ३१; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ७/१६-४०.

४. विमानार्चनकल्प, पटल १.

५. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १; ख. खिलाधिकार १/२७-३२;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल १.

६. आगम सुषमा, पृष्ठ २६६.

अध्याय में मुख्य रूप से वैखानस-आगम ग्रन्थों में विवेचित वास्तुशास्त्रीय विषय-वर्णन के परिप्रेक्ष्य में वैखानसीय वैष्णव-देवालय-कल्पन विषय का विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नलिखित विषयों का विचार होगा—वास्तु-प्रदेश, उसके विविध भेद, भूपरीक्षण, भूपरिशोधन, वास्तुपद तथा वास्तुदेवता, ग्रामादि-विचार, विभिन्न देवालय-स्थान, बालालय-कल्पनादि, प्रथमेष्टकान्यास, गर्भन्यास, तत्तदालय सम्बद्ध सामान्य विचार, आलय के भेद, आलय-स्वरूप, शिखाघट, विमानतलकल्पनीय देवतादि, वर्णलेप, विमानदेवता, विविध शालादिकल्पनविचार, मण्डपादि कल्पन-स्थान, द्वारदेवतादि विषय-प्रतिपादन। आवश्यकतानुसार विषय की स्पष्टता के लिए तुलनात्मक रूप से अन्य वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों तथा समानप्रकृतिक कुछ अन्य ग्रन्थों की सहायता लेने का प्रयत्न किया जा रहा है।

वैखानस आगम-ग्रन्थों ने सामान्यतः प्रासाद-कल्पनार्थ वास्तुदेश निर्देश के साथ इस विषय को प्रारम्भ किया है। वास्तुदेश का अभिप्राय यह है कि जहाँ मन्दिर का निर्माण होना है, उस भूमि का चुनाव करना। आलयनिर्माण के लिए अधिकृत यजमान तथा आचार्य का वरण किया जाता है। यजमान को विष्णुभक्त, निश्चल मनवाला, धन-धान्य से समृद्ध तथा उदार गुणों वाला होना चाहिए। वह वर्ण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अनुलोमज हो सकता है।^१ आचार्य ब्राह्मण वेदज्ञ, नित्यस्वाध्याय में रत, भक्ति एवं अध्यात्म-गुणोंवाला, नित्यहोम करनेवाला, नारायणपरायण, आलयार्चा-विधिमन्त्र-प्रयोग का जानकार तथा वैखानससूत्रनिषेकादि क्रियान्वित होना चाहिए।^२ यहाँ उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शौचाचारादि-सम्पन्न, परम्परागत आचार्य-कार्य सम्पादित करनेवाले को भी विशेष मान्यता दी गयी है। उसे सौम्य, जितेन्द्रिय, ऊहापोहज्ञ, संशय का निराकरण करनेवाला होना चाहिए।^३ आलय-निर्माणार्थ शिल्पियों के

१. क. निरुक्ताधिकार ४; ख. ज्ञानकाण्ड २१;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण १/४१-४४.

२. समूर्तार्चनाधिकरण २/१-५.

३. क. यज्ञाधिकारण २/१-३; ख. निरुक्ताधिकार ४; ग. वासाधिकार १;

घ. ज्ञानकाण्ड २१; ड. क्रियाधिकार १/२२-२५.

लक्षण भी यहाँ प्राप्त होते हैं। शिल्पी को शिल्पशास्त्र में निष्णात, नीरोगी होना अनिवार्य है।^१ शिल्पियों के कुलाल^२, तक्षक^३ तथा पारशव^४—ये तीन भेद लक्षण-सहित वर्णित हैं। वासाधिकार का कहना है कि जिस शिल्पी का जो कार्य निर्दिष्ट है, वह उसीको सम्पादित करे, अन्यथा महान् दोष होता है, कर्ता का निश्चित नाश हो जाता है तथा आचार्य और अर्चक का भी नाश सम्भव है।^५ यजमान लक्षणयुक्त आचार्य का वरण कर आलय-निर्माण-भूमि को ग्रहण करता है। भूमि के दो भेद—“शान्तिकं पौष्टिकं वा देशमाश्रित्य वृद्धिदेशं गृहणीयात्”—कहा है।^६

शान्तिक देश :

शान्तिक के लक्षण को बतलाते हुए कहा गया है कि वह भूमि, जो सुन्दर एवं रम्य हो, धन-धान्य से परिपूर्ण हो, अच्छा साम्राज्य हो, जहाँ धर्म और पुण्य का कर्म होता हो, उत्तम आचरण का राजा हो, वेद-ध्वनियाँ होती हों, इस प्रकार की भूमि को सिद्धभूमि कहते हैं। इस प्रकार की भूमि में जहाँ

-
१. क. खिलाधिकार २/११५-११६;
ख. विमानार्चनकल्प, पटल २;
ग. समूर्तार्चनाधिकरण २/१०-११.
 २. शिल्पिनस्त्रिविधाः प्रोक्तास्तत्तत्कर्मोपजीविनः ॥
कुलालः तक्षकश्चैव तथा पारशवस्त्विति ।
त्रैवस्तुकानि बेराणि शैलोर्ध्वे चित्रकर्म च ॥
सुधाकर्म विमानोर्ध्वे भित्तौ चित्रक्रियादिकम् ।
एवं कुलालकः कुर्यात् ॥—क्रियाधिकार २/२८-२०.
 ३. तक्षकः सर्वमेव तत् । लोहाश्मदारुबेराणि चाष्टबन्धादिकां क्रियाम् ॥
ग्रामादिवास्तुविन्यासं वर्णिना गृहकर्म च । प्रासादमण्डपद्वारप्राकाराणां च कल्पनम् ॥
आचरेत् तक्षकः सर्वं कुर्युः शिल्पिन एव तत् ।
अन्यथा यदि स ग्रामो राजा राष्ट्रं च नश्यति ॥—क्रियाधिकार २/२१-२३.
 ४.पटाद्याभासकर्म यत् ॥
तत् पारशवः कुर्यात्—क्रियाधिकार २/२३-२४.
 ५. यस्य धर्मस्य यः कर्ता तत्तत्कर्म समारभेत् ।
अन्येषां चेन्महादोषः तत्कर्ता नश्यति ध्रुवम् ॥
आचार्यस्यार्चकस्यैव तत्स्थानं तस्य नाशयेत् ॥—वासाधिकार ४.
 ६. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ४.

कृष्णमृग तथा कपोत, तोता, मैना, मयूर, हंस, चक्रवाक आदि मुख्य पक्षियों का वास होता है, उस भूमि में कुश, दर्भ, पलाश, अपामार्ग और तुलसी के पौधे हों, पुण्य नदियाँ और पर्वत हों, वह भूमि पूर्व की ओर ढालवाली होनी चाहिए। वहाँ शंख, गोक्षीर, श्वेतकमल होने चाहिए। उन भूमि में कंकड़ या छोटे पत्थर आदि नहीं होने चाहिए।^१ जो देखने से सुन्दर लगे, जिसमें न तो कीचड़ हो न ही लवण मिश्रित हो, जहाँ दूर्वा, अपामार्ग, धातकी, चीर, मल्लिका, सोम, बकुल, कदली, कपित्थ, अश्वकर्णी, विष्णुक्रान्ता, अशोक, तिमिस, चन्दन, अगरु, कोष्ठु, उशीर, इलायची, लौंग, कर्णिकार, नीम, अर्जुन, अमन, बिल्व, मातुलुंग, अश्वगुण, बल्ली, प्रकुड्य, पताक आदि पौधे और लताएँ हों, ऐसे प्रदेश को शान्तिक देश कहते हैं।^२

२. पौष्टिक देश :

पौष्टिक की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि शुद्ध भूमि रक्तवर्ण के साथ पाण्डु रंग की होती है। जहाँ कुश, दर्भ, अपामार्ग, पलाश, दूर्वा, तुलसी आदि याज्ञिक वनस्पति हो, वह भूमि जहाँ तपस्वीजन तप करते हैं, उस भूमि में कदली, आम, पनस (कटहल), पुन्नाग, अर्जुन, चम्पक, अशोक, बकुल, चीड़ (सरल) सिन्दुवार, पाटल, इन्दीवर (नीलकमल), हरिपत्र, पराल, सुनक पुण्य, तमाल और अन्य पुरुष वर्ण के वृक्ष हों, वह स्थान सम शीतोष्ण होना चाहिए। उस भूमि की ढाल उत्तर-पूर्व होनी चाहिए। जिसमें पत्थर के टुकड़े और बालू न हों। वह स्थान सुगन्धित हो। ऐसे स्थान को पौष्टिक देश की संज्ञा प्रदान की गई है।^३

वास्तुदेशपरीक्षा की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है कि वास्तु सभी सम्पन्नता का मूल है। विरुद्ध होने से ऐहिक तथा आमुष्मिक सिद्धि नहीं होती है। अतः पूरी तरह परीक्षण करके सभी कार्य करने चाहिए।^४

इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल में नव प्रकार के वास्तुदेशों की चर्चा प्राप्त होती है, जो इस प्रकार हैं—“तत्र वैष्णवं ब्राह्मं रौद्रमैन्द्रं गारुडं

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ४.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०.

३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

भौतिकमासुरं राक्षसं पैशाचमिति नवविधो देशः”^१। अर्थात् वैष्णव, ब्राह्म, रौद्र, ऐन्द्र, गारुड, भौतिक, आसुर, राक्षस तथा पैशाच ऐसे नौ प्रकार के देश हैं। प्रत्येक के पृथक्-पृथक् लक्षण निरूपित हैं, जो अधोलिखित हैं—

१. वैष्णव देश

वह देश जहाँ अशोक, अर्जुन, कर्णिकार, अश्वत्थ आदि वृक्ष हों, विष्णुक्रान्ता, आखुकर्णी, तुलसी और दूर्वा आदि रोपित हों, जहाँ हिरण, हाथी, बाघ, बैल, हंस, तोता, मैना, कबूतर आदि पशु-पक्षी हों, वह प्रदेश वैष्णव देश कहा जाता है।^२

२. ब्राह्म देश

वह देश जहाँ बिल्व, पलाश आदि याज्ञिक वृक्ष हों, जहाँ ब्राह्मण रहते हों, हिरण, हंस, आदि पशु-पक्षी रहते हों, उस देश को ब्राह्म देश कहते हैं।^३

३. रौद्र देश

वह देश जहाँ काँटेदार वृक्ष, निम्बु, करंज आदि हों, जहाँ हिंसक पशु-पक्षियों का बसेरा हो, वैसे देश को रौद्र देश कहते हैं।^४

४. ऐन्द्र देश

वह देश जहाँ आम, केला, अर्जुन, सिन्दुवार, मालाजाविका आदि पेड़-पौधे हों, जहाँ वैश्य और शूद्र वास करते हों, उस देश को ऐन्द्र देश कहते हैं।^५

५. गारुड देश

वह देश जहाँ मल्लिका, मालती आदि लतायें हों, जो हरी-भरी जगह हो, उस देश का गारुड देश की उपाधि दी गयी है।^६

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १०.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय ११.

६. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

६. भौतिक देश

वह देश जहाँ अग्निमन्य, केतक, निर्गुण्डी, करबीर, किंशुक, हिन्ताल, माधवी, यूतमोदनी, नन्दा, दूर्वा और राजवल्ली के पेड़-पौधे हों, उसे भौतिक देश कहते हैं।^१

७. आसुर देश

वह देश जहाँ मल्लातरु, तपन, उत्कट, पत्र, सन्द, अलाव, रुह, यज्ञघ्न और प्याज हो, जहाँ पाषण्डी, रोमक, धूर्त, किरात, कुक्कुट, चक्र, गिद्ध, सर्प, बिच्छु, साही (शल्यक) और अन्य नीच लोग रहते हो, उस देश को आसुर देश कहते हैं।^२

८. राक्षस देश

जहाँ कपित्थ, दण्डक, अग्निदाहरक्तपुष्प होते हों, चोर, चाण्डाल, आदि नीच मनुष्य तथा अशुभ-पशु-पक्षी रहते हों, अतिरूक्ष सुरा, मांस आदि की वृद्धि के कारण प्रजाजनों का क्षय होता हो, उसे राक्षस देश की संज्ञा दी गयी है।^३

९. पैशाच देश

वह देश जहाँ श्लेष्मातक, विभीतक, शाल्मलि, सुरण्ड, वज्जुल, पापकर्ण, कवच, पचनी, कर्तारिका, नील और सोमगन्धी से युक्त स्थान हो, उस देश को पैशाच देश कहते हैं।^४

ऊपर वर्णित देशों में से शुरु के कुछ देश देवता, ऋषि तथा मनुष्यों के रहने के लिए मान्य हैं।^५ आरम्भ के प्रथम दो—वैष्णव तथा ब्राह्म देशों में ब्राह्मणों को, तत्पश्चात् रौद्र तथा ऐन्द्र देशों में क्षत्रियों को, गारुड देश में

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

वैश्यों को तथा भौतिक देश में शूद्रों के लिए बसना शुभकारी कहा गया है। आसुर, राक्षस तथा पैशाच देश त्याज्य है।^१ देवालयनिर्माण के लिए वैष्णव देश ही सर्वोत्तम है।^२ पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों में भूमि के चार भेद तथा उसके लक्षण प्रतिपादित हैं।^३ 'सर्वाशाग' (सभी दिशाओं से जुड़ी) आयताकार भूमि श्रेष्ठ होती है। प्रागुत्तरानता मध्यम भूमि मानी गई है। अन्य जघन्या हैं, अतः अग्राह्य हैं।^४

वास्तुदेश—लक्षित देशविशेष में भूग्रहण तथा भूपरीक्षण किया जाता है। भूमिपरीक्षण—क्रम में फलानुसार उत्तमा, मध्यमा तथा कनीयसी रूप से भूमि तीन तरह की बताई गई है। परीक्षण क्रम अधोलिखित है—दण्डमात्र आयत तथा विस्तारोंवाली भूमि को जानुपर्यन्त खोदते हैं, पुनः खोदी हुई मिट्टी से ही उसे पूर्ण करते हैं। यदि खात-पूर्ति के बाद भी मिट्टी अधिक हो जाती है, तो उस भूमि को उत्तम भूमि कहते हैं। यदि मिट्टी न्यूनाधिक न होकर सम हो, तो उसे मध्यम भूमि तथा खातपूर्ति में मिट्टी अल्प होती हो, तो उसे कनीयसी भूमि कहते हैं।^५ उपर्युक्त परीक्षण-विधि में अधिक मिट्टी वाली भूमि महती वृद्धिकारी, कम मिट्टीवाली भूमि हानिप्रद तथा सम मिट्टीवाली समानफलदायक होती है।^६ भूमिपरीक्षण की दूसरी विधि बीजवपन बताई गयी है। तदनुसार परीक्षणार्ह भूमि में बीज बोते हैं। यदि तीन रात्रि में बीज अंकुरित हो जाय, तो उस भूमि को

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

२. क. समूर्तार्चनाधिकरण २/१२-१४; ख. खिलाधिकार २/५१;

ग. निरुक्ताधिकार ; घ. वासाधिकार १.

३. क. पाद्मसंहिता, क्रियापाद १/२२-३१;

ख. नारदीयसंहिता १४/१४-२५;

ग. कपिञ्जलसंहिता ७/१-११.

४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

६. क. विमानार्चनकल्प, पटल २;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण २/१४-१५;

ग. यज्ञाधिकार २/८-९;

घ. वासाधिकार १.

ग्रहण किया जाता है, अर्थात् आलय-कल्पन के लिए ग्राह्य कहा गया है।^१ नपुंसक वृक्षोंवाली, पाषाणशर्कराकीर्ण, वल्मीक, पतङ्ग-भस्म-अङ्गर-तुषक से घिरी हुई अन्त्यजाति की भूमि होती है, उसे त्याग देना चाहिए।^२ चतुरस्र आयताकार या समतल भूमि की शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के आधार पर व्यापक परीक्षा करनी चाहिए। शब्द का आधार वीणा, वेणु, दुन्दुभि, गज, तुरंग, वेद-ध्वनि कहा है। स्पर्श सुखद हो, श्वेत, पीत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण को क्रम से उत्तम, मध्यम तथा अधम समझना चाहिए। रस के अनुसार भूमि मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु कषाय तथा लवण क्रम से दो-दो को उत्तम, मध्यम तथा अधम की कोटि में गिना जाता है। सुगन्ध से युक्त भूमि होना आवश्यक है।^३ पाञ्चरात्रागम के ग्रन्थ पाद्मसंहिता में भूमि की परीक्षा-विधि लगभग इसी तरह वर्णित है।^४

भूपरीक्षण के पश्चात् भूमिशोधन किया जाता है। उस क्रम में वास्तु भूमि-प्रवेश के पूर्व काल पर विस्तृत विचार किया गया है। शुभ मास, पक्ष, और मुहूर्त में भूमि का शोधन करना चाहिए। इसके लिए उत्तम वर्ष में माघ, आषाढ तथा भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष से कृष्णपक्ष के बीच रेवती, रोहिणी, पुष्य, स्वाति, धनिष्ठा, श्रवण, शतभिषा, चित्रा एवं अश्विनी—इन सौम्य नक्षत्रों का होना अच्छा माना जाता है। शुभ दिन बृहस्पति, शुक्र, रवि, चन्द्र एवं मंगलवार को नन्दा आदि तिथियों में रिक्ता को छोड़कर अष्टमी तथा षष्ठी तिथि विशेष रूप से तथा वैधृति, विष्कम्भ, वज्र, परिघ, व्याघात, शूल अतिगण्ड और व्यतिपात योग में भूमिशोधन शुभ कहा गया है।^५ चैत्र मास भूमि-शोधन के लिए निषिद्ध माना गया है।^६

१. प्रकीर्णाधिकार १/२७.

२. विमानार्चनकल्प, पटल २.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल २;

ख. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १२.

४. क्रियापाद १/३२-३९.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १३.

६. यज्ञाधिकार २/४.

भूमिपरीक्षण गमन के समय शुभ शकुन का विचार देखते हैं। तदनुसार रास्ते में बैल, घोड़ा, गाय, ध्वज, छत्र, चामर, चक्र, अंकुश, पायस (खीर), देवताकृति, हल्दी, गोबर, चावल, तिल, जौ आदि अन्न, अलंकृत वेश्या एवं युवती दर्शन शुभकारी कहा गया है।^१

वास्तुभूमि में प्रवेश करने से पूर्व बलि-प्रदान किया जाता है। यह बलि-विधान यजमान के साथ आचार्य वास्तुभूमि की सीमा पर करता है। इस अवसर पर यजमान अपने गृह से आचार्य के साथ अपने पत्नी-परिवार सहित मांगलिक बाजों के साथ भूमि की ओर प्रस्थान करता है, वहाँ रात्रि में यक्ष, राक्षस, पिशाच, ग्रह तथा नागादि के लिए बलि-प्रदान किया जाता है।^२ यह भूतानुज्ञापन क्रिया भूतादि को वास्तुभूमि से अन्यत्र जाने की प्रेरणा के लिए की जाती है। ऐसी ही प्रक्रिया पाञ्चरात्रिकों के यहाँ भी देखी जा सकती है।^३

भूमिशोधन-क्रम में कर्षण एक विशिष्ट कर्म है। प्रकीर्णाधिकार में आलय-निर्माण हेतु कर्षणादि-प्रतिष्ठान्त कार्य के काल पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।^४ भूकर्षण के अवसर पर वर्ण के अनुसार बैल की व्यवस्था दी गई है। ब्राह्मण वर्ण के लिए श्वेत वृषभों, क्षत्रिय के लिए रक्तवर्ण वृषभों, वैश्य के लिए हरित (पीला) तथा शूद्र के लिए असित वृषभों का प्रयोग विहित है। वृषभों को खूब सजाकर जल-भोजनादि से तृप्त किया जाता है।^५ अर्चनाधिकार में वैश्य जाति के लिए पीत वर्ण का, शूद्र के लिए कृष्ण वर्ण वृषभों का प्रयोग निर्दिष्ट है।^६ निरुक्ताधिकार में भी इसी कथन का अनुमोदन किया गया है।^७ महर्षि अत्रि का कहना है कि नीरोगी तथा श्वेत या

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १३.

२. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १३; ख. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २२;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ३/८-१३; घ. क्रियाधिकार २/४४-४७.

३. क. विष्णुसंहिता १२/४१-४२; ख. हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड ६/१६-१७.

४. प्रकीर्णाधिकार १/५-२४.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २२.

६. अर्चनाधिकार ३.

७. निरुक्ताधिकार ४.

रक्त वर्णों वाले वृषभों के खुर-शृङ्गों को धोकर स्वर्णादि से विभूषित कर भूमि के कर्षण का कार्य सम्पादित करना चाहिए।^१ यहाँ ब्राह्मणादि वर्णों के लिए हल तथा युगकाष्ठ अधोलिखित कहे गये हैं—

ब्राह्मण के लिए बाँस, क्षत्रिय के लिए चम्पक, वैश्य के लिए पुत्राग तथा शूद्र के लिए उदुम्बर।^२ शूद्र के लिए बबूर का भी निर्देश है।^३ भृगु मुनि का कहना है कि क्षत्रिय के लिए बिल्व तथा शूद्र के लिए निम्ब या बबूर हो।^४ ब्राह्मण के लिए लाङ्गल खदिर का, क्षत्रिय के लिए असन, वैश्य के लिए चम्पक तथा शूद्र के लिए लाङ्गल शिरीष का बनवाना चाहिए।^५ समूर्तार्चनाधिकरण का कहना है कि ब्राह्मण के लिए लाङ्गल खदिर या असन का होना चाहिए।^६ इसका समर्थन प्रकीर्णाधिकार में भी किया गया है।^७ मुनि मरीचि का मानना है कि ब्राह्मण का लाङ्गल शिरीष का होना चाहिए।^८ हलादि के मान का भी निर्देश किया गया है।^९ वर्ण के अनुसार पाश का भी वर्णन उपलब्ध है। अनेक पाञ्चारात्रागम ग्रन्थों में कर्षण-विषय वर्णित है।^{१०}

कर्षणक्रिया निर्दिष्ट वर्णों के वृषभों को पूजित कर भूमि के पश्चिम भाग से पूर्वाभिमुख होकर सम्पादित की जाती है। इस समय प्रणव मन्त्र को मनसा स्मरण कर, आत्मरक्षार्थ 'विष्णुर्मा रक्षतु' उच्चारण करना चाहिए। कर्षण-

-
१. समूर्तार्चनाधिकरण ३/१६.
 २. खिलाधिकार ३/४-५.
 ३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २२.
 ४. क. अर्चनाधिकार ३;
ख. निरुक्ताधिकार ४.
 ५. खिलाधिकार ३/५-६.
 ६. समूर्तार्चनाधिकरण ३/७.
 ७. प्रकीर्णाधिकार १/३२.
 ८. विमानार्चनकल्प, पटल ३.
 ९. क. खिलाधिकार ३/१५-८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३/६-८;
ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३; घ. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २२.
 १०. क. खिलाधिकार ३/२१; ख. मार्कण्डेयसंहिता २;
ग. अगस्त्यसंहिता १/१४-२२.

क्रिया विभिन्न दिशाओं से चार बार सम्पन्न करने को कहा गया है।^१ कर्षण के समय निमित्तदर्शन परीक्षण आवश्यक है।

भूमिकर्षण के अनन्तर उस भूमि को सम करके उसमें शालि, व्रीहि तथा तिलादि वैष्णव बीजों का आवपन करते हैं। जब उसमें फल आता है, तब पशुओं के द्वारा उसे चराते हैं। इस क्रिया को गोचारण कहते हैं।^२ यह क्रिया प्रायः भूमि के संशोधन के साथ उसकी पवित्रता के लिए की जाती है। उस गोचारण के अनन्तर पुनः हल से उस भूमि का कर्षण विहित है। भूमि का समत्व कर शोधन करते हैं। गायों को पुनः तृण आदि को चरने के लिए प्रवेश कराते हैं। इस प्रकार गोगणों से सेवित भूमि पर गोमूत्र, गोमय, दुग्ध, स्वयं रोमादि के गिरने से वह भूमि शुद्ध हो जाती है—ऐसा धर्मविद् लोगों का कहना है।^३

परीक्षित भूमि को सब तरफ से ताल मात्र खोदते हैं। भूमिखनन के समय यदि रत्नादि दिखाई पड़े, तो उसे आलय के लिए शुभ समृद्धिदायक कहा गया है। यहाँ खातहोम विधान वर्णित है। यह होम मूलमन्त्र के द्वारा पुरुषसूक्त से गुग्गुल, तिल, नीवार के द्वारा सम्पादित होता है। यदि अशुभ संकेत होवे, तो शान्ति का विधान भी करना अपेक्षित है। इसके पश्चात् खात पूर्ण करने का अवसर आता है। खात में निक्षिप्त शालि के ऊपर सूत्रवेष्टित कुम्भों की स्थापना होती है। ये कुम्भ लोहे अथवा मिट्टी के हो सकते हैं। इन कुम्भों में सौवर्णमयी आधारशक्त्यादि तत्तद् वस्तुओं को निक्षेप कर दिक्पालादि का पूजन किया जाता है।^४

१. क. खिलाधिकार ३/२३, २६-३२; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३/१९-२२;
ग. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २२; घ. प्रकीर्णाधिकार १/३६-४३; ङ. यज्ञाधिकार ३/१०-१३.
२. क. खिलाधिकार ३/६४-६९; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ५/१-३;
ग. श्रीप्रश्नसंहिता ५/२६-२९; घ. नारदीयसंहिता अध्याय १४.
ङ. विमानार्चनकल्प, पटल ३.
३. क. समूर्तार्चनाधिकरण ५/३-८; ख. वासाधिकार २;
ग. यज्ञाधिकार ९/१६; घ. निरुक्ताधिकार ६.
४. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २३; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ४;
ग. समूर्तार्चनाधिकरण ४/१४-१५.

इस तरह सुसंस्कृत भूमि के मध्य भाग में वास्तुपूजा का विधान है। वास्तुपूजा प्रायः वास्तुपुरुष की आराधना के लिए की जाती है।^१ देवालय-कल्पन के लिए कृष्ट तथा शोधित भूमि में आलय-कल्पन से पूर्व वास्तुपद देवताओं का अर्चन आवश्यक होता है। वास्तुपद-कल्पन-क्रम के साथ उन पदों में विद्यमान देवताओं का निर्देश अनेक वैखानसागम-ग्रन्थ में निरूपित है।^२ निर्दिष्ट पदों में मध्यस्थ नौ पद ब्रह्मपद कहे गये हैं। पद-कल्पनादि का प्रकार इस प्रकार है—चतुरस्र सर को परस्पर नौ रेखाओं में विभक्त करते हैं, स्वभावतः $९ \times ९ = ८१$ पद कल्पित होते हैं। इन पदों में स्थित नव पदों को ब्रह्मपद कहते हैं। ब्रह्म के स्थान से पूर्वोत्तर दिशास्थ पद में (१) ईशान, (२) पर्जन्य, (३) जय, (४) महेन्द्र, (५) आदित्य, (६) सत्य, (७) शृशम (भृगु) तथा अन्तरिक्ष के स्थान प्रतिपादित हैं। दक्षिण दिशा के पदों में क्रमशः—(१) अग्नि, (२) उष्मांशु, (३) पूषा, (४) वितथ, (५) गृहक्षत, (६) यम, (७) गन्धर्व तथा (८) भृङ्गराज का स्थान वर्णित है। दक्षिण के पश्चात् पश्चिम दिशा में स्थित पदों में देवताओं का वर्णन उपलब्ध होता है—(१) ऋषि, (२) निऋति, (३) दौवारिक, (४) सुग्रीव, (५) पुष्पदन्त, (६) सरित्पति, (७) असुर तथा (८) शोषण। उत्तर दिशा में पदस्थ देवों के नाम—(१) योग, (२) जवन, (३) नाग, (४) मुख्य, (५) भल्लाट, (६) सोम, (७) अर्गल तथा (८) अदिति हैं। जहाँ तक ब्रह्मपद के बाह्य तथा अन्तिम पदों के मध्यस्थ पदों के देवताओं का प्रश्न है, वे निम्नवत् हैं—अग्निकोणस्थ पदों तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में सविता तथा सावित्र का स्थान निर्धारित है। नैऋत तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में इन्द्र तथा इन्द्रानुज का स्थान घोषित है। वायव्य तथा ब्रह्मपद के बीच में रुद्र तथा अरुद्र की स्थिति बताई गयी है। ईशानकोण में पद तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में आप तथा आपवत्स का स्थान निर्दिष्ट है। समूर्तार्चनाधिकरण और खिलाधिकार अपने प्रतिज्ञावाक्य में चौसठ पदों का उल्लेख करते

१. प्रकीर्णाधिकार २/१९-२०.

२. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३;

ख. प्रकीर्णाधिकार २/६-१५;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ५/९-२०.

हैं^१, किन्तु गणना में इक्यासी पदों की पुष्टि होती है, साथ ही नामों में भी लगभग साम्य है।^२ ब्रह्मपद के चतुर्दिक् देवताओं के पदनिर्देश के पश्चात् ब्रह्मपद की अपेक्षा बाह्य भाग के कोणों में स्थित देवताओं के निम्नलिखित रूप से स्थान-निर्देश दिखते हैं—ईशानादि कोणों में क्रमशः चरकी, देवतारि, पूतना तथा पापराक्षसी अवस्थित होते हैं।^३ शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रायः इसी तरह का विवेचन देखा जा सकता है।^४

उपर्युक्त वास्तुपद-कल्पन तथा तत्तत् पदों में स्थित देवताओं के वर्णन के पश्चात् वास्तुपद में स्थित वास्तुपुरुष की स्थिति इस प्रकार कही गई है—वास्तुपुरुष का शिर ईशान कोण में तथा दोनों पैर नैऋत कोण में होते हैं। स्वभावतः वाम तथा दक्षिण हस्त क्रमशः वायव्य तथा अग्निकोण होते हैं। वास्तुपुरुष के कण्ठ में आप, हृदय में आपवत्स, नाभि-स्थान में ब्रह्म-पद तथा कुक्षि में सविता की स्थिति बताई गई है। इस तरह अधोमुख स्थित वास्तुपुरुष के विभिन्न अंग तत्तद् वास्तुपददेव के स्थान पर स्थित हैं।^५ इस प्रकार वास्तुदेवों तथा वास्तुपुरुष का प्रोक्षण, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप से पूजन कर कल्पन की अन्य प्रक्रिया आरम्भ करते हैं।^६

नगरसन्निवेश

नगर-योजना (Town Planning)—यद्यपि आलय-निर्माण के क्रम में आपाततः नगर-योजना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आलय-निर्माण से पूर्व नगर-योजना एक आवश्यक विषय अवश्य है। अत एव

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३१;

ख. क्रियाधिकार २.

२. क. खिलाधिकार ३/७०-८२;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण ५/९-२०.

३. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १८;

ख. खिलाधिकार ३/८३-८५;

ग. पाद्मसंहिता-क्रियापाद १०/१३६-१४१.

४. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर (मानसार सीरीज), वाल्यूम ७, पृ० ६५.

५. प्रकीर्णाधिकार २/१६-१९.

६. प्रकीर्णाधिकार २/१९-२०.

वैखानास-आगम के कुछ ग्रन्थों में शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थ की भाँति इस विषय का वर्णन किया है। वैखानास आगम के ज्ञानकाण्ड में गृहवास्तु की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार शरीरधारियों का मूल देह होता है, उसी तरह प्राणियों का मूल उसका गृह होता है। बिना देह के कार्य नहीं होता। अतः सभी शुभदायक कार्य विधिपूर्वक करना चाहिए। विधि-विहीन वास्तु में असुर रहते हैं। ऐहिक और आमुष्मिक कार्य सिद्ध नहीं होते।^१

वैखानास आगम ग्रन्थों में ग्राम-विन्यास का अत्यन्त साफ तथा स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत ग्राम, अग्रहार, नगर, पत्तन, खर्वट, कुटिक, सेनामुख, राजधानी तथा शिबिका आदि के लक्षण निरूपित हैं, यथा—भृत्यों के साथ विप्रों के आवास को ग्राम कहते हैं।^२ मुख्य रूप से विप्रों के आवास को अग्रहार की संज्ञा दी गयी है।^३ अनेक जनसंबन्धी नाना शिल्पी क्रेता-विक्रेताओं से अधिष्ठित देवता संयुक्त स्थान को नगर कहा गया है।^४ द्वीपान्तर्गत द्रव्य क्रय-विक्रय करने वालों से अधिष्ठित स्थान को पत्तन कहते हैं।^५ नगर तथा पत्तन इन दोनों के मिले रूप को खर्वट बताया गया है।^६ सपरिवारक एक ग्रामणीक कुटिक होता है।^७ सभी वर्णों द्वारा समाकीर्ण

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १८.

२. “विप्राणां सभृत्यानां निवासो ग्रामः”—क. विमानार्चनकल्प, पटल ३;

ख. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १८; ग. समूर्तार्चनाधिकरण २/५४.

३. “विप्रश्रेष्ठनिवासस्तु सोऽग्रहार इतीर्यते”—

क. समूर्तार्चनाधिकरण २/५४; ख. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १४;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३.

४. क. सर्ववेदसमायुक्तं नृपसद्व्यसमन्वितम् ।

देशान्तरहतद्रव्यं क्रयविक्रयकादिभिः ॥

नानाजने समाकीर्णे नगरीत्युच्यते बुधैः । निरुक्ताधिकार ३.

ख. अनेकजनसंबाधमनेकशिल्पिक्रयकविक्रयकाधिष्ठितं सर्वदेवतासंयुक्तं नगरम् ।

—विमानार्चनकल्प, पटल ३.

५. उभयसंमिश्रं खर्वटम् । नगरपत्तनोभयलक्षणसंमिश्रम् ॥

—विमानार्चनकल्प, पटल ३; ज्ञानकाण्ड, अध्याय १४.

६. सपरिवारकैकग्रामणिकं कुटिकमिति—ज्ञानकाण्ड, अध्याय १४; विमानार्चनकल्प, पटल ३.

राजा के गृह से समायुक्त स्थान सेनामुख के नाम से जाना जाता है।^१ चतुरंग समाकीर्ण नरेश तथा उसके भृत्यों से युक्त स्थान को राजधानी की संज्ञा से अभिहित किया गया है।^२ वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ मयमत ने, दुर्ग, पुर, पत्तन, ग्राम, खर्वट, द्रोणमुख तथा खेटक आदि दस भेदों के साथ इनके विस्तृत लक्षणों का भी निर्देश किया है।^३ ग्रामादि के विविध भेद प्रतिपादित हैं— (१) दण्डक, (२) स्वस्तिक, (३) वर्धमान, (४) प्रस्तर, (५) प्रकीर्ण, (६) श्रीकाम (श्रीकर), (७) पराक, (८) पद्मक, (९) श्रीप्रतिष्ठित, (१०) श्रीवत्स, (११) वैदिक, (१२) नन्दावर्त तथा कुम्भक आदि। वीथि आदि संख्याओं के भेद के आधार पर भी दण्डकादि ग्रामों के लक्षण निरूपित हैं।^४ शुद्ध स्वस्तिक, श्रीवत्स, पद्मक तथा नन्दावर्त विप्रों के लिए; प्रकीर्णक, पराक,

१. सर्वजातिसमाकीर्ण नृपवेशमसमायुक्तं बहुगह्वरक्षाविधानं सेनामुखमिति ।

—ज्ञानकाण्ड, अध्याय १४; विमानार्चनकल्प, पटल ३.

२. चतुरस्रमाकीर्णा नृपतितद्भृत्यजुष्टा राजधानीति ।—ज्ञानकाण्ड, अध्याय १४.

निरुक्ताधिकार ३; विमानार्चनकल्प, पटल ३; समूर्तार्चनाधिकरण २/५५.

३. क. मयमतम्, अध्याय २; ख. पाद्मसंहिता, क्रियापद २/४-८.

४. श्रीवत्स के लक्षण—

राजमार्गत्रयोपेतं तिरश्चीनोऽथ वीथियुक् ।

पथेष्ट श्रीवत्समित्युक्तं वास्तुशास्त्रकृतश्रमैः ॥

तदेव मध्यमं हित्वा ब्रह्मभागे तु पार्श्वयोः ।

राजमार्गत्रयोपेतं बाह्यरथ्याचतुर्युतम् ॥

एतल्लक्षणसंयुक्तं पार्श्वयुक्तमुदान्वि(ह?)तम् ।

तदेव बाह्यरथ्याचतुर्युतम् ।

नाम्ना च भद्रकं चैव श्रीवत्सं पण्डितैरपि ।

पक्षयुग्मं महारथ्यामध्यमे पार्श्वयोरपि ॥

राजमार्गत्रयोपेतं तिरश्चीनौ.....।

एतै (?) द्वास्तुसंकलितं श्रीवत्समिति कथ्यते ॥ —निरुक्ताधिकार ३.

नन्दावर्त के लक्षण—

महारथ्या चतुर्युक्तं नाभिरथ्या समन्वितम् ।

नाभे (?) मङ्गलवीथ्यन्तं कोणेषु प्रोतवीथिषु ।

प्रोताद्बद्धो बाह्यरथ्यान्तं तयोरप्यन्तरेऽपि च ॥

चतुर्दिक्ष्वेकवीथीयुग्मं नन्दावर्तमुदाहृतम् ।—निरुक्ताधिकार ३.

श्रीप्रतिष्ठित, श्रीकर तथा कुम्भक क्षत्रियों के लिए; दण्डक, वैदिक, कटकामुख तथा प्रस्तर वैश्यों के लिए तथा शूद्र के लिए वर्धमान संज्ञा के ग्राम की स्वीकृति दी गई है। ग्राम के बाहर प्रशस्त वृक्षों के प्ररोहण की लम्बी सूची

पद्म के लक्षण—

बाह्यवीथ्या चतुर्युक्तं नाभिवीथ्या समन्वितम् ।
 पश्चिमाद्बाह्यरथ्यायाः प्रागन्तं नाभिवीथिकम् ॥
 उत्तरे कल्पयेत् तस्मान्मध्यमादुत्तमान्तकम् ।
 एकरथ्या समायुक्तं दक्षिणे नाभिवीथिकम् ॥
 पश्चिमे नाभिवीथ्यायाः प्रागन्तं कल्पमध्यतः ।
 दक्षिणे बाह्यरथ्यान्तम् एकरथ्या समन्वितम् ॥
 तथोरप्पन्तरे रथ्या वर्धयेच्च समावृतम् ।
 नाभे मङ्गलवीथ्यन्तं पूर्ववत् प्रोक्तवीथिकम् ॥
 द्वारं पूर्वोक्तवत् कुर्याद् एवं वै मणिपद्मम् ।
 केचिद्.....व्यधिकं वीथीं राजमार्गं च कारयेत् ॥
 भूयो विंशतिरथ्यादिकैकं वीथिकं क्रमात् ।
 सप्तविंशतिरथ्यान्तं त्रिंशदीनां विवर्धयेत् ॥
 एतद् वै वास्तुशास्त्रज्ञैः पण्डितैः पद्मकं त्विति ।—निरुक्ताधिकार ३
 अत्र नाभिमङ्गलवीथिभ्यां वेष्टितं चतुर्द्वारयुतमेतत् पद्मकमिति विशेषः, ज्ञानकाण्ड १५।

कुम्भक के लक्षण—

वृत्तमङ्गलवीथीयुक् सर्वाण्यन्यानि युक्तितः ।
 कल्पितं कुम्भकं प्रोक्तमेतेष्वपि विशेषतः ॥—निरुक्ताधिकार ३
 अत्र वृत्तैकवीथिकं कुम्भकमिति विशेषः, —ज्ञानकाण्ड १५

स्वस्तिक के लक्षण—

नैलानिलेशानलपुच्छकं दक्षिणादिचतुर्वीथिकं स्वस्तिकम् ।—विमानार्चनकल्प, पटल ३.
 तिर्यक् तिर्यक् समीकृता रथ्याश्चतुर्धा प्रोताः स्वस्तिकमिति विशेषः —ज्ञानकाण्ड १५.
 बाह्यरथ्या चतुर्युक्तं नाभिरथ्या समन्वितम् ॥
 नाभेर्मङ्गलवीथ्यन्तं (?) पश्चादुक्ताश्च वीथिकाः ।
 पश्चिमे नाभिवीथ्यास्तु तिर्यग् वै वीथिकाद्वयम् ॥
 दक्षिणे चोत्तरे बाह्ये रथ्यान्तं परिकल्पयेत् ।
 पश्चिमप्रोक्तरथ्याया एतद्वै वीथिकद्वयम् ॥
 उत्तरं प्रोतवीथ्यैस्तु दक्षिणान्तं तथैव च ।
 पूर्वात्पश्चिमरथ्यान्तं तथा वीथिद्वयान्वितम् ॥
 एवं लक्षणसंयुक्तं सर्वसंपत्करं भवेत् ।
 अचलं स्वस्तिकं चैव पद्मं परिचक्षते (?) ॥ —निरुक्ताधिकार ३

दी गयी है। निषिद्ध वृक्षों के नाम भी निर्दिष्ट हैं।^१ इससे ऐसा लगता है कि हमारे ऋषि-भुनि भविष्य में होने वाले पर्यावरण-प्रदूषण के प्रति पूरी तरह जागरूक थे।

ग्रामादि के लिए स्वीकृत भूमि को पाँच भागों में बाँट कर बाहर की ओर से एक भाग को छोड़ कर शेष चार भागों को क्रमशः (१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) मानुष तथा (४) पैशाच के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।^२ ग्रामादि-पदविन्यास संज्ञा पदपीठ, महापीठ, उपपीठ के लक्षण प्रतिपादित हैं।^३ इन चारों में से दैविक तथा मानुष भाग विप्रवास के लिए कहा गया है।^४ आचार्यवास-स्थान^५, अर्चक-आवासस्थान^६, कुलालाद्यावास-स्थान^७, सभागार-स्थान^८, गोष्ठगार-स्थान^९, बाजार-स्थान^{१०}, कूपादिस्थान^{११} तथा श्मशानस्थान का निर्देश है।^{१२} तालाब-निर्माण की विशद कल्पना की गई है। कहा गया है कि ग्राम के बाहर दूर वारुण्य दिशा में तालाब बारह हजार हाथ गहरे प्रमाणवाला मजबूत सेतुबन्ध कर बनाना चाहिए। हमेशा जल उपलब्ध रहे, इसके लिए जलयन्त्र लगाना चाहिए। जलाशय अवश्य होना चाहिए। सभी

१. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षान् प्रागादिषु चैत्यवृक्षान् प्ररोहयेत् । तत्स्पृष्टानिलप्रवेशात् समृद्धिर्भवति । अन्यथा न समृद्धिः । वारुणश्लेष्मातकनिम्बशाल्मलीनाग्नेयादिषु कोणेषु प्ररोहयेत् । शाल्मलीकिंशुककार्पासक्षीरिकण्टकिवृक्षान् ग्रामाभ्यन्तरे न प्ररोहयेत् शून्यत्वात् तेषाम् ।

—ज्ञानकाण्ड, १७.

२. निरुक्ताधिकार ३.
३. निरुक्ताधिकार २.
४. क्रियाधिकार २/६६.
५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २१.
६. विमानार्चनकल्प, पटल ३;
ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.
७. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.
८. विमानार्चनकल्प, पटल ३.
९. विमानार्चनकल्प, पटल ३.
१०. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.
११. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.
१२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.
विमानार्चनकल्प, पटल ३.

जन्तुओं के लिए जल की मूल है। इसलिए सभी प्रयत्नों द्वारा जलधारा सहित पर्याप्त जल जलाशय में भरना चाहिये।^१ ब्राह्मणगृह, क्षत्रियगृह, वैश्यगृह तथा शूद्रगृह का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।^२ (इनके विस्तृत विवेचन के लिए मेरा शोधपत्र देखा जा सकता है।^३) खिलाधिकार ने ग्राम के मध्यभाग में पञ्चमूर्तिमय हरि की स्थापना का विधान किया है।^४ भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए तत्तद् दिशा आदि का निर्देश इस प्रकार है—

देवता	स्थान
सूर्य	पूर्व तथा ईशान के मध्य में।
विघ्नराज	पूर्व तथा आग्नेय के मध्य में।
दुर्गा	दक्षिण तथा आग्नेय के मध्य में।
शास्ता	नैऋतकोण में।
स्कन्द	पश्चिम तथा वायव्य के मध्य में।
ज्येष्ठा	उत्तर तथा वायव्य के मध्य में।
भद्रकाली	ईशान कोण में
हर (शिव)	ईशान कोण में बाहर की ओर।

इन देवताओं के अर्चन से ग्राम में शान्ति होती है।^५ विमानार्चनकल्प में विभिन्न देवताओं के आलयों की स्थिति प्रतिपादित है। यहाँ पञ्चवीरों की स्थापना ग्राम के बाहर बताई गयी है।^६ पाञ्चरात्रागम में भी तत्तद्देवताओं के आलय, कल्पन, दिशा आदि का स्वरूप विस्तार से वर्णित है।^७ नगर में

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १८, १९.

३. वैखानसागमे वास्तुविधानम्, संस्कृतविद्या, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् २००५, पृ० २१०-२१८.

४. खिलाधिकार २/५३, ६७;
ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १७.

६. विमानार्चनकल्प, पटल २.

७. विमानार्चनकल्प, पटल २/३३-५७.

भिन्न-भिन्न देवताओं के आलयों की कल्पना का दिशा-निर्देश भी उपलब्ध है। तदनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—

देवता	स्थान
भास्कर	ऐन्द्र दिशा में।
बुद्ध	ऐन्द्र-पावक मध्य में।
दुर्गा	दक्षिण-नैऋत कोण में।
ईश्वर	ऐशान्य कोण में।
अर्हत्	नैऋत कोण में।
शास्ता	वास्तुबाह्य नैऋत कोण में।
भद्रकाली	ऐशान्य के मध्य में।
दुर्गा, लक्ष्मी तथा सरस्वती	राजागार में ^१

विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न देवताओं की आराधना निर्धारित है, जो निम्नवत् है—

ब्राह्मण	विष्णु, रवि, स्कन्द तथा सरस्वती
क्षत्रिय	गणेश, रवि, विष्णु तथा रुद्र
वैश्य	कुबेर, दुर्गा, श्री, सरस्वती
शूद्र	विष्णु, चन्द्रमा, इन्द्र, विनायक ^२

वास्तुदेवादि के आराधन के पश्चात् आलय-कल्पन से पूर्व बालालय-कल्पन का विधान वर्णित है। आलयनिर्माण की दो विधियाँ निर्दिष्ट हैं— सामृत तथा हारका^३ सामृत का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि बालालय में अर्चनकार्य विज्ञ जनों को सम्पादित करना चाहिए। राजा, ब्राह्मण तथा अमात्यजन सामृत के अधिकारी हैं, अर्थात् बालालय अवश्य बनवावें। यदि

१. अर्चनाधिकार २.

२. ज्ञानकाण्ड, अध्याय १९.

३. खिलाधिकार २/७५; वासाधिकार १.

ऐसा नहीं करते, तो विपदग्रस्त होंगे, उनकी मृत्यु भी हो सकती है।^१ अशक्त तथा दरिद्र लोग भक्तिमात्र साधन का सहारा लेकर हारकविधि अपना सकते हैं, अर्थात् बिना बालालय-निर्माण के देवालय निर्माण कर सकते हैं।^२ तरुणालय या बालालय का तात्पर्य वह देव-मन्दिर है, जिसमें देवालय-कल्पना की अवधि तक बालबिम्ब की स्थापना कर उसका अर्चन आदि करते हैं। ज्ञानकाण्ड में तरुणालयविधि के अवसर पर यह कहा गया है कि स्थावर बिम्ब की प्रतिष्ठा कर उसीमें देवाराधन करते हैं।^३ स्पष्ट है कि जब तक मुख्य देवालय का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक उस आलय स्थित बिम्ब की शक्ति तरुणालयस्थ बालबिम्ब में संक्रमित कर दी जाती है। पुनः संस्कार के अनन्तर प्रक्षिप्त शक्ति को प्रधान बिम्ब में स्थानान्तरित कर पूर्ववत् आराधना सम्पादित होती है। यहाँ पर भी निर्दिष्ट है कि देवालय के निर्माण में स्वेद, रुधिर आदि दर्शनदोष की शान्ति करनी चाहिए। ऐसा न करने पर महान् दोष होता है।^४ मूलालय के ऐशान्य तथा ऐन्द्र अथवा सोम भाग में तथा वायव्य या पश्चिम में बालालय बनाना चाहिए।^५

विभिन्न दिशाओं में बालालय-कल्पन के विभिन्न निमित्त भी बताये गये हैं—

दिशा	निमित्त
ऐन्द्र कोण में	महाभय की शान्ति
अग्निकोण में	धनलाभ
याम्य (दक्षिण) में	वृद्धिप्रदायक
नैऋतिकोण में	कर्मसिद्धि
वारुण (पश्चिम) में	सुखदायक

१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २१; समूर्तार्चनाधिकरण ४/३५-३६; यज्ञाधिकार ३१/३३-३४.
२. समूर्तार्चनाधिकरण ४/३७; ज्ञानकाण्ड, अध्याय २१; खिलाधिकार २/१०९.
३. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २५.
४. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २५.
५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २३; यज्ञाधिकार ५/२; समूर्तार्चनाधिकरण ४/२.
खिलाधिकार २/७५.७६; विमानार्चकल्प, पटल ४.

वायव्य कोण में	कर्मनाश
सौम्य (उत्तर) में	सर्वनाश
ईशानकोण में	दुःखनाश ^१

जहाँ तक बालालय के स्वरूप-विधान का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में कहा गया है कि कम से कम पाँच हाथ की ऊँचाई का बालालय होना चाहिए। इससे कम ऊँचाई हरि को रुचिकर नहीं है।^२ इसके विकल्प भी प्रतिपादित हैं।^३ कहा गया है कि नवहस्त का उत्तम, सप्तहस्त का मध्यम तथा पाँच हाथ उच्छ्राय वाला अधम की श्रेणी का होता है।^४ बालालय का स्वरूप आयताकार निर्दिष्ट है।

तरुणालय के लिए उपादानद्रव्य इस प्रकार मान्य है—मिट्टी या दारु का बना हुआ बालालय सर्वोत्तम स्वीकारा गया है।^५ इष्टका तथा शिला आदि द्रव्यों का पूरी तरह निषेध है।^६ बालालय को तृणादि से आच्छादन करने को कहा गया है।^७ यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पाञ्चरात्रागम में शिला तथा इष्टका का बना हुआ बालालय उत्तम तथा मध्यम माना गया है। मिट्टी तथा दारु का अधम तथा हीन कहा गया है।^८ जो सर्वथा किसी भी दशा में उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मुख्य देवालय का निर्माण हो जाने के पश्चात् बालालय के बने रहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। ज्ञानकाण्ड में स्पष्ट निर्देश है कि बालालय मात्र छः मास के लिए अथवा जब तक मुख्य देवालय का निर्माण न हो जाय, तभी तक के लिए विहित है। उसके पश्चात् बालालय-बिम्ब की शक्ति का ध्रुवबेर में

१. समूर्तार्चनाधिकरण ४/२-३; ज्ञानकाण्ड, अध्याय २५.

२. विमानार्चकल्प, पटल ४; पाद्मसंहिता, क्रियापाद ४/६.

३. निरुक्ताधिकार ५.

४. निरुक्ताधिकार ५.

५. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २३; समूर्तार्चनाधिकरण ४/३.

६. यज्ञाधिकार ५/६-८.

७. विमानार्चकल्प, पटल ४; ज्ञानकाण्ड, अध्याय २३.

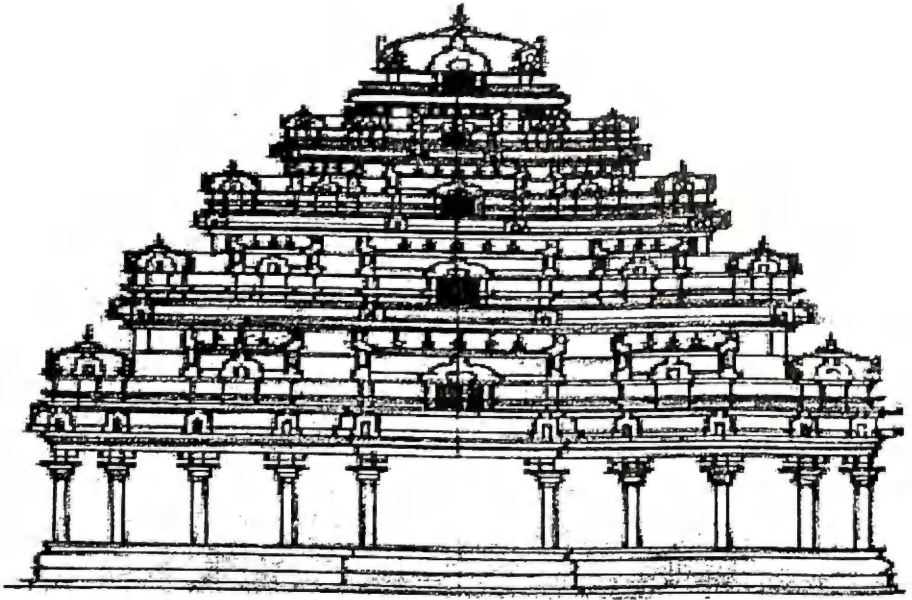
८. पाद्मसंहिता, क्रियापाद ४/२५-८; विष्णुसंहिता १३/७७-८७; श्रीप्रश्नसंहिता ६/३-६.

स्थानान्तरण कर पूर्ववत् देवाराधन सम्पादित करते हैं।^१ अस्तु, वैखानस आगम सम्मत बालालय की कल्पना पूर्णतया समुचित है।

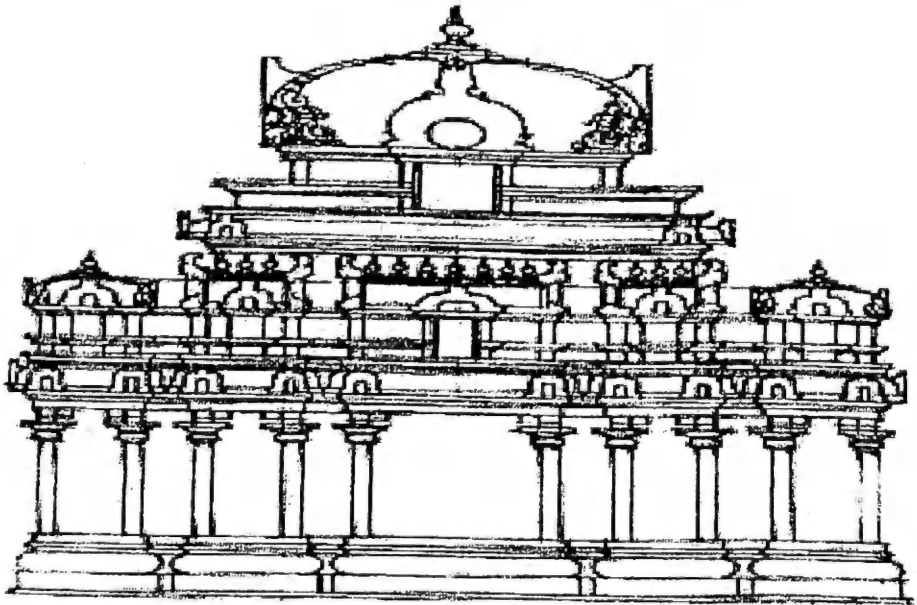
बालबिम्ब के उपादान-द्रव्यों की चर्चा करते हुए स्वर्ण, रजत, ताग्र तथा दारु प्रतिमा को संस्थापित करने को कहा गया है।^२ प्रतिमा प्रमाणमान को प्रतिपादित करते हुए सप्ताङ्गुल, नवाङ्गुल, एकदशाङ्गुल अथवा त्रयोदशाङ्गुल देवी सहित या रहित लक्षण युक्त प्रतिमा को संस्थापित करने उल्लेख है।^३ बालालय में अर्चनार्थ बालबेर प्रतिष्ठा की सम्पूर्ण विधि निर्दिष्ट है।^४ अन्त में बालालय में नित्यार्चन का निर्देश है।^५ साथ ही प्रतिष्ठान्त उत्सवाचरण का विधान भी विहित है।^६

वैखानसागम ग्रन्थों में नागर, द्राविड तथा वेसर भेद से सामान्यतः तीन तरह के देवालयों का स्वरूप उल्लिखित है।^७ नागर को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि यह शुरु से स्तूपिकान्त चतुरस्र होता है।^८ वेसर विमान वृत्तस्वरूप अथवा प्रस्तरान्त समचतुरस्र तथा उसके ऊपर वृत्त ग्रीवावाला कहा गया है।^९ महर्षि भृगुप्रोक्त प्रकीर्णाधिकार तथा यज्ञाधिकार में कण्ठप्रभृति वृत्तवाले को वेसर की संज्ञा प्रदान की गई है।^{१०} मरीचि ने द्राविड देवालय का

-
१. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २५.
 २. यज्ञाधिकार ५/६-८.
 ३. विमानार्चकल्प, पटल ४.
 ४. क. विमानार्चकल्प, पटल ४, ५; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ४/१९-३२;
ग. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २३; घ. निरुक्ताधिकार ५;
ङ. क्रियाधिकार ३/२३-३८.
 ५. यज्ञाधिकार ५/६-८.
 ६. क्रियाधिकार ३/२-३.
 ७. क. विमानार्चकल्प, पटल ४. ख. प्रकीर्णाधिकार ५/१७;
ग. यज्ञाधिकार ८/५५; घ. वासाधिकार १.
 ८. क. खुरादिस्थूपिकान्तं चतुरस्रं नागरम् — विमानार्चकल्प, पटल ७;
ख. प्रकीर्णाधिकार ५/१८.
 ९. विमानार्चकल्प, पटल ७.
 १०. क. कण्ठप्रभृति वृत्तं यद्वेसरं तत्प्रचक्षते—प्रकीर्णाधिकार ५/१९;
ख. यज्ञाधिकार ८/५८.



वैखानस आगम सम्मत विष्णु देवालय (संख्या-१)



वैखानस आगम सम्मत विष्णु देवालय (संख्या-२) साभार, वैखानस आगमकोश
(भाग १) राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, सन् १९९३

स्वरूप स्पष्ट नहीं बतलाया गया है। आरम्भ से स्तूपिकान्त चतुरस्र तथा ग्रीवा एवं शिखर अष्टाश्र आकृति को द्राविड विमान की मान्यता विद्वानों द्वारा प्रदान की गयी है।^१

वैखानसागम के क्रियाधिकार में शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत तथा सार्वकामिक ये—पाँच प्रकार के विमानभेद वर्णित हैं।^२ खिलाधिकार में विविध प्रकार के विमानों (आलयों) के लक्षणों का उल्लेख है—नलीनक, प्रलीनक, श्रियःस्थान, स्वस्तिक, नन्दावर्त, श्रीवृत्त, पर्वताकृतिक, महापद्म, नन्दीविशाल, विशाश्र, पूर्वरङ्ग विशाल, एकपाद, गणिकाशाला, कुबेरछन्द, वापी, प्रकृति, तोय, उत्पलपत्र, सिंहच्छन्द, सोमच्छन्द, मेनाकार, शालीकरण, कर्णिकाकार, श्रियोलंकार, कुम्भाकृति, गोधामुख, पिच्छावतंसक, चतुःस्फुट, हस्त्याकार, नागच्छन्द, वृषभच्छन्द तथा कूटाकार विमानों का लक्षण निरूपित है।^३

समूर्तार्चनाधिकरण में ब्रह्मा द्वारा निर्मित—(१) पद्माकार, (२) चित्रशिल्प, (३) पर्वताकृति, (४) चतुर्मुख, (५) ब्रह्मवृत्त, (६) प्रलीन, (७) गरुड तथा (८) ऊर्जालपत्रक विमानों का उल्लेख है। विष्णुनिर्मित विमानों में—(१) स्वस्तिक, (२) श्रीप्रतिष्ठित, (३) श्रीस्वस्तिक, (४) नन्दावर्त, (५) श्रियावृत्त, (६) महापद्म, (७) गान्धार तथा (८) उत्पलफुल्ल—निर्दिष्ट हैं। रुद्ररचित विमान—(१) वृषभाकार, (२) चतुष्पुट, (३) नन्दीविशाल, (४) पञ्चरा-मुख, (५) वृत्तसौभद्र, (६) सर्वतोभद्र, (७) वृषभछन्द, (८) उरगच्छन्द, (९) कोण्ड्यावृत्त तथा (१०) भूतवैहार हैं। इन्द्रनिर्मित—(१) अप्सरोमण्डप, (२) शुद्ध, (३) द्विव्य, (४) पञ्चवसन्त, (५) माहेन्द्र, (६) स्वस्तिवृत्त, (७) मायाबाहु, (८) उत्पल, (९) पङ्कलग्न, (१०) श्रीस्वस्तिक, (११) वापी, (१२) ब्रह्मसभा, (१३) उत्पलपत्रक, (१४) महापद्म,

१. वैखानसागमकोश, भाग १, पृ० २४५.

२. क. क्रियाधिकार ४/३;

ख. विमानार्चकल्प, पटल ७.

३. खिलाधिकार, अध्याय ६.

(१५) महाच्छन्द तथा (१६) देववृत्त-विमानों का उल्लेख है। शशिनिर्मित विमानों के नाम इस प्रकार हैं—(१) सोमछन्द, (२) सोमवृत्त, (३) बहुपत्र, (४) सुपौष्टिक, (५) श्रीवत्साकृति, (६) घोण, (७) छन्दवृत्त, (८) वेदिक, (९) सिद्धयोग, (१०) चतुर्वक्त्र, (११) कूटाकार, (१२) विलोकन, (१३) कुम्भाकार, (१४) गान्धार, (१५) तिलक, (१६) स्वस्तिक, (१७) शशिवृत्त, (१८) विशाल तथा (१९) बालेन्दुक। सनकादिनिर्मित विमानों का नामतः निर्देश निम्नलिखित है—(१) वेदिक, (२) वेदिवृत्त, (३) सोमघोण, (४) चतुर्मुख, (५) उपाहिक, (६) कीचक, (७) यानमग्नि, (८) छन्दोरग, (९) हस्तिपृष्ठ, (१०) नौवृत्त, (११) प्रमदालम्बक, (१२) त्रिवृत्त, (१३) ऋषभ, (१४) मयूर-वृत्त, (१५) त्रिकूट, (१६) शिल्पवृत्त, (१७) गोधाङ्ग, (१८) मण्डुक, (१९) परिभ्रामण-मस्तक, (२०) पाशिक, (२१) पङ्कलग्न, (२२) गगनेचर, (२३) शाहिक, (२४) रसवृत्त, (२५) निबृह, (२६) परिवृंहित, (२७) गान्धर्व, (२८) गगन, (२९) हरिच्छन्द, (३०) अनन्तक, (३१) वैनतेय, (३२) भूताकार तथा (३३) इलावृत्त। इस प्रकार ये विमान संख्या में ९६ कहे गये हैं।^१ नलीनक आलय विष्णु के लिए सर्वोत्तम कहा गया है।^२

ईशानदेव ने ९६ प्रकार के विमानों का उल्लेख मुनि अत्रि के अनुसार ही किया गया है, उनमें से ३० नाम समूर्तार्चनाधिकरण सदृश हैं। ईशानदेव ने यहाँ इनकी परिभाषा भी दी है।^३ दण्डी ने ललितालय गृहनिर्माण की योग्यता की प्रशंसा के सम्बन्ध में ९६ विमानों की चर्चा की है। राजधर्मकौस्तुभ में कुछ विमानों का विस्तृत वर्णन है। ये विमान ईश्वर तथा राजा दोनों के समान हैं। इनको प्रासाद कहते हैं।^४ विष्णुमन्दिर नलीनक को अनुकूल तीन तल का होना स्वीकृत है। दक्षिण भारत के बहुत से देवालय ९६ विमानों के अनुरूप ही हैं। विष्णु का मन्दिर 'उत्तरमेरु' तीन तल का है।^५ पाञ्चरात्रागम-

१. समूर्तार्चनाधिकरण ७/२१-४०.

२. नलीनकालयो विष्णोरुत्तमोत्तम एव तत्—समूर्तार्चनाधिकरण ७/२१.

३. ईशानदेवपद्धति, भाग ३.

४. समूर्तार्चनाधिकरण, भूमिका पृ० ११.

५. समूर्तार्चनाधिकरण, भूमिका पृ० ११.

ग्रन्थों ने भी विमान के विविध भेदों का वर्णन बताया है, जिनमें पाद्मसंहिता^१, भार्गवतन्त्रम्^२ तथा श्रीप्रश्नसंहिता^३ का उल्लेख किया जा सकता है। मुख्यतः तल तथा अधिष्ठान भेद से देवालयों की संख्या विस्तृत है। द्वितल से लेकर अष्टतलान्त तक विविध तलों वाले देवालयों के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।^४

देवालय-कल्पन-क्रम में आद्येष्टका-न्यास एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः वैखानस आगम के अनेक ग्रन्थों ने इस विषय का विवेचन किया है।^५ सच तो यह है कि आद्येष्टका के आधार पर ही तो सम्पूर्ण देवालय की स्थिति निर्भर करती है। अस्तु, अत्यन्त सावधानी के साथ वैष्णवागम-ग्रन्थों ने आद्येष्टकान्यास-विधि का वर्णन किया है। सर्वप्रथम प्रथमेष्टका काल का विचार किया गया है। जिसमें फाल्गुन, चैत्र, वैशाख मास उत्तम, श्रावण, आषाढ, कार्तिक मास मध्यम तथा शेष मास अधम कहे गये हैं।^६ प्रथम-इष्टका न्यास से सम्बद्ध इष्टका दो तरह की निर्दिष्ट है—(१) शिला तथा (२) मृण्मयी।^७ इष्टका बनाने की विधि विस्तार से प्रतिपादित है।^८ इष्टका-न्यास के बाद गर्भ-प्रक्षेपण का अवसर आता है, इसे गर्भन्यास भी कहा जाता है। गर्भन्यास के लिए सामान्य रूप से भूमि, पट्टिका, मस्तक, प्राकार, गोपुर, महानस तथा स्नपनालय स्थान स्वीकार किये गये हैं।^९ गर्भन्यासार्थ आवश्यक वस्तुओं में अनेक स्थलों से लाई गई मृत्तिका का उल्लेख प्राप्त

१. पाद्मसंहिता, क्रियापाद ८/१-९७.

२. भार्गवतन्त्रम् ३/१९-२०.

३. श्रीप्रश्नसंहिता ९/४-३८.

४. विमानार्चनकल्प, पटल १०.

५. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २९, ३०; ख. अर्चनाधिकार ४;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ६; घ. अगस्त्यसंहिता १.

६. विमानार्चनकल्प, पटल ६.

७. क. प्रकीर्णाधिकार ४/१-२;

ख. खिलाधिकार ४/१२.

८. क. ज्ञानकाण्ड, अध्याय २९; ख. निरुक्ताधिकार ६.

९. क. खिलाधिकार ५; ख. अर्चनाधिकार ५.

होता है यथा—समुद्र, नदी, पर्वत, तीर्थदेश, हृद, कुलीरवास, वल्मीक आदि।^१ अधोलिखित वस्तुओं के मूल भी ग्राह्य हैं—(१) उत्पलमूल, (२) पद्म-मूल, (३) कौमुद-मूल, (४) नीलोत्पल-मूल।^२ निरुक्ताधिकार में मूल के स्थान पर कन्द शब्द का प्रयोग किया गया है।^३ गर्भन्यासार्थ द्रव्यों में अधोलिखित रत्नों का परिगणन भी किया गया है—(१) वज्र, (२) मौक्तिक, (३) स्फटिक, (४) वैडूर्य, (५) शङ्ख, (६) पुष्पक, (७) चन्द्रमणि, (८) नील, (९) ब्रह्ममणि।^४ (१) मनःशिला, (२) हरिताल, (३) श्यामसीसक, (४) सौराष्ट्र, (५) रोचन, (६) गैरिक तथा (७) पारद—ये धातुएँ गर्भन्यासार्थ निर्दिष्ट हैं। इन सबके अतिरिक्त अधोनिर्दिष्ट वस्तुएँ गर्भभाजन में प्रक्षेपार्थ विहित हैं—(१) सुवर्ण, (२) रजत, (३) ताम्र, (४) पित्तल, (५) आयस, (६) लोहा।^५ इन गर्भप्रक्षेपार्थ वस्तुओं का परिगणन प्रायः इसी तरह पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।^६ गर्भन्यास का समय रात्रिकाल बताया गया है। फेलाकल्पन^७ (गर्भभाजनवाचक), फेलाशोधन^८, फेला-द्रव्यनिक्षेप^९ की क्रिया सम्पन्न की जाती है। गर्भन्यासाङ्ग होम सम्पादन^{१०} के अनन्तर—

अभ्यर्च्य मेदिनीं मुख्यां विष्णोर्देवीं वसुन्धराम् ॥

आत्मसूक्तं जपित्वैव जप्त्वा चैकाक्षरादिकम् ।

१. समूर्तार्चनाधिकरण १०/१-३, १०/८-९.

२. क. निरुक्ताधिकार ७; ख. विमानार्चनकल्प, पटल १३.

३. समूर्तार्चनाधिकरण १०/३-४.

४. क. समूर्तार्चनाधिकरण १०/५-६;

ख. विमानार्चनकल्प, पटल १३.

५. क. विमानार्चनकल्प, पटल १३; ख. पाद्मसंहिता, क्रियापाद ६/१-९.

६. समूर्तार्चनाधिकरण १०/३५.

७. क. विमानार्चनकल्प, पटल १३; ख. खिलाधिकार ५/१४-७;

ग. प्रकीर्णाधिकार ४/१९-२३.

८. क. निरुक्ताधिकार ६; ख. अर्चनाधिकार ५.

९. क. समूर्तार्चनाधिकरण १०/१७-३१;

ख. खिलाधिकार ५/६४-७६;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल १३.

१०. समूर्तार्चनाधिकरण १०/१२-१७. ।

विष्णोर्वीर्यमिति ध्यात्वा न्यसेत् तद्भावभावितम् ।।

मेदिनी देवीत्युक्तवैव गर्भं तत्रैव विन्यसेत् ।^१

इस मन्त्र के उच्चारण के साथ पूर्वोक्त द्रव्यों से युक्त गर्भभाजन को गर्त में रखकर गर्त को परिप्लुत किया जाता है। गर्भन्यास काल का भी वर्णन है।^२

गर्भन्यास के पश्चात् प्रासाद-कल्पन का अवसर आता है। समूर्तार्चनाधिकरण ने तीन हस्त परिमाण से आरम्भ कर पचास हाथ परिमाणोच्छ्रित एकभूमि (एकतल) से द्वादश तल-पर्यन्त आलय कल्पन का निर्देश किया है।^३ पाद्मसंहिता में एक भूमि से द्वादश भूमि-पर्यन्त आलय-कल्पन का विधान कहा है।^४ मरीचि ने विमानविवेचन-क्रम में (१) पादबन्ध, (२) पद्मबन्ध, (३) पुष्पबन्ध, (४) प्रियाम्बुज, (५) प्रतिबन्ध, (६) प्रतिक्रम, (७) कपोतबन्ध तथा (८) श्रीबन्ध—इन आठ प्रकार के अधिष्ठानों का पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रतिपादित किया है।^५ इस क्रम में शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अब्दुत, सार्वकामिक एक तल अधिष्ठानाद्युत्सेध, मान, विमान का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।^६ द्वितल आदि अष्टतलान्त विविध तलों वाले देवालयों का स्वरूप निरूपित है।^७ गर्भगृह, मुखमण्डप, कवाट, प्रस्तर, ग्रीवा, शिखर, नासिका तथा स्तूपी आदि विमानांगों का विस्तार से स्वरूप उल्लिखित है।^८ आलय-द्वारों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि पूर्वद्वार उत्तम होता है।^९ पश्चिम द्वार मध्यम^{१०} तथा उत्तर एवं दक्षिण द्वार का आलय अधम कोटि का^{११}

१. समूर्तार्चनाधिकरण १०/३९-४४.

२. खिलाधिकार ५/१०१-१०३.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ७/१-५, ११-१४.

४. पाद्मसंहिता, क्रियापाद ६/४६-४७.

५. विमानार्चनकल्प, पटल ८.

६. क. विमानार्चनकल्प, पटल ९; ख. क्रियापाद ४/९-१६.

७. विमानार्चनकल्प, पटल १०.

८. विमानार्चनकल्प, पटल ९, १३.

९. क. विमानार्चनकल्प, पटल २; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २/४७.

१०. क. समूर्तार्चनाधिकरण ९/४७; ख. खिलाधिकार २/६९.

११. क. समूर्तार्चनाधिकरण ९/४८; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २.

होता है। प्राग्द्वार सम्पत्ति देनेवाला, पश्चिम द्वार यशप्रदायी, दक्षिणद्वार जय देनेवाला तथा उत्तर द्वार ज्ञानदायक कहा गया है।^१

आलय में अन्ततः शिखाघट-स्थापन तथा उसके लिए स्तूपी-विन्यास का अवसर आता है, किन्तु उससे भी पहले मूर्धेष्टकान्यास किया जाता है। एतावता पहले यहाँ मूर्धेष्टकान्यास का सामान्य विचार उसके पश्चात् स्तूपीन्यासपूर्वक शिखाघट की चर्चा होगी। विमानार्चनकल्प में मूर्धेष्टका के स्थान पर समाप्तेष्टका शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ वस्तुतः यह अन्वर्थ कहा जा सकता है। इस इष्टकान्यास के अनन्तर प्रायः आलय के ऊपर इष्टका का कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता। शुभ मुहूर्त में शिलाओं या इष्टकाओं का स्नपन तथा पूजन कर विमान के उपरिस्थल में इष्टकाओं का आरोपण होता है।^३

मूर्धेष्टकान्यास के पश्चात् स्तूपी-कील करते हैं। इसका उपादानद्रव्य स्वर्ण, रजत या ताम्र का होना कहा गया है। लोह द्रव्य भी स्वीकार्य है।^४ स्तूपी-कीलवृत्त, चतुरस्र अथवा शिखराकार रूप में बनाये जा सकते हैं। काश्यपशिल्पशास्त्र तथा शिल्परत्न में इसके लिए स्तूपी-दण्ड संज्ञा दी गयी है।^५ स्तूपी-कीलों का अधिवासन किया जाता है। उसके पश्चात् सुधामालिप्य कर विष्णुसूक्त के द्वारा स्तूपीकील की स्थापना की जाती है। उसके अनन्तर शिल्पियों को बुलाकर सुधा के द्वारा स्तूपी को दृढ़ करते हैं।^६

स्तूपीन्यास के पश्चात् शिखाघट-स्थापन का विधान किया जाता है। विमान के ऊपर शिखाघट का स्वरूप आलय के अनुसार किया जाता है। वृत्त तथा चतुरस्र आलय पर समवृत्त शिखाघट, वृत्तायत आलय पर चतुरस्र शिखाघट निर्मित होते हैं। स्तूपीन्यास के बाद तुरन्त शिखाघट की स्थापना

१. विमानार्चनकल्प, पटल १९.

२. विमानार्चनकल्प, पटल १३.

३. विमानार्चनकल्प, पटल १३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ९, १३.

५. क. काश्यपशिल्पशास्त्र, अध्याय ४२;

ख. शिल्परत्न, अध्याय ३४.

६. क. विमानार्चनकल्प, पटल ११; ख. अर्चनाधिकार ७.

करनी चाहिये। शिखाघट नाना रत्नों तथा लोहों से परिपूरित होते हैं। घट का अग्र मुकुलाकार या दीपकार होना चाहिए। उसके नीचे सुमनोहर कमल का कल्पन निर्दिष्ट है।^१

देवालय निर्माण की प्रक्रिया के साथ-साथ आलय के प्रथम, द्वितीय आदि आवरणों के विधान के वर्णन को भी देखा जा सकता है।^२ आलय के निर्माण तथा प्राकार-कल्पन का उद्देश्य देवालय की रक्षा, मंगलार्थ एवं शोभा के लिए बताया गया है।^३ देवालय के अन्तर्गत बनाये जाने वाले मण्डपों की निर्माण-प्रक्रिया का भी निर्देश किया गया है।^४ ये मण्डप तीन प्रकार के कहे गये हैं। श्रीवत्स मण्डप उत्तम, स्वस्तिक मण्डप को मध्यम तथा पद्मक मण्डप को अधम बताया गया है।^५ महर्षि भृगु ने इन मण्डपों का लक्षण भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है।^६ महामण्डप का निरूपण विमानार्चनकल्प में निर्दिष्ट है।^७ सामान्य रूप से प्राकारों को गोपुर-युक्त होना कहा गया है। व्यावहारिक रूप से भी दक्षिण भारत के देवालयों में यह देखा जा सकता है। प्रायः सभी अच्छे मन्दिरों के प्राकार गोपुर-युक्त होते हैं। विमानार्चनकल्प में सात प्राकारों का निर्देश है।^८ यहाँ प्राकार-गोपुरों पर देवताओं की मूर्तियों का कल्पन भी निर्दिष्ट है। द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य तथा द्वारगोपुर—ये गोपुर के पाँच पर्याय हैं।^९ द्वारशोभादि मान का विस्तार से वर्णन है।^{१०}

-
१. पाद्मसंहिता, क्रियापाद ९/३०-४०.
 २. क. समूर्तार्चनाधिकरण ९/१२-१३, २५-२६;
ख. विमानार्चनकल्प, पटल ११;
ग. यज्ञाधिकार ९/१-३१.
 ३. विमानार्चनकल्प, पटल ११.
 ४. क. प्रकीर्णाधिकार ११; ख. निरुक्ताधिकार ११.
 ५. खिलाधिकार ७/६५-६६.
 ६. खिलाधिकार ७/६५-६६.
 ७. विमानार्चनकल्प, पटल ११.
 ८. विमानार्चनकल्प, पटल ११.
 ९. यज्ञाधिकार १०/१-२.
 १०. विमानार्चनकल्प, पटल ११.

आलय-कल्पन-प्रकार-वर्णन के प्रसंग में कुछ ग्रन्थों ने विमानतलों में कल्पनीय देवताओं का स्थान-निर्देशपूर्वक किया है। ये देवता विमान के उन-उन तलों एवं उन-उन दिशाओं में कल्पित होते हैं, इसका विशद विवेचन अनेक ग्रन्थों में निरूपित है।^१ वैखानसागमोक्त वैष्णवालयसप्तावरण-देवताओं का विवरण इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट में देखा जा सकता है। विमानदेवता-वर्णन के पश्चात् उसके (विमान) का वर्णलेप का विधान किया जाता है। यह विषय भी अनेक बार चर्चित है।^२

आलय के पूर्व दिक् में पुष्पावास, आग्नेय कोण में महानस तथा महानस से भी अग्निकोण में चुल्ली का स्थान बताया गया है। चुल्ली के पश्चिम में नित्याग्नि-आयतन का स्थान तथा नैऋत कोण में धान्यागार का स्थान कहा गया है। पश्चिम भाग में हेतिभवन तथा वायव्य कोण में कुसूल के लिए स्थान मान्य हैं। आलय के उत्तर में नर्तनस्थान तथा ईशानकोण में जल का स्थान स्वीकृत है। ये सब प्रथमावरण या द्वितीयावरण या तृतीयावरण में स्वेच्छानुसार बनाए जाने चाहिए। इसके इतर निम्नलिखित रूप से स्थानों का निर्देश किया गया है—

स्थान

द्वितीय, तृतीयावरण

ईशानकोण

उत्तर दिशा

आग्नेय कोण

नैऋत्य

पश्चिम आग्नेय

आवास

कूपस्थान

तडाग (तालाब)

गोष्ठागार

नृत्तमण्डप

विप्रभोजनस्थान^३

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल १२; ख. खिलाधिकार ७/३४-३९, ५६-६३;

ग. यज्ञाधिकार १०/२१-२६; घ. समूर्तार्चनाधिकरण ९/२९-३४.

ड. अर्चनाधिकार ९; (च) निरुक्ताधिकार ९.

२. पादसंहिता, क्रियापाद ९/४७-११९.

३. क. यज्ञाधिकार १०/९; ख. खिलाधिकार ७/११९-२०;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ९/३९; घ. विमानार्चनकल्प, पटल ११.

प्रकृत अध्याय में वैष्णव देवालय से सम्बद्ध जिन विषयों का विवेचन किया गया है, वे वैखानसागम ग्रन्थों में प्रायः समान रूप से ही प्रतिपादित हैं। इनका कहीं कुछ विस्तार, तो कहीं कुछ संक्षेप अवश्य है। यहाँ निर्दिष्ट विषयों का आधार शिल्पशास्त्र ही कहा जा सकता है, क्योंकि शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में जिस प्रकार नगरविन्यासादि की योजना के क्रम में देवालय-कल्पन का प्रतिपादन हुआ है, सामान्य रूप से आगमशास्त्र में भी उसी तरह वर्णित है। चूँकि आगमशास्त्र में देवालय विषय की प्रधानता के कारण कुछ सूक्ष्मता अवश्य है, पर मौलिक रूप से ये सारे विषय वास्तुशास्त्रीय ही हैं।





तृतीय भाग

- | | | |
|----------------|---|------------------------|
| प्रथम अध्याय | - | भगवत्प्रतिष्ठा |
| द्वितीय अध्याय | - | अर्चन, उत्सव एवं स्नपन |
| तृतीय अध्याय | - | दीक्षास्वरूप |
| चतुर्थ अध्याय | - | प्रायश्चित्त |



प्रथम अध्याय भगवत्प्रतिष्ठा

वैखानसागम-शास्त्रों ने मूर्ति-निर्माण, प्रासाद-कल्पन आदि विषयों के विवेचन के पश्चात् निर्मित देवालय में सलक्षण प्रतिमा की स्थापना तथा उसकी प्रतिष्ठा विषय का निरूपण किया गया है। इस प्रतिमा-प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवालय से सम्बद्ध विविध वस्तुओं की प्रतिष्ठा का भी स्वरूप वर्णित है। वर्तमान अध्याय में विग्रह की स्थापना तथा उसमें भगवत्प्रतिष्ठा विषय के विवेचन का प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रतिष्ठा शब्द प्रति उपसर्गपूर्वक 'स्था गतिनिवृत्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। वेदान्तदेशिकाचार्युलु के शब्दों में इसका तात्पर्य—“**सर्वव्यापकस्य परमात्मनः समूर्तौ भावनामन्त्रैश्च यो विशेषः सन्निधिः क्रियते, सा प्रतिष्ठेत्युच्यते बुधैः**” है।^१ वस्तुतः विविध उपादान-द्रव्यों से कल्पित प्रतिमा की प्रतिष्ठा के बिना कोई महत्त्व नहीं है। सभी कर्मों के द्वारा पूज्य देव के सकलीभूत स्वरूप का आधान कर के, पूजाहेतु उनके सकल गुणों तथा कर्मों के अनुसार उनकी पूजा के सम्पादनार्थ मूर्ति की स्थापना की जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि सर्वव्यापक, आकाश के समान विभु तथा निष्कल परमात्मा भक्ति के कारण भक्त के हृदय में सन्निहित हो जाते हैं। इस भाँति इस प्रकार से सम्पन्न परमात्मा की स्थापना मन्त्रोच्चार के साथ की जाती है; क्योंकि मन्त्र द्वारा स्थापित बिम्ब में वह (देव) सन्निहित हो जाता है। विष्णु की पूजा उस प्रतिष्ठित बिम्ब में विष्णुपद प्राप्त करने की दृष्टि से ही की जाती है। वैष्णवपद अत्यन्त उच्चतम पद है। अतः प्रतिष्ठा अवश्य करनी चाहिए।^२ बिना प्रतिष्ठा के मूर्ति देवत्व को नहीं प्राप्त कर सकती। वह दो प्रकार की होती है—सहप्रतिष्ठा तथा पृथक्-प्रतिष्ठा।^३ महर्षि कश्यप के अनुसार प्रतिष्ठा दो प्रकार की निर्दिष्ट है—

१. आगमसुभमा, राष्ट्रियसंस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपति, २००५, पृ० ७६.

२. ज्ञानकाण्ड ५९;

३. वासाधिकार ८.

१. सामृत तथा २. हारक। उन्हीं के शब्दों में—“पूर्वमेव सुपर्याप्तं भोगं कृत्वा बालागारे भगवन्तं प्रतिष्ठाप्य आरम्भं यत् तत् सामृतं भवति। बालागारं बिना विमानमात्रमेव स्वार्थैः, याच्ञालब्धार्थैश्च कृत्वा बेरादीन् प्रकल्पयेत् तद्धारकम् । इत्येतयोरेकम् आलम्ब्य आरभेत्” इति।^१

सामृत तथा हारक को क्रमशः मुख्य तथा गौण की संज्ञा प्रदान की है।^२ प्रतिष्ठा पाँच स्तरों द्वारा की जाती है—१. ईंटों का विन्यास, २. गर्भगृह का स्वरूपाधान, ३. मूर्धा पर ईंट का विन्यास, ४. ध्रुव की स्थापना तथा ५. महाप्रतिष्ठा, अर्थात् प्रधानमूर्ति की स्थापना।^३ इन पाँच प्रकार की प्रतिष्ठाओं में पाँच अग्नियों में हवन करना चाहिए। प्रतिष्ठा २५ अङ्गों वाली होती है। यथा—सर्वप्रथम अङ्कुरार्पण, दूसरा सामग्री का एकत्रीकरण तथा तीसरा अक्षिमोचन, बिम्बशुद्धि, अग्निमन्थन, वास्तुशुद्धि, कुम्भपूजा, कलशस्थापन, अग्निप्रतिष्ठापन, प्रतिसरबन्ध, शयनाधिवास, रत्नन्यास, कलान्यास, वैष्णवपूजन तथा उत्सवादि।^४

प्रतिमा प्रतिष्ठा-काल—फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, पुष्य तथा ज्येष्ठ मास में सूर्य के उत्तरायण होने पर ध्रुवबेर की प्रतिष्ठा उत्तम मानी जाती है। श्रावण, आश्वयुज, क्वार तथा कार्तिक मासों में सूर्य के दक्षिणायन होने पर प्रतिष्ठा मध्यम मानी जाती है तथा भाद्रपद तथा आषाढ का समय अधम माना गया है। मार्गशीर्ष तथा माघ मास में प्रतिष्ठा वर्जित है।^५ उत्तरा, रोहिणी, श्रवण, पुष्य, पुनर्वसु, स्वाति, हस्त, चित्रा, अनुराधा तथा आश्विन नक्षत्रों में की गयी प्रतिष्ठा उत्तम मानी जाती है। शुक्ल पक्ष तथा रिक्ता तिथियाँ प्रतिष्ठा हेतु वर्जित हैं। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया तथा पञ्चमी तिथियाँ प्रतिष्ठा में ग्राह्य हैं। सोम, गुरु, सौम्य (बुध) तथा काव्य (शुक्र) दिवस ग्राह्य हैं। चर तथा अचर करणों में आठों प्रकार की विष्टियाँ वर्ज्य हैं।

१. ज्ञानकाण्ड २१.

२. यज्ञाधिकार ३१/३७.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण २९/७२-७३;

ख. यज्ञाधिकार ३१/२८-२९.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ३३.

५. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

राशियों में चर राशि वर्ज्य है। नक्षत्रों में आर्द्रा, श्लेषा, मूल, कृष्णपक्ष की अष्टमी, उल्कापात, वज्रपात, दिग्दाह, धूलपात, असमय रक्त बादलों का आना, उपलवर्षा, व्यतीपातयोग, भूकम्प, अतिमारुत (आँधी), राजमरण (राज्यविप्लव) चन्द्र सूर्यग्रहण युक्त नक्षत्र तथा रात्रिकाल सर्वथा वर्जित हैं।^१ पाञ्चरात्रसंहिताओं में भी प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल का निर्देश देखते हैं।^२

अङ्कुरार्पण का विधान

प्रतिष्ठाकार्य प्रारम्भ होने के दिन से पूर्व ही नवें, सातवें, पाँचवें अथवा तीसरे दिन या तत्काल ही रात्रि के समय अङ्कुर अर्पण करने को कहा गया है।^३ यदि लग्नादि के कारण किसी दिन अधिक गुण प्राप्त होता हो, तो दिन में ही करना चाहिए।^४ मन्दिर के सामने ईशान कोण पर अथवा उत्तर दिशा में अङ्कुरार्पणशाला, कूप अथवा तडाग शास्त्रीय विधान से बनवाकर, गोबर से लीपकर श्वेत चावल के चूर्ण अथवा चूने के चूर्ण के द्वारा मध्य में चक्र बनाकर कुश तथा माला आदि से अलंकृत किया जाता है।^५ अङ्कुर अर्पण करने वाले पात्र सोने, चाँदी, ताँबे तथा मिट्टी के होने चाहिए।^६ यजमान यदि ब्राह्मण है, तो १६, क्षत्रिय है तो १२, वैश्य हो तो आठ तथा शूद्र हो चार होना चाहिए। सभी के लिए चार काली या मिट्टी के कलश ग्राह्य हैं।^७ द्वादश संख्या उत्तम, आठ संख्या मध्यम तथा चार संख्या को कुछ विद्वानों ने अधम माना है।^८ तत्काल उपलब्ध पात्र यदि उपयुक्त न हों, तो

१. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/१९-२६; ख. यज्ञाधिकार २३-१-१०.
२. क. नारदीयसंहिता १५/२-६; ख. जयाख्यसंहिता २०/१३१-१३२;
ग. पाद्मसंहिता, क्रियापाद २५/१-१६.
३. क. क्रियाधिकार ३७/१-३; ख. निरुक्ताधिकार २०;
ग. विमानार्चनकल्प, पटल २७; घ. यज्ञाधिकार २२/१-२;
ङ. ज्ञानकाण्ड ५८.
४. समूर्तार्चनाधिकरण २७/१-२.
५. प्रकीर्णाधिकार १०/२-८.
६. वासाधिकार ७.
७. क. विमानार्चनकल्प, पटल २६.
ख. खिलाधिकार १६/१८, २४-२५.
८. अर्चनाधिकार १४.

जल से धोकर तथा अग्नि में जलाकर उनको ग्रहण किया जा सकता है।^१ ताम्रपात्र से रजतपात्र श्रेष्ठ है, रजतपात्र से स्वर्णपात्र श्रेष्ठ है। असमर्थ होने पर ही मृत्तिकापात्र ग्रहण किया जा सकता है। थाली आदि पात्रों के ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश अधिष्ठाता देवता हैं।^२ अंकुरार्पण के लिए प्रशस्य अन्न हैं—धान, जौ, धानविशेष (ब्रीहि), मूँग, उड़द, प्रियंगु, गेहूँ, सर्षप, चणक (चना), तिलक, तिल्वक तथा मसूर। इनके न मिलने पर अन्य धान्य कूट कर, सुखा कर सार अंश को ग्रहण करे और उस दिन पूर्वाह्न में जल में भिगों दें।^३

यजमान आचार्य की विधिवत् पूजा कर, प्रणाम करे और 'अंकुरार्पण कीजिये' यह आग्रह करे। सभी भार आचार्य के चरणों में समर्पित करे। आचार्य भी 'वह कर्म मैं सम्पादित करूँगा', यह संकल्प करता है।^४ रात्रिपूजा के अन्त में देव की विशेषपूजा करके प्रणाम कर कार्य का निवेदन कर आज्ञा प्राप्त कर कार्यारम्भ करता है।^५

मण्डप के अन्दर स्तम्भादि के अधिदेवता धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य चार रूपों वाले करके मण्डप के मध्य में स्थित ब्रह्मा के साथ-साथ चतुर्दिक् स्थित ईश, पर्जन्य, जयन्त आदि चौबीस देवों की पूजा करे। शेष का जयन्त के साथ, आदित्य का वक्रतुण्ड के साथ, गृहक्षत के साथ गरुड का, गन्धर्व के साथ चक्र का, सुग्रीव के साथ पङ्क्तीश का, असुर के साथ भूतेश का, सोम के साथ अंकुराधिप का, अर्गला के साथ शान्त का पीठ स्थापित करे। मध्य पद में ब्रह्मा के साथ शेषादि देवताओं की पूजा कर, ब्रह्मा के चतुर्दिक् आठों दिशाओं में जया, विजया, नन्दा आदि आठों अप्सराओं की अर्चना करने के उपरान्त, मिट्टी उठाकर, कांस्यपात्र में यजमान के शिर पर रखकर ग्राम तथा आलय की प्रदक्षिणा का विधान किया जाता है।^६

१. अर्चनाधिकार १४.

२. क. विमानार्चनकल्प, पटल २६; ख. क्रियाधिकार ३७/६.

३. वासाधिकार ७.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल २६; ख. ज्ञानकाण्ड ५८.

५. क. प्रकीर्णाधिकार ११/११-१४; ख. क्रियाधिकार ६/४६-४७.

६. क. ज्ञानकाण्ड ५८; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २६.

सोम के समक्ष धान्यपीठ पर नये पात्र में जल भरकर, वस्त्र से आवेष्टित कर, सुवर्ण निक्षिप्तकर (पीठ पर), अंकुराधिप सोम (चन्द्रमा) का आवाहन कर, पूजा करे, हवि आदि निवेदित करे, कटोरों को मिट्टी अथवा गोबर के कण्डे से भरकर, वस्त्र से आवेष्टित कर, विष्णुगायत्री के द्वारा स्थापित करे। मिट्टी के कसोरे में मेदिनी, घड़े के छिद्र में राका, शराव (थाली या कटोरे में) सिनीवाली, की अभ्यर्चना करे तथा हवि निवेदित करे। कांस्य पात्र में बीजों को घोटकर, दुग्ध से सींचकर सोम के समक्ष उनमें सोम की अभ्यर्चना करे। पुण्याहवाचन, तूर्यघोष सहित विष्णुसूक्त का जप करते हुए बीजों का वपन करे। वरुणसूक्त के मन्त्रों से उनपर जल से सिंचन करे। सभी तथा शूद्र यदि अंकुरार्पण करावें तो उससे वपन न करावे। आचार्य ही वपन करे।^१

अंकुरों के अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा हैं।^२ काले, लाल, तिरछे तथा अंकुरित न होने वाले अंकुर वर्जित हैं, (क्योंकि) क्रम से द्रव्यनाश, कलह, रोग तथा मरण उसका फल होता है। पीले, श्वेत, सीधे, ऊर्ध्वगामी शुभ होते हैं।^३ नित्य त्रिकाल, द्विकाल अथवा एक बार सोम की पूजा कर हविष्य निवेदन उत्तम होता है। दीपार्चन मध्यम तथा बिना दीप के कुम्भ का अर्चन अधम होता है।^४ प्रतिदिन जल से सींचकर अंकुरों की रक्षा करे। कर्म के अन्त में जल अंकुरों को निश्चित करे। यदि शीघ्रता के कारण यजमान यह करने में असमर्थ हो तो सद्यः ही उक्त सभी क्रिया करके अंकुरों का वपन करे। इस भाँति अंकुरार्पण करने से देव प्रसन्न होते हैं।^५

बेर प्रतिष्ठा में आचार्यादि का नियम

अंकुरार्पण के पश्चात् स्नान, ब्रह्मयज्ञोपवास कूष्माण्ड होमादि के द्वारा

-
१. क. विमानार्चनकल्प, पटल २६;
ख. समूर्तार्चनाधिकरण २६/२९;
ग. यज्ञाधिकार २२/४७.
 २. समूर्तार्चनाधिकरण २६/३९.
 ३. समूर्तार्चनाधिकरण २६/३१-३४.
 ४. विमानार्चनकल्प, पटल २६.
 ५. क. प्रकीर्णाधिकार १०/७१-७६; ख. ज्ञानकाण्ड ५८.

त्रिषवणस्नान, हविष्यान्न भोजन, दन्त-नख शोधन आदि के द्वारा आचार्य स्थिर चित्त हो।^१ इसी भाँति ऋत्विक् भी प्रतिदिन एक सहस्र सावित्री का जपकर स्त्रीशूद्रादि से भाषण तथा उनका साथ छोड़कर जितेन्द्रिय होवे। यजमान भी एक सहस्र प्राणायाम करे। यजमान भी कृच्छ्रादि व्रत करके हविष्यान्त भोजी होकर जितेन्द्रिय हो जाय।^२

प्रतिमा-प्रतिष्ठा हेतु सामग्री का संग्रहण

आचार्य स्नान करने के उपरान्त नित्य कर्म से निवृत्त होकर सम्भार का संग्रह करना निर्दिष्ट है।^३ ध्रुवबेर हेतु द्रव्यादि चारों वर्णों के लोगों से तथा अनुलोमों से जो भक्तिमान् हों, ग्रहण करना चाहिए। प्रतिलोम का द्रव्य ग्राह्य नहीं है।^४ यागादि के उपकरणभूत सुवा आदि के योग्य वृक्ष पलाश, विल्व, खदिर तथा अश्वत्थ आदि हैं।^५ सुवा दो बालिशत (बित्ते) का होना चाहिए। कुछ लोग एक ही बित्ते का मानते हैं।^६ सुवे में ही सुक् (चम्मच वाला भाग) करे।^७ इसी भाँति जुहू तथा उपजुहू-दर्वी (कलछुल) दो ताओं में करे। उपभृत् बित्ते भर का ही हो। अग्निहोत्रवर्णी छब्बीस अङ्गुल की होनी चाहिए।^८ अरणि, कुश, माला, तोरण, वस्त्र, सुवा आदि यज्ञपात्र तथा जलपात्र (कारक-संन्यासी का जलपात्र) वैखानससूत्र में वर्णित विधान से अग्निष्टोमादि की भाँति विधिपूर्वक बनवावे।^९

अरणि के लिए शमीजा अश्वत्थ, अर्थात् शमी वृक्ष में उगा हुआ पीपल, उसके अभाव में अन्य अश्वत्थ अथवा शमी ग्राह्य है।^{१०} दोनों पट्टिकाएँ भी

१. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/२७-३१; ख. वासाधिकार ८; ग. यज्ञाधिकार २५/४०-४२.
२. क. विमानार्चनकल्प, पटल २६; ख. ज्ञानकाण्ड ५९; ग. क्रियाधिकार ६/५७-५८.
३. यज्ञाधिकार २३/१९.
४. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/२७-३१; ख. निरुक्ताधिकार २८.
५. क. खिलाधिकार १६/५३; ख. ज्ञानकाण्ड ६१.
६. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/४४-४९. ख. प्रकीर्णाधिकार ११/२६-२७.
७. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/४९-५१.
८. क. विमानार्चनकल्प, पटल २९; ख. खिल्वधिकार १६/६२-६९; ग. ज्ञानकाण्ड ६१.
९. यज्ञाधिकार २४/२६-२७.
१०. क. विमानार्चनकल्प, पटल २९; ख. वासाधिकार ८.
- ग. समूर्तार्चनाधिकरण २७/३४-३५.

चौबीस अंगुल लम्बी, छः अंगुल चौड़ी तथा दो गोलक ऊँची बनावे।^१ मन्थन करने वाला दण्ड दो नाता (हथेली लम्बा) दश अंगुल चौड़ा बनावे। उसमें खदिर की लकड़ी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। ताम्र अथवा लोहे का प्लेट उसकी जड़ में बाँधकर रखे।^२ यह गोलक की चौड़ाई का होना चाहिए। मूँज या नारियल की जटा से तीन बार लपेटकर बनाई गयी रस्सी को मन्थन के लिए बनावे।^३ यक्ष के हेतु कपास आदि के वस्त्रों का प्रयोग करे। वे द्वादश हाथ, दश हाथ तथा आठ हाथ, तीन प्रकार के हों। पाँच, चार तथा तीन बित्तों का क्रमशः होना चाहिए। वे वस्त्र श्वेत तथा नवीन होने चाहिए। फटे अथवा जीर्ण वस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिये।^४ दश, नव आठ हाथ अथवा द्वादश, अष्ट, सप्त, षड् हस्त वा अथवा अन्य नाप का वस्त्र भी ग्राह्य है।^५ यज्ञ में कपिला गौ का घृत आदि हव्य शुभ माने जाते हैं।^६ बकरी तथा भैंस का दूध इसके लिए उपयोगी नहीं है। प्रतिलोम तथा अन्त्यज जाति के गव्यादि अथवा मास से अधिक के गव्य ग्राह्य नहीं हैं।^७ तुरन्त दुहा गया दुग्ध श्रेष्ठ माना जाता है।^८

सभ्य संस्कार में पलाश की लकड़ी, पौण्डरीक में बिल्व की लकड़ी उपयोगी होती है। पलाश की समिधा पूर्व में, खदिर की दक्षिण में, शमी की पश्चिम में, विल्व की उत्तर में, अश्वत्थ की अग्निकोण में, प्लक्ष (पाकड़) की नैऋत्य कोण में, वट की वायव्य कोण में, उदुम्बर (गूलर) की ईशान कोण में ग्राह्य है।^९ इसके अतिरिक्त अपामार्ग (चिचिंटी) की समिधा भी शुभ है। नदी के किनारे, वन में तथा उद्यान में समिधा ग्रहण करनी चाहिए। समिधाएँ द्वादश अंगुल मात्र की ही होनी चाहिए।^{१०}

१. क. खिलाधिकार १६/४९-५०; ख. खिलाधिकार १६/४९-५०;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण २७/३६-३९.

२. प्रकीर्णाधिकार ११/३९-४२.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल २९; ख. अर्चनाधिकार १९.

४. समूर्तार्चनाधिकरण २८/११-१३.

५. क. प्रकीर्णाधिकार ११/४५; ख. वासाधिकार ८.

६. क. प्रकीर्णाधिकार ११/४६; ख. ज्ञानकाण्ड ६१.

७. वासाधिकार ८.

८. समूर्तार्चनाधिकरण २८/३१.

९. अर्चनाधिकार १९.

१०. समूर्तार्चनाधिकरण २८/१२.

इध्म ३२ अंगुल का होना चाहिए।^१ प्रत्येक होम में १०८ समिधाएँ होनी चाहिए। सभ्य संस्कार में १ सहस्र तथा अम्ल होम में सात समिधाएँ होनी चाहिए।^२ कण्टक से युक्त, कृमि द्वारा खाई गई, पतली, मोटी तथा पुरानी समिधा का त्याग करना चाहिए। महापथ (राजपथ अथवा श्मशानपथ), श्मशान, पक्षी का आवास, सर्प का आवास समिधा ग्रहण करने योग्य स्थान नहीं हैं। इनसे समिधा नहीं ग्रहण करनी चाहिये। पीड़ित (रुग्ण), अपवित्र, नीच जाति वाले व्यक्ति समिधा ग्रहण करने (एकत्रित) के अयोग्य हैं। इनसे समिधा ग्रहण नहीं कराना चाहिए। कण्टकयुक्त समिधा से ग्राम का नाश, छिद्रयुक्त से स्वामी का नाश, शुष्क से दरिद्रता, कृमि द्वारा खाये गये से इष्ट का नाश, चींटी द्वारा छिद्र किये गये से चर्मदोष, दीर्घ से मृत्यु तथा छिलका-रहित से दुर्बलता होती हैं। यहीं इनका क्रमिक फल है। व्याधिपीड़ित द्वारा लाई गयी समिधा से हवन करने पर व्याधि प्राप्त होती है; तस्कर द्वारा लाई गयी से दुर्भिक्ष (अकाल), जीर्णालय से (टूटे फूटे पुराने घर से) लायी गयी समिधा रोग तथा आतुर और अपवित्र द्वारा लायी गयी से अनावृष्टि का भय होता है।^३ उक्त लक्षणों वाली सभी समिधाओं के न मिलने पर पलाश अथवा अश्वत्थ का उपयोग करना चाहिए।^४ इध्म भी जीव, कण्टक तथा लेपादि से रहित सूखी ही ग्रहण करनी चाहिए। गीली, धूवाँ करने वाली, दुर्गन्ध देने वाली निम्ब आदि खराब समिधाएँ वर्जनीय हैं।^५

होम हेतु सभी प्रकार के माप अंगुलियों से करना चाहिए। अग्रभाग सहित सीधे (बिना बीच में विकृत हुए) दर्भ या कुश घास द्वारा ग्रथित कर, ३६ अंगुल की जिसमें अग्रभाग सहित दश तथा पाँच कुश समाहित हों, उनकी परिस्तरण कूँची बनावे। अग्रभागयुक्त दश प्रकार के कुशों का आहरण करो।^६ प्रोक्षण के लिए हाथ भर की कूँची, पवित्री के लिए १२ अंगुल की

१. अर्चनाधिकार १९.

२. क. खिलाधिकार १६/७१; ७२ख

ख. अर्चनाधिकार १९.

३. अर्चनाधिकार १९.

४. क. ज्ञानकाण्ड ६१; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २८/२.

५. समूर्तार्चनाधिकरण २८/१०-११.

६. समूर्तार्चनाधिकरण २८/६, ३, ४.

कूँची, परिस्तरण कूँची के समाने ही परिधि वाली होनी चाहिए।^१ होम के लिए दूध, घी तथा दधि की व्यवस्था होनी चाहिए।^२ प्रणिधि आधे प्रस्थ मात्रा की तथा घृतथाली पूर्णप्रस्थ मात्रा की भी होनी चाहिए। प्रोक्षणीपात्र भी वैसा ही होना चाहिए। दो प्रस्थ का चरुपात्र तथा दो प्रस्थ की पात्र योग्य थाली होनी चाहिए।^३ सूत्र में उल्लिखित विधि के अनुसार परिस्तरणादि का समायोजन करने का निर्देश है।^४

द्रव्यहीन प्रतिष्ठा कराने से ग्राम, यजमान की तथा उनके द्रव्य की भी हानि होती है। क्रियाहीनप्रतिष्ठा पुण्य का नाश करती है। श्रद्धा तथा भक्ति रहित प्रतिष्ठा से सभी की हानि होती है। मन्त्रहीन होने से शुभ कार्य, मन्त्र तथा अध्ययन सभी की हानि होती है। इसलिए सभी प्रकार से प्रयत्न करके सभी कुछ पूरा करने को कहा गया है।^५

प्रतिष्ठा हेतु यज्ञशाला निर्माण

आलय के समक्ष, दक्षिण दिशा में, ईशान कोण में, वायव्य कोण में या उत्तर दिशा में यज्ञशाला का निर्माण किया जाना चाहिए।^६ इसमें सोलह खम्भे होने चाहिए और प्रत्येक खम्भों के मध्य में चार हाथ की दूरी होनी चाहिए। छत की ऊँचाई पाँच हाथ होनी चाहिए। यज्ञशाला चौकोर तथा चार द्वारों वाली और दर्शनीय बनानी चाहिए। अथवा जिस प्रकार की प्रपा (जलाशय) हो, उसी प्रकार की होनी चाहिए।^७ यज्ञशाला के चारों द्वारों को तोरण से सजाया जाना चाहिए। पूरब में अश्वत्थ से, दक्षिण में गूलर से, पश्चिम विल्व से तथा उत्तर में तटवृक्ष से क्रमशः तोरण का निर्माण किया

१. समूर्तार्चनाधिकरण २८/५, ६.

२. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण २८/७, ८.

ख. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

४. वासाधिकार ८.

५. क. समूर्तार्चनाधिकरण २८/३३-३५; ख. ज्ञानकाण्ड ६१; ग. निरुक्ताधिकार २८.

६. क. समूर्तार्चनाधिकरण २८/३७-३८; ख. ज्ञानकाण्ड ६२; ग. अर्चनाधिकार १५.

घ. निरुक्ताधिकार २८; ङ. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

७. क. वासाधिकार ८; ख. ज्ञानकाण्ड ६२; ग. विमानार्चनकल्प, पटल २९;

घ. यज्ञाधिकार २५/२-३.

जाना चाहिए। बगल के प्रवेश द्वारों में अथवा मध्य में शङ्ख अथवा चक्र के आकार का निर्माण किया जाना चाहिए। मध्य में पुण्ड्र (सम्भवतः कमल), कुम्भ तथा शूल बनाना चाहिए। वटवृक्षादि के न मिलने पर अश्वत्थ से ही कार्य सम्पादित करे। पाँच हाथ ऊँचा, $2\frac{1}{3}$ हाथ चौड़ा, चार हाथ चौड़ा या तीन हाथ चौड़ा (यज्ञशाला) के मध्य में, केहुनी मात्र त्रिशूल से युक्त वेदरूपों का ध्यान करके तोरणों को अश्वत्थ, गूलर तथा पाकड़ द्वारा चारों दिशाओं में चारों वेदों के प्रथम मन्त्र (अग्निमीळे, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्न आपाहि, शन्नो देवी) का उच्चारण किया जाता है।^१ यज्ञ द्वारा स्थापित शाला में कुश की मालाएँ टाँगनी चाहिए। दो-दो कुशाओं को बीच-बीच में दो तालमात्र लटकाने के लिए रखकर उनके आधे के शेष भाग द्वारा रस्सी लपेट दिया जाता है। दर्भमाला पिशाच, दैत्य, राक्षस, ग्रह नक्षत्र, तारा आदि से सर्वत्र सदा रक्षण करती है।^२

यज्ञशाला को गोबर से लीपकर पाँच रङ्ग के नानावस्त्रों, कदली स्तम्भ, सुपारी वृक्ष, पूर्णघट, मुक्ता, रस्सी, ध्वज, दीप तथा कुश की माला से सुसज्जित करे। सभी द्वारों को वितान आदि से विभूषित करे। दीप किरणों से, फूलों की माला आदि से सजाकर, अक्षत विकीर्ण कर वाद्य ध्वनियों सहित अलंकृत किया जाता है।^३ उत्तर दिशा में बेर की स्नान-वेदिका का निर्माण किया जाता है।^४ ईशान कोण में छेद करके उत्तर में स्नान जल के निकलने की व्यवस्था करे। आहवनीय की भाँति पीठ के चतुर्दिक् दो वेदिकाओं सहित चार अंगुल चौड़ी स्नान-नलिका होनी चाहिए।^५

१. क. वासाधिकार ८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २७/६३-६६;

ग. ज्ञानकाण्ड ६२; घ. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

२. क. समूर्तार्चनाधिकरण २७/६७-७१;

ख. खिलाधिकार १६/७८-८३.

३. क. अर्चनाधिकार १५; ख. यज्ञाधिकार २५/२१-२४;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

४. अर्चनाधिकार ११.

५. क. वासाधिकार ८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २९/४४-४६;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३०.

यज्ञशाला के मध्य में चारों दिशाओं में चार हस्त लम्बी और दो ताल ऊँची चौकोर वेदिका का निर्माण विग्रह के शयन के लिए किया जाना चाहिए। नैऋत्य कोण में एक दो हस्त लम्बी तथा उतनी ही चौड़ी चौकोर वेदिका का निर्माण विग्रह के अलंकरणार्थ तैयार की जानी चाहिए।^१ या गोपकारणों के रखने के लिए वायव्य कोण में, चार हस्त लम्बी तथा चार हाथ चौड़ी, उन्नत वेदिका का निर्माण किया जाना चाहिए। शय्यावेदि के चतुर्दिक् सभी देवताओं में अर्चन का स्थान होना चाहिए।^२ वहीं पर सात अंगुल (अंग्रेजी वाले में ८ अंगुल) ऊँचा श्रीवत्स, जलकुम्भ, भेरि मछली का जोड़ा, अंकुश, शंख, आठ रूपों वाले मंगलचिह्न बनाने चाहिए। फलक (फर्श) के मध्य में शंख, चक्र, गदा, धनुष तथा खड्ग का रंगीन चित्र बनाने का विधान विहित है।^३

ब्रह्मा ने पाँच प्रकार की अग्नियों की सृष्टि कर उन्हें पञ्चलोकों में स्थापित किया। पूरब में आहवनीय की रचना कर उसे स्वर्ग में प्रतिष्ठित किया। दक्षिण में अन्वाहार्य अग्नि की रचना कर उसे अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित किया। पश्चिम में गार्हपत्य अग्नि की रचना कर उसे भूमि (भू-मण्डल) में प्रतिष्ठित किया। उत्तर में आवसथ्य की सृष्टि कर उसे महर्लोक में प्रतिष्ठित किया, सभ्य-अग्नि जनलोक के लिए प्रदान की।^४ इसी भाँति वायु तथा विष्णुमूर्तियों की भी पाँच रूपों में रचना की। मध्य में विष्णु, पूर्व में पुरुष, दक्षिण में सत्य, पश्चिम में अच्युत तथा उत्तर में अनिरुद्ध की प्रतिष्ठा की।^५

१. क. वासाधिकार ८;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण २८/४१-४३;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल २९, ३०.

२. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३०;

ख. प्रकीर्णाधिकार ११/५४-५५;

ग. वासाधिकार ८.

३. क. यज्ञाधिकार २४/२८-३१; ख. वासाधिकार ८;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल २९.

४. क. ज्ञानकाण्ड ५;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण २९/१४-१६, ६१-६२;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३०.

५. क. समूर्तार्चनाधिकरण २९/६५-६८, ७०-७१; ख. ज्ञानकाण्ड ६२.

ब्रह्मा ने ब्रह्मचारियों के लिए एक, गृहस्थों के लिए त्रेता (तीन) तथा वानप्रस्थों के लिए पञ्चाग्नि की रचना की।^१

सभ्याग्नि के विष्णु, आहवनीय के पुरुष, अन्वाहार्य के सत्य, गार्हपत्य के अच्युत तथा आवसथ्य के अधिदेवता अनिरुद्ध हैं।^२ यागशाला में शयनवेदिका के पूरब में पञ्चाग्नि अथवा एक सभ्याग्नि की स्थापना करे।^३ पुण्डरीक के साथ पञ्चाग्नियाँ उत्तम मानी गयी हैं। पौण्डरीकाग्नि के साथ सभ्य नामक एक अग्नि हो, तो उसे अधम माना जाता है।^४ अग्निहोत्र में 'हो' शब्द दुःख वाचक है, अर्थात् जो कुछ अग्नि में हवन किया गया है, वह होता को नरक के कष्ट से बचाता है। इसी हेतु अग्निहोत्र नाम सार्थक है।^५

यज्ञशाला में ब्रह्मांश के तृतीयांश में सभ्य कुण्ड की स्थापना करनी चाहिए। उसके पूरब में आहवनीय, दक्षिण में अन्वाहार्य, पश्चिम में गार्हपत्य और उत्तर में आवसथ्य का निर्माण किया जाना चाहिए।^६ वेदिकानिर्माण हेतु काँटे, कंकड़ी, भूसी, जली लकड़ी का कोयला, सूखी घास तथा भस्म आदि नहीं होनी चाहिए। मिट्टी तथा बालू से ही कुण्ड का निर्माण किया जाना चाहिए।^७

गृहपति के द्वारा धारण की जाने वाली होने के कारण अग्नि का नाम गार्हपत्य है। शय्यावेदि के पश्चिम में साढे अठारह अंगुल का गोलाकार कुण्ड गार्हपत्य के लिए बनाया जाना चाहिए। इसके निर्माण के लिए दो ऊँची वेदियों का निर्माण किया जाना चाहिए। गार्हपत्य की आधारभूत भूमि गोलाकार होती है। इसलिए उसका कुण्ड भी गोलाकार ही होता है।^८

आहवनीय अग्नि के साथ ही ले आने के कारण दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्य कहते हैं और दक्षिण में प्रतिष्ठित होने के कारण दक्षिणाग्नि कहते

१. ज्ञानकाण्ड ५.

२. समूर्तार्चनाधिकरण २९/६८-७०.

३. क. अर्चनाधिकार ११; ख. समूर्तार्चनाधिकरण १४/४.

४. यज्ञाधिकार २५/२६-२९.

५. समूर्तार्चनाधिकरण २९/४९-५०.

६. समूर्तार्चनाधिकरण २९/११-१२.

७. क. प्रकीर्णाधिकार ११/६०-६१; ख. वासाधिकार ८; ग. ज्ञानकाण्ड ६२.

८. समूर्तार्चनाधिकरण २९/५२.

है।^१ अन्वाहार्य का आधारभूत अन्तरिक्ष है और उसका आकार चाप (धनुष) के सदृश (अर्धगोलाकार) है, इसलिए कुण्ड का आकार भी वैसा ही होना चाहिए। (अंग्रेजी में इसके लिए square शब्द का प्रयोग है, जिसे चौकोर होना चाहिए) उसकी ऊँचाई तथा विस्तार आवश्यकतानुकूल किया जाना चाहिए।^२

अग्निहोम के सभी द्रव्यों को लेकर आहवनीय अग्नि में हवन करना चाहिए। इसी भाँति उसका आहवनीय नाम सार्थक होगा। चौकोराकार स्वर्ग की स्थिति होने के कारण कुण्ड का आकार भी चौकोर होना चाहिए। यज्ञशाला को नव भागो में विभक्त कर मध्य में ब्रह्मस्थान में शय्यावेदिता निर्मित कर पूरब भाग में सभ्य तथा आहवनीय का स्थान नियत किया जाना चाहिए।^३ उसके पश्चात् सभ्याग्नि के पूरब उत्तर की ओर आहवनीय कुण्ड का स्थान होना चाहिए।^४ कुण्ड बत्तीस अंगुल लम्बा तथा चार अंगुल विस्तृत तथा उन्नत होना चाहिए। कुण्ड के दक्षिण में ब्रह्म का स्थान है। उसके दक्षिण पितृस्थान तथा कुण्ड के उत्तर बगल में सोम का स्थान कल्पित करना चाहिए।^५

निवास में स्थित होने के कारण अग्नि का नाम आवसथ्य है।^६ इसका स्थान महर्लोक है, जो त्रिभुजाकार माना जाता है, अतः उसका कुण्ड भी त्रिभुजाकार होगा।^७ आवसथ्य कुण्ड ४८ अंगुल ६जौ का होगा। उसकी एक भुजा की ओर एक वेदिका होगी। इसमें कुल दो वेदिकाएँ होंगी।^८ सभ्याग्नि, कुण्ड निरूपित है।^९ पौण्डरीकाग्निकुण्डलक्षण^{१०} श्रामकाग्निकुण्डपरिमाणलक्षण आदि का विवेचन भी वर्णित है।^{११}

१. क. अर्चनाधिकार १८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २९/२८, १८-१९; ग. प्रकीर्णाधिकार ११/५५.
२. क. समूर्तार्चनाधिकरण २९/१७-१८; ख. ज्ञानकाण्ड ४४; ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३०.
३. समूर्तार्चनाधिकरण २९/४७-४८, १७.
४. विमानार्चनकल्प, पटल ३०.
५. क. प्रकीर्णाधिकार ११/५२-५३; ख. ज्ञानकाण्ड ६२; ग. वासाधिकार ८.
६. समूर्तार्चनाधिकरण २९/५३.
७. क. समूर्तार्चनाधिकरण २९/१९; ख. ज्ञानकाण्ड ४४; ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३०.
८. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३०; ख. अर्चनाधिकार १८.
९. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३०; ख. वासाधिकार ८; ग. ज्ञानकाण्ड ६२.
१०. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३०; ख. वासाधिकार ८.
११. क. खिलाधिकार १६/१३७-१४८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २९/३७, ५६-५९.

ध्रुवबेरादि का अक्षि उन्मीलन

(आँख खोलना) प्रतिष्ठा के दिन से १, ७, ५, ३ अथवा दूसरे दिन शिल्पी द्वारा ध्रुवबेरा का बिना यन्त्र के अक्षि उन्मीलन कराया जाना चाहिए।^१ सात उत्तम, पाँच दिन मध्यम तथा तीन अधम माना जाता है।^२ शिल्पी द्वारा गौतमीय विधान के अनुसार दृष्टिमण्डल के मध्य यूकामात्र (अत्यन्त छोटी ईकाई) अक्षि-मोचन करे।^३ उसके बाद दूसरे दिन आचार्य मन्त्रपूर्वक अक्षि उन्मीलन करता है। यह कार्य प्रतिष्ठा के पूर्व पहले या दूसरे दिन होना चाहिए। कुछ लोग तीसरे दिन भी मानते हैं। सूर्य, राहु तथा शनि के उदय और (अन्ध नक्षत्र को छोड़कर) शुभ दिन को अक्षि-उन्मीलन होना चाहिए। तभी सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। अन्यथा सर्वनाश होता है।^४ यदि बेरा रंगीन हो, तो प्रतिष्ठा के पूर्व दिन और यदि कौतुक ध्रुवबेरा हो, तो प्रतिष्ठा के पाँचवें दिन अक्षि उन्मीलन करे।^५

यागशाला के पूरब भाग में आग्नेय कोण, ईशान कोण अथवा दक्षिण दिशा में अक्षि उन्मीलन के लिए यागशाला का निर्माण करे। आलय के उत्तर भाग में एक चौकोर वापी का निर्माण करे, जो चार हाथ चौड़ी तथा लम्बी हो। इसका निर्माण अक्षि उन्मीलन तथा अधिवास के लिए किया जाना चाहिए। पञ्चगव्य से अभिसिंचित कर आलय के समक्ष पूरब मुख करके वेदिका पर स्थापित करे। आचार्य यजमान तथा ऋत्विक् के साथ स्नान कर ब्रह्मयज्ञ, उपासना, वास्तुहोम तथा भूमियज्ञ करके बिम्ब पर्यग्नि (अग्नि सेक) करे। कुशों के द्वारा पवित्र जल का छिड़काव करके स्नान कराये। नव-वस्त्रों से उसे अलंकृत करे तथा पुण्याहवाचन कराये।^६

१. क. यज्ञाधिकार २३/२०-२१; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

२. अर्चनाधिकार १५.

३. क. खिलाधिकार १६/११४-११६; ख. वासाधिकार ८.

४. क. खिलाधिकार १६/१३६, १९३, १९४; ख. ज्ञानकाण्ड ६०.

ग. प्रकीर्णाधिकार ११/७३-७४; घ. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

५. क. अर्चनाधिकार १४.

ख. समूर्तार्चनाधिकरण २८/५४-५५.

६. खिलाधिकार १६/९२-९६.

आलय के सम्मुख भूमि को अलंकृत करके धान्यराशि पर वेदिका रख कर उसके मध्य में ब्रह्मा, इन्द्रादि दिग्पालों की पूजा कर ब्रह्ममणि, वज्र, मौक्तिक, वैदूर्य आदि रत्न आठों दिशाओं में विन्यस्त करे। अथवा पञ्चरत्न ही विन्यस्त करे। इनके अभाव में स्वर्ण को बेरपीठ पर रखकर, उस पर बेर की स्थापना कर शिल्पी द्वारा दृढ़ कराकर अक्षि उन्मीलन करावे। शिल्पी ऊर्ध्वपुण्ड्र, उपवीत धारण कर पश्चिम ओर पूरब मुख करके पवित्र मन से ध्यान कर देवेश की पूजा करे। आचार्य शिल्पी की पूजा करके उसका विसर्जन करे।^१

अक्षि उन्मीलन के पश्चात् धान्यराशि, तिलराशि, घी, दधि, मधु, क्षीरादि देव के दर्शनार्थ सम्मुख रखते हैं। स्वर्णशृंग, रजत खुर, सवस्त्र, एक बछड़े वाली गौ देवता के समक्ष रखकर उसके अंगभूत समस्त देवताओं की पूजा करे। तृणमुष्टि, तृण के पकवान देकर धान्यराशि आदि अन्न देवता के आगे स्थापित करे। औपासनादि कुण्डों में अक्षि उन्मीलन के उपरान्त, हवन करे। विष्णुसूक्त, पुरुषसूक्त के मन्त्रों का प्रयोग तथा कपिला तथा अन्य गौ के घृत का उपयोग विहित है। भैंस तथा बकरी आदि का कदापि नहीं।^२

नेत्र उन्मीलन के प्रसाधन, रंग-तूलिका आदि स्वर्णपात्र में रखकर दक्षिण नेत्र पुरुष सूक्त का पाठ करते हुए तथा “अतो देवादिना” का पाठ करते हुए वाम नेत्र का उन्मीलन (दृष्टि उन्मोचन) करना चाहिए। पक्ष्म आदि का मोचन षण्मण्डल, पृथिवी, अप, तेज वायु, आकाश तथा परमात्मा नामक अधिपतियों का स्मरण करते हुए अक्षि मोचन करना चाहिए।^३ कुछ लोगों का मत है कि दक्षिण नेत्र का मोचन “अतो देवादि” से तथा पुंसूक्त से वाम नेत्र का मोचन करना चाहिए।^४ वर्णहीन, ध्रुवबेर के पक्ष्म आदि सुवर्ण सूचिका

१. क. यज्ञाधिकार २३/२५-३५;

ख. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

२. क. क्रियाधिकार ६/७३-७९; ख. ज्ञानकाण्ड ६०;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण २८/७७-८०; घ. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण २८/८१-८६;

ख. ज्ञानकाण्ड ६०;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल २७.

४. यज्ञाधिकार २३/५४-६२.

से संकल्प करके मोचित करना चाहिए।^१ श्रीदेवी के अक्षि का उन्मूलन “श्रिये जातेति” मन्त्र से तथा भूदेवी का “मेदिन्यादि” से करना चाहिए। अन्य देवताओं का भी उनसे सम्बन्धित मन्त्रों द्वारा करके पुण्याहवाचन करना चाहिए।^२ अक्षि उन्मीलन के अनन्तर गो आदि मंगलसूचक द्रव्यों का प्रदर्शन करना चाहिए। तत्पश्चात् तीन अधिवासों के बाद मन्त्र से प्रोक्षण कर भगवान् को शयनवेदि पर सुला दे।^३

ध्रुवबेर आदि का अधिवास

स्थापना के पूर्व ध्रुवबेर का अधिवास करना चाहिए। बिना अधिवास कराये की गयी स्थापना ग्राम, यजमान तथा स्थापक आदि का शीघ्र ही विनाश कर देती है।^४ बिम्ब की शुद्धि तथा बिम्ब में देवता के सान्निध्य के लिए अधिवास आवश्यक होता है।^५ अक्षि उन्मीलन के उपरान्त, पञ्चगव्य, क्षीर तथा जल से अथवा जल, पञ्चगव्य तथा कुशोदक से, इन्हीं त्रिविध प्रकारों से अधिवास कराया जाता है।^६ अधिवास के ये ही भेद हैं। जलाशय अथवा मण्डप का निर्माण विमान के समक्ष ही कराया जाता है।^७ इन द्रवों में मूर्ति को एक-दिन रात रक्खे अथवा यह सम्भव न हो, तो पूरा एक दिन अधिवासहेतु रक्खे। यदि यह भी सम्भव न हो, तीन दिन, एक दिन (सूर्योदय से सूर्योदय तक) केवल दिनभर अथवा प्रहरभर मात्र के केवल जल में रक्खे।^८ जल, पञ्चगव्य और कुशोदक से तीन दिन, दो दिन अथवा एक

१. क. ज्ञानकाण्ड ६०; ख. वासाधिकार ८; ग. अर्चनाधिकार १५.

२. क. ज्ञानकाण्ड ६०; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २८/८६-८७;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल २७; घ. प्रकीर्णाधिकार ११/७७; ङ. यज्ञाधिकार २३/६२.

३. क. वासाधिकार ८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण २८/८९-९०;

ग. निरुक्ताधिकार २८; घ. प्रकीर्णाधिकार ११/७८-७९;

४. विमानार्चनकल्प, पटल २८.

५. समूर्तार्चनाधिकरण २८/२८-२९.

६. क. वासाधिकार ८; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २८.

ग. समूर्तार्चनाधिकरण २८/६०-६४.

७. क. खिलाधिकार १६/१०३; ख. ज्ञानकाण्ड ६१.

८. क. विमानार्चनकल्प, पटल २८;

ख. क्रियाधिकार ६/१०८-१०९.

दिन का अधिवास उत्तम कल्प, दिनार्ध, प्रहर तथा प्रहरार्ध मध्यम और दश नाडिका, पञ्चनाडिका तथा द्विनाडिका का अधम कल्प माना जाता है। प्रथम दिन पञ्चगव्याधिवास, क्षीराधिवास तथा जलाधिवास में से प्रत्येक को प्रहर मात्र ही करे।^१

पञ्चगव्याधिवास प्रकार

नीलवर्ण की गाय का गोमूत्र, कृष्णा का गोबर, ताम्रवर्णी का दूध, श्वेता का दही, कपिला का घृत लेकर १६ भाग को जिसमें ६ भाग मूत्र, ४ भाग गोबर, ३ भाग दूध, दो भाग दधि तथा १ भाग घी, सभी को मिलाकर तैयार करे। अन्न के ऊपर वस्त्र बिछाकर मध्य में धान्य के ऊपर कर पूरब में गोमूत्र, आग्नेय कोण में गोबर, दक्षिण में दधि, पश्चिम में घृत तथा उत्तर में क्षीर रक्खे। घड़े में कूँची तथा पञ्चरत्न प्रक्षिप्त करे। गोमूत्र में ऋग्वेद, गोबर में बृहस्पति, क्षीर में अथर्वा, दधि में यजुर्वेद तथा घृत में सामवेद का ध्यान करते हुए उनसे सम्बद्ध मन्त्रों द्वारा सभी को कलश में डाले। तत्पश्चात् कलश को जल से भर दे। समिधा के अग्रभाग से मिलाये तथा उसके अधिदेव शिला की अभ्यर्थना करे। पुरुषसूक्त से अभिमन्त्रित करे। प्रोक्षण, प्राशन अभिषेक तथा अधिवास में पञ्चगव्य का ऐसे ही प्रयोग करे। अपरिपक्व गव्य को कच्चे घड़े में रक्खे। तीन दिन, दो दिन अथवा एक दिन गव्य का ग्रहण न करे। औपासनाग्नि का कुण्ड बनाकर, आधारभूत अग्नि का आवाहन कर, देवेश को स्नान कराकर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र देवों का आवाहन कर उस रात देवालय स्थित सभी देवों को मोदक की बलि अर्पित करे।^२

क्षीराधिवास

प्रातःकाल स्नान करके, अधिवासित देवता को उठाकर, स्नान कराकर, गङ्गे (जलाशय) को गव्य तथा दुग्ध से भरकर, अधिदेव को अथर्ववेद से पूजकर पुष्प डालकर उसी में सुलाकर, पूर्ववत् होम तथा रात्रि में बलि प्रदान करे। कई ग्रन्थों में इसे विकल्प में रक्खा गया है।^३

१. वासाधिकार ८.

२. क. अर्चनाधिकार १६; ख. विमानार्चनकल्प, पटल २८.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल २८; ख. ज्ञानकाण्ड ६१.

जलाधिवास

२२ प्रस्थ का कलश लेकर सम्पूर्ण कलश को सूत्र से परिवेष्टित कर द्रोणधान्य के ऊपर रखकर स्वर्ण-रत्न आदि विन्यस्त कर जल से पूरित कर कुश की कूँची डालकर, वस्त्र से आवेष्टित कर, वहीं तीर्थों का आवाहन कर पुण्याहवाचन के पश्चात् उसी जल से बेर का प्रोक्षण कर तीन दिन, दो दिन अथवा एक दिन जल में अधिवास कराए। नदी, तड़ाग या समुद्र में अधिवास कराये। इनके अभाव में जलद्रोणी में अधिवास कराये। जलद्रोणी को कूँची, अक्षत के सहित जल से पूर्ण कर, इसमें क्षीर तथा दधि की कल्पना कर, देवेश को नवीन वस्त्रादि से अलंकृत कर के स्वच्छ जल में पूरब ओर शिर कर सुला दे। भिन्न-भिन्न दिशाओं में दो देवियों श्रीदेवी एवं भूदेवी की, शंख, चक्र, गदा आदि आयुधों की पूजा करे। एक अजस्र दीप जलाकर चतुर्दिक् आवरण (पर्दा) कर दे। रात में आलय और ग्राम की प्रदक्षिणा करके क्रम से दिशाओं के देवों को हरे चने, काले चने, तिल, उड़द आदि से बलि हेतु पक्वान बनाकर अर्पित करे। प्रातःकाल उठकर देव को उठावे शुद्धोदक से स्नान करावे, पूजा करे तथा किसी यान में रखकर आलय अथवा ग्राम की प्रदक्षिणा कराकर आलय के सम्मुख देव की स्थापना करे।^१

यदि बिम्ब भारी हो और अधिवास सम्भव न हो, तो पञ्चगव्य तथा कुशोदक से पूर्ण अलग-अलग कलश तैयार करे और पूर्ववत् विधि तथा मन्त्रों से देवता की पूजाकर अभिषेक करे।^२ कौतुक बेर में पञ्चगव्याधिवास तथा क्षीराधिवास नहीं होता। केवल जलाधिवास कराकर ग्राम में सर्वत्र पहले प्रभूत बलि का निक्षेप करे।^३ अन्य सभी अवतारों, पार्षदों तथा देवताओं का अधिवास इसी क्रम से होता है।^४

सभी को पञ्चगव्य का प्राशन करना चाहिये जिसके १६ अंशों में दो

१. यज्ञाधिकार २४/१-२५.

२. क्रियाधिकार ६/११०-१११.

३. प्रकीर्णाधिकार ११/८६-८७.

४. अर्चनाधिकार १६.

भाग गोमूत्र, एक भाग गोमय-जल, दश भाग क्षीर, दो भाग दधि तथा एक भाग घृत को विधिवत् मिला कर अर्चना कर गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए कमल के पत्ते पर रखकर प्रस्थमात्र प्राशन करे। यदि असक्त हो, तो उसका चतुर्थांश प्राशन करे।^१

विमान को गौ तथा ब्राह्मण से शुद्ध कराये। यथा—विमान के प्राङ्गण में दूर्वा, तृण, भूसा-भूसी जल के साथ मिलाकर, पाँच रात, तीन रात अथवा एक रात सवत्सा धेनु को समर्पित करे। रात में गाय का दूध न निकाले। बछड़ा, रातभर रक्षित दुग्ध, गोमूत्र तथा गोबर से स्थान पवित्र हो जाता है। इसके पश्चात् वहाँ २४, ५० या शताधिक अथवा उससे भी अधिक ब्राह्मणों को वहीं भोजन कराए। भोजनोपरान्त उच्छिष्टान्न को स्वच्छ करे।^२

अग्नि मन्थन

यज्ञशाला में पूर्व की ओर अरणि रखकर, उसमें पृथ्वी, दण्ड में विष्णु की, ऊपर की पट्टिका में अग्नि की, और रस्सी में वासुकि की पूजा करे। मथानी में रस्सी लपेटे और ऊपर की पट्टिका के साथ समायोजित कर मन्त्र द्वारा मथकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्ज्वलित करे तथा उसका अभिवादन करे।^३ अथवा श्रोत्रिय के घर से अग्नि लेकर वैश्वानर सूक्त का जप करे।^४

वास्तु होम

आलय के उत्तर भाग में श्रामणक कुण्ड का निर्माण कर मथित अथवा लौकिक अग्नि को उस पर स्थापित कर रात में वास्तुहोम करे। स्वभावः वास्तुपुरुष चल तथा अचल दो प्रकार का होता है। अचल वास्तुपुरुष पूर्व की ओर शिर करके अधोमुख शयन करता है। उसे शर्व कहते हैं। उसके ऊपर शयन करनेवाला चल पुरुष ऊर्ध्वमुख, मध्याह्न में पूर्व शिर से, सायंकाल दक्षिण शिर से, अर्धरात्रि में पश्चिम शिर से, प्रातः उत्तर शिर से—इस क्रम

१. अर्चनाधिकार १६.

२. खिलाधिकार १६/१२२-१३२.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल २९;

ख. क्रियाधिकार ६/११६-१२१.

४. क्रियाधिकार ६/१२२.

में संक्रमित होता है।^१ उल्का से अग्नि लेकर मूल बिम्ब के बगल में सर्वत्र मर्मालय, अर्धमण्डप, स्नानागार, गोपुर, प्राकार आदि में प्रदक्षिणा क्रम से दिखाकर, अग्नि का विसर्जन करे। पुण्याहवाचन करके विधिपूर्वक वरुण तथा वैश्वदेव आदि की आहुति करके अभिषेक करे।^२

आधार होम

आचार्य यजमान को मन्त्रपूर्वक घीयुक्त दुग्ध पिलाए। यजमान यदि ब्राह्मण या द्विजाति हो तभी मन्त्रसहित, यदि हीन वर्ण हो तो बिना मन्त्र के शिष्य बनाये। इस क्रिया से शिष्य पाप से मुक्त हो जाता है। ऋत्विक् को बुलाकर आसन पर बैठाकर मन्त्रसहित दधि-प्राशन कराये तथा उसे तत् तत् कर्म में नियोजित करे।^३

मथ्याग्नि या संस्कृत वास्तुहोमाग्नि को गार्हपत्य कुण्ड में ले जाये। तीन बार, संस्कृत की गयी अग्नि भी (लौकिक अग्नि) मथिताग्नि के समान हो जाती है। वास्तुहोमाग्नि को विधिपूर्वक संस्कृत करके गार्हपत्य में ले जाये। आधार होम के लिए गार्हपत्याग्नि कुण्ड में आधार के अन्त में अग्नि का वर्धन कर (प्रज्ज्वलित कर) उसमें से क्रमशः अन्वाहार्य, आहवनीय, आवसथ्य, सभ्य, पुण्डरीकादि कुण्डों में ले जाये। वहाँ अच्युत, सत्यपुरुष, अनिरुद्ध, विष्णु, वासुदेव तथा नारायण को क्रम से गार्हपत्य, अन्वाहार्य, आहवनीय; आवसथ्य, सभ्य, पौण्डरीक तथा श्रामणक अग्नि में आवाहन कर आधारहोम करे। आधारहोम के अन्त में तथा पक्व होम के पूर्व अग्नियों के मध्य में न जाये। यदि एक ही अध्वर्यु को प्रवाहण भी करना हो, तो पुनः परिस्तरण करके हवन करे। इसके प्रायश्चित्तहेतु वैष्णव आचार ग्रहण करे।^४

कुम्भपूजा

सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका के ३२ प्रस्थ जल ग्रहण करने

-
१. खिलाधिकार १६/२०२-२०८.
 २. खिलाधिकार १६/२१३-२३०.
 ३. क. विमानार्चनकल्प; पटल ३१;
ख. क्रियाधिकार ६/११२-११४.
 ४. विमानार्चनकल्प, पटल ३१.

योग्य कलश को सूत्र से परिवेष्टित कर यज्ञ के वायव्य कोण में स्थापित करो।^१ पुण्यतीर्थ, नदी आदि का जल लेकर भरो। उसमें कुश, इलायची, चन्दन, गन्ध आदि डाल कर उसी द्रव्य (मिट्टी आदि) के ढक्कन से ढक कर, वस्त्र से आच्छादित करे तथा यज्ञशाला के वायव्य कोण में स्थापित करो।^२ उस जल को वस्त्र से छानकर उस कलश को पूरित करो।^३ कुम्भ में सुगन्धित द्रव्य, पुष्प-अक्षत आदि नवरत्नों को डाले। उससे कलश में देवता का आवास हो जाता है,^४ क्योंकि रत्न अस्थि, तन्तु शिरायें, मृत्तिका मांस, लालमृत्तिका शोणित, जल मेद (चर्बी), कूर्च वीर्य, वेष्टन-चर्म तथा कुम्भदेव की सप्त धातुएँ बनती हैं, ऐसी धारणा करनी चाहिए। अतः इनमें से एक की भी कभी होने पर कुम्भ में कुम्भदेवता की सन्निधि नहीं होती।^५ पीठ पर अन्न का भार या आधा या चतुर्थांश धान्यराशि डाल कर विस्तीर्ण कर देना चाहिए।^६ आत्मसूक्त का पाठ कर, प्राणायाम आदि हृदयादि न्यास करके कुम्भ के जल में अष्टदल कमल, उसके मध्य में श्याम वर्ण द्विभुजमण्डल, उसके मध्य में श्वेत कमल के वर्ण का द्विभुज वरुण-मण्डल, उसके मध्य तप्त (चमकते हुए) हाटक (स्वर्ण) के सदृश चार भुजाओं वाले, शंख, चक्र, गदा आदि बीजों का न्यास कर आठों दिशाओं में प्रणव से घेर कर विष्णुसूक्त आदि का जप करते हुए ध्यानयोग मार्ग से ध्यान प्रारम्भ करो।^७

रेचक, पूरक तथा कुम्भक नामक प्राणायाम के तीन अंश हैं। रेचक में श्वास-विसर्जन, पूरक में श्वास-पूरण तथा कुम्भक में श्वास-निरोध होता है।^८ कुम्भक में सशिरस्क (३ॐ सहित), व्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र का जप

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३१; ख. ज्ञानकाण्ड ६४;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ३१/५-७.

२. यज्ञाधिकार २६/४२-४७.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण ३१/७-९;

ख. यज्ञाधिकार २७/६-७.

४. क. खिलाधिकार १७/५-९; ख. वासाधिकार ११.

५. क्रियाधिकार ७/१२-१४.

६. अर्चनाधिकार २०.

७. क. वासाधिकार ११; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ३१.

८. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३१; ख. समूर्तार्चनाधिकार ३१/२८-२९.

करे। उससे दिन-रात का किया गया पाप तत्काल ही नष्ट हो जाता है। पूर्व-सन्ध्या (प्रातः) तथा पश्चिमसन्ध्या (सायं) में बैठकर प्राणायाम करे। १६ प्राणायाम करने पर अश्वमेध का फल प्राप्त होता है। भ्रूणहत्यादि सभी पापों का नाश होता है। रेचक से पापदाह करते हैं, पूरक से अमृतपान, कुम्भक से मोक्ष-प्राप्ति होती है। अन्तःशरीरस्थित पाप-पुरुष को बाहर निकाल कर सूर्य-सोम की ऊष्मा से सभी पापों का दाह हो जाता है। पूरण काल में चन्द्रमण्डल से अमृत इडा नामक नाडी से अन्तःकरण को पूर्ण करता है। कुम्भक काल में प्रणवान्वित, सव्याहृतिक सशिरस्क तीन बार पढ़े। मूल मन्त्र भी जपे। इस भाँति अपने को तथा बिम्ब को शुद्ध करता है।^१

अपने शरीर के नाडीचक्रों तथा समस्त प्राणों का ध्यान करके तत्पश्चात् तत्त्वन्यास करे। यह न्यास तीन प्रकार का होता है, सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास तथा संहतिन्यास। बिम्ब में स्थितिन्यास, बैठी मुद्रा में सृष्टिन्यास तथा शयन में संहतिन्यास करे। कुछ लोग प्रातःकाल सृष्टिन्यास, मध्याह्न में स्थितिन्यास तथा सायंकाल संहतिन्यास का भी विधान करते हैं। न्यास के उपरान्त प्रतिमा के रूप का ध्यान कर, रक्षा का विधान करने के पश्चात् देवता का आवाहन करे।^२

मन को एकाग्र करके पद्मकोश के समान हृदय में, आकाश में विद्युत् रेखा की भाँति, अग्निशिखा के मध्य, परब्रह्म परमात्मा नारायण का ध्यान करे। इस ध्यान को ब्रह्मार्पण कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मभूत देव में अपना अर्पण करे। वह परमात्मा श्रुतियों द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् प्रतिपादित है। इसी हेतु वह अनिर्देश्य, इन्द्रियातीत, अव्यक्त, जन्म-मरण रहित, सभी बुद्धों का सृष्टि करने वाला रक्षक तथा संहर्ता है। वह निर्गुण है। वह सर्वदेवमय, सर्ववेदमय, सर्वज्ञानमय, सबका धारण करने वाला तथा अचिन्त्य है। कुम्भ के जल में भी इसी भाँति भगवान् का निर्गुण, निर्मल, निष्कल तथा सकल रूप में ध्यान करना चाहिए। वह स्वर्णाभि, रक्तमुख, रक्तनेत्र, करीट हार आदि से सुशोभित, श्रीवत्साङ्क, चतुर्भुज, दक्षिण हाथ से

१. वासाधिकार ११.

२. वासाधिकार १२.

भक्तों को अभय प्रदान करता हुआ तथा वाम हस्त को अपने कटिप्रदेश पर टिकाए तथा अन्य हाथों में शंख चक्र धारण किये हुए स्थित है।^१

इस भाँति ध्यान कर कुम्भ में देवता का आवाहन करो। तत्पश्चात् स्वर्णाभ वासुदेव नामक नारायण का ध्यान करो। ब्रह्म के मूर्त तथा अमूर्त दो रूप हैं। जिस भाँति सब में निहित अग्नि का अरणि में विशेष सन्निधान होता है तथा मथनोपरान्त उसकी अभिव्यक्ति होती है, इसी भाँति सर्वानुस्यूत विष्णु का कुम्भ में ध्यान करने से उसमें विशेष सन्निधि होती है। जिस भाँति मणि विभाजित होने पर उपाधिवश एक तथा अनेक होती है, उसी भाँति विष्णु भी अनेक रूप धारण करते हैं। जिस भाँति ईंधन लगाने पर अग्नि व्यक्त होती है, उसी भाँति ध्यानाग्नि से विष्णु भी व्यक्त होते हैं। जिस भाँति बाँसुरी में विभिन्न छिद्रों के द्वारा षड्जाति स्वर तथा नील-पीतादि भेद से एक ही आकाश भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी भाँति निराकार देव भी विभिन्न रूप ग्रहण करता है, यद्यपि वह स्वयं निराकार है। उसीसे समस्त विश्व ओत-प्रोत है। उसकी छाती पर कौस्तुभ मणि का ध्यान करना चाहिए। शंख, चक्र, गदा, पद्म, सभी आयुधों में पञ्च वर्णों की वैजयन्तीमाला तथा भूतमाला का ध्यान करना चाहिए। कला; काष्ठा; निमेषादि काल स्वरूप में भी विष्णु का ध्यान करना चाहिए। सर्वलोक रूप, देव, मानुष पशु आदि रूप सर्वशास्त्र रूप का व्यक्त कला आदि अखिल शब्द रूप, सकल मूर्त तथा अमूर्त रूप सभी वस्तुओं में सर्वत्र अनन्त देव का ध्यान कर आत्मसूक्त जपे।^२

यदि पुनः प्रतिष्ठा हो, तो पुराण बिम्ब की शक्ति का ध्यान कर कुम्भ में न्यास करो।^३ सर्वव्यापी परमात्मा स्मरणरूप आवाहन को मानकर भक्त की अनुकम्पा से द्रवित सर्वत्र होते हुए भी एकत्र हो जाते हैं। मन्त्र से आवाहित होकर बेर, कूर्च, जल तथा स्थल में स्थित होकर पूजा ग्रहण करते हैं।^४

१. क. समूर्तार्चनाधिकरण ३१/३१-४२; ख. ज्ञानकाण्ड ६४;

ग. क्रियाधिकार ७/२४-३६.

२. खिलाधिकार १७/१७-५०.

३. खिलाधिकार १७/५२-५३.

४. क. समूर्तार्चनाधिकरण ३१/५९-६६; ख. ज्ञानकाण्ड ६४;

ग. यज्ञाधिकार २७/२२-२४, २८, २९; घ. विमानार्चनकल्प, पटल ३१.

बालालय में पूजित बेर देव का ध्यान कर कुम्भजल में आवाहन का विधान भी प्रतिपादित है।^१

ध्रुवबेरादि को कलश से स्नान कराना

कुम्भपूजा के बाद ध्रुवबेर तथा कुम्भ को यज्ञशाला में स्थापित करके उनके समक्ष स्नान के कलशों को दूध, घी, मधु, श्वेत सरसों का जल, अक्षत का जल, कुशोदक, चन्दनोदक मिला हुआ तथा शुद्धोदक से पूर्ण, उपस्नान (पश्चात् स्नान हेतु) के लिए कलशों को भी उनमें उनके अधिष्ठाता देवताओं की एकदशोपचार से अथवा जल एव पुष्प से पूजा करो। उसके पश्चात् देवेश को दुग्ध, घी आदि के द्वारा गरम जल से स्नान करा कर, शुद्धोदक से अभिषेक कर, सूखे वस्त्र से पोंछ कर वस्त्रादि से अलंकृत कर विस्तर पर देवी के साथ स्थापित करो। स्नानोत्सव तथा बलिबेरादि कार्य में अलग से स्नान करावे।^२

अथवा द्वादश कलशों से स्नान कराये। उसमें पञ्चगव्य, घृत, मधु, दधि, क्षीर, गन्धोदक, अक्षतोदक, फलोदक, कुशोदक, रत्नोदक, जप्योदक, सर्वौषधोदक डाले। इन्हें उपस्नान कलश के साथ स्थापित करो।^३

देवबिम्ब को यागशाला में लाते समय सभी प्रकार के वाद्य-घोष, ध्वज, छत्र, धूप आदि उपचारों के साथ मार्ग भर गीतवाद्यादि का आयोजन करो। आढक भर उड़द, कुलुत्थ, निष्पावकयुक्त लाजा, तिल के चूर्ण का पक्वान्न सत्तू के सहित, पुष्पजल, कूर्च अक्षत युक्त तैयार कर भूत, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस को समर्पित करो। पश्चात् देव को लेकर यान या शिबिका में रखकर ग्राम प्रदक्षिणा पूर्वक ग्राम दिखावे। यदि यह करने में असमर्थ हो, तो धाम की प्रदक्षिणा किए बिना भी देवागार में प्रवेश कराया जा सकता है।^४

शयनाधिवास

शयनाधिवास के पूर्व पुण्याहवाचन द्वारा रेशम के तन्तुओं का रक्षासूत्र, स्वस्तिसूक्त से अभिसंचित कर, 'स्वस्तिदे' इस मन्त्र से, देव के

१. यज्ञाधिकार २७/३०-३६.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ३१.

३. खिलाधिकार १६/२६१-२७४.

४. खिलाधिकार १७/७०-८२.

दक्षिण हाथ में तथा देवी के वाम हस्त तथा कुम्भ में बाँधते हैं। इसी भाँति बलिबेरों का स्नपनोत्सव करो।^१ ललाट पर चन्दन अधिसुगन्धी से ऊर्ध्वपुण्ड्र बनावे। आचार्य तथा ऋत्विक् दाहिने हाथ में रक्षासूत्र बाँधे। प्रतिष्ठा अथवा उत्सव में यह कौतुक-बन्धन आवश्यक है। अन्यथा सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं।^२ शयनवेदिका को स्वच्छ करके धान, यव (जौ), चावल अथवा तिल उस पर बिछाकर गीले कुशों को फैलाकर उनके ऊपर क्रम से चर्म (मृगचर्म), रोमयुक्त, लौहनिर्मित तथा साँप के चर्म से बना विस्तर बिछाकर उस पर दो शिरोपधान (तकिये) रखे। पञ्चायुक्त (शंख चक्रादि) चारों ओर रखे। मुक्तादि की माला से अलंकृत करो। शकुनसूक्त का पाठ करते हुए देवेश को शयन पर रखकर देवी के साथ सुला दे। ऊपर से चादर ओढ़ाकर देवेश के दक्षिण भाग में कलश रख दे। स्नपन, उत्सव तथा बलि के अवसर पर एक वेदिका पर अलग-अलग (प्रत्येक हेतु) संकल्प कर अलग-अलग सुलावे।^३ यज्ञशाला के चतुर्दिक् सभी देवताओं की एकादशोपचार से पूजा कर प्रभूत बलि लेकर विन्यस्त करो।^४ चतुर्दिक् वेद, सूत्र, पुराणादि स्तोत्रों के साथ नृत्यगीत वाद्यादि विधिपूर्वक कराये। पूर्व भाग में ऋग्वेद, दक्षिण में यजुर्वेद, पश्चिम में सामवेद तथा उत्तर में अथर्ववेद पढ़े। विपरीत निष्फल होता है।^५

प्रतिष्ठाङ्ग होम

दिन में होम न करे और रात्रि में स्थापना न करे। रात्रि में होम करके दिन में स्थापना करे। विपरीत करने पर राज्य तथा राष्ट्र आदि सभी कुछ नष्ट

१. क. यज्ञाधिकार २७/६५-७०; ख. ज्ञानकाण्ड ४६;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३१.

२. क्रियाधिकार ७/८१-८७, ९०.

३. क. समूर्तार्चनाधिकरण ३२/१६-३०, ३५-३८;

ख. खिलाधिकार १७/८३-९५, १०१-१०३;

ग. क्रियाधिकार ७/६८-८०, ८७-९०;

घ. यज्ञाधिकार २७/५७-६५, ७०-७४.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३२; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३२/६७-८०;

ग. खिलाधिकार १७/१९३-२२२; घ. ज्ञानकाण्ड ६५.

५. क. वासाधिकार १४; ख. ज्ञानकाण्ड ६४;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ३२/६५-६६

हो जाता है।^१ सर्वप्रथम होता तथा अध्वर्यु को देवपूजार्थ बुलावे। होता नमः प्रवक्ता मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपने नाम तथा पद का उच्चारण करते हुए 'हि' भूर्भुवस्सोवरोम' इस अन्त तक मन्त्र का शंसन करे। उसके बाद अध्वर्यु 'ओम् स्वाहा' यह उच्चारण करते हुए घृत लगे समिध को अग्नि में प्रक्षिप्त करे। इसके बाद होता १७ ऋचाओं का शंसन करे, जिनके द्वारा समिधाओं का प्रक्षेपण होता है। यजमान के गोत्र तथा प्रवर का नाम भी ले।^२

इसके पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा नियुक्त होता विष्णु, देवी तथा पार्षद सभी देवताओं का नामोच्चारण सहित आवाहन करे। उसके पश्चात् अध्वर्यु दक्षिण प्रणिधि के जल में धाता आदि से भूतान्त तक 'आवाहयामि' कहकर आवाहन करे। आवाहन क्रम से ही चतुर्थ्यन्त से युक्त कर देवताओं के नाम के साथ आज्य (घृत) की आहुति दे। इस भाँति सभी देवताओं के आवाहन से चतुर्वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष) की समृद्धि, चारों वेदों की समृद्धि, चारों आश्रमों की समृद्धि, शान्ति तथा पुष्टि नामक फल की प्राप्ति होती है। यज्ञशाला के चतुर्दिक् (चारों दिशाओं में) द्वारों के समक्ष अर्चित देवों की पुनः अर्चना करे।^३

विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त का पाठ करते हुए सभ्याग्नि में लाजा, तिलचूर्ण, अपूप (मालपूआ) तथा सत्तू में घृत मिलाकर २० आहुतियाँ दे। "स्वस्ति चैवेति", 'प्रजापतय इति', अग्निर्धोमतय' चार देवों से (जो सम्बन्धित हों) आहूत कर दश मन्त्रों से शत-शत होमों से (प्रत्येक को) एक सहस्र आहुतियों का होम करे। विष्णुसूक्त, पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, भूसूक्त, अतो देवादि सूक्त, एकाक्षरादि सूक्त तथा विष्णुगायत्री इन सात सूक्तों की चार आवृत्ति कर होम करे।^४ सभ्याग्नि में इस होम को वसोर्धारा होम कहते हैं। वारुण तथा कूष्माण्ड होम से पाँच बार हवन करे। "श्रिये जात" से प्रारम्भ कर

१. वासाधिकार ९.

२. क. प्रकीर्णाधिकार १२/५२-६०;

ख. विमानार्चनकल्प, पटल ३२.

३. क. खिलाधिकार १७/११५-१७२; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ३२;

ग. वासाधिकार ५; घ. ज्ञानकाण्ड ५.

४. क. वासाधिकार १३; ख. क्रियाधिकार ७/१३५-१३९;

ग. प्रकीर्णाधिकार १२/६३-७०; घ. खिलाधिकार १७/२२२.

भूतान्त तक सभी देवों के हेतु व्याहृतिहोम करो। जिस देव का अपना मन्त्र न हो, उसको उसके नाम मन्त्र के अन्त में वैष्णवान्त से आहुति दे।^१

विष्णवे.....इत्यादि दश मन्त्रों से, नारायणायेत्यादि एकादश, पुण्य-नारायणायेत्यादि दश, 'बलायेत्यादि' दो, सत्यायेत्यादि' दश, 'पुरुषायेत्यादि दश, 'विष्णुक्रीडात्मन इत्यादि सत्रह, 'पुण्यायेत्यादि अष्टारह मन्त्रों से हवन करो। यह अष्टासी क्रम का हवन, पुण्डरीकाग्नि में, दधि, क्षीर, लाज, कपिला का घी मिलाकर वैष्णव, विष्णु तथा पुरुषसूक्त के मन्त्रों से किया जाये। आलय के चारों ओर स्थित इन्द्रादि दिग्पालों का ध्यान करते हुए, तत्सम्बन्धित मन्त्रों से बीस आहुतियाँ दी जाये। उस समय सभ्याग्नि में अध्वर्यु वारुण आदि मन्त्रों से पाँच आहुतियाँ दे। यह महाशान्ति होमप्रतिष्ठा वाले दिन के पहले वाले दिन किया जाये।

प्रतिष्ठा के दिन दूसरा शान्तिहोम किया जाना चाहिए। वह भी पौण्डरीकाग्नि में ही हो। एक सौ श्वेत कमल, गाय के घी में डुबोकर विष्णु-गायत्री से तथा उसी भाँति रक्त कमल तथा विल्वपत्र पुरुषसूक्त से हवन कर, 'वैष्णव', 'यदेवादीन् आदि', 'ब्राह्मणेन', इन्द्रेण, वारुणेन, रात्रिसूक्तेन, विश्वजितसूक्तेन और सारस्वत सूक्तेन सभी दोषों के निवारणार्थ यह महाशान्ति विहित है।^२

परिवारहोम अनेक प्रकार का होता है—(यह होम मुख्य देवता के पार्षदों के लिए होता है।) एक श्रीदेवी तथा भूदेवी, ब्रह्म-ईशान, भृगु-मार्कण्डेय तथा गरुड-शेष होम अधम माना जाता है। विमानपालों का इन्द्रादि लोकपालों का तथा आदित्य-शेष का होम मध्यम माना जाता है। द्वारपालों, चक्र, शंख, महाभूतपाक तथा अर्जुन का होम उत्तम माना जाता है।^३

सभ्य तथा पौण्डरीक अग्नि को छोड़कर, शेष सभी में अन्तिम होम करके, अग्नि का विसर्जन करके नृत्य, गीत, वाद्यादि तथा चारों वेदों का

१. समूर्तार्चनाधिकरण ३३/१-११.

२. खिलाधिकार १७/१८६-१९३, २८७-२९३.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ३२.

पारायण कराए।^१ आचार्य तथा ऋत्विक् को यथेष्ट दान-दक्षिणा दे। वस्त्रों आभूषणों से अलंकृत करे और ज्योतिषी की भी वस्त्राभरण से पूजा करे।^२

सभ्याग्नि में वैष्णवसूक्त, विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त एकाक्षरादि से व्याहृत्यन्त तक चरु से हवन करे। समित् तथा ऋत् के लिए दूसरे चरु से हवन करे। इस भाँति पूर्णाहुति करके पौण्डरीकाग्नि का विसर्जन करे।^३

आलय के दक्षिण में प्रथम खण्ड में, नैऋत्य कोण में भोजनालय में सभ्याग्नि कुण्ड बनावे। उस अग्नि को देव के उत्सव आदि हेतु लाकर रखे। नित्य होम में यदि अशक्त हो, तो सभ्याग्नि को घड़े में रखकर ध्रुव का आवाहन करे, तत्पश्चात् कुम्भ के जल को कूँची से लेकर बिम्ब के चतुर्दिक् छिड़क कर ध्रुव में अग्नि का आरोपण करे।^४

प्रतिष्ठा विधान

रत्नन्यास

प्रातःकाल यजमान आचार्य के साथ गर्भगृह में प्रवेश करे तथा एक तल ऊँचे चौकोर पूजा-पीठिका का निर्माण करे, जो पद्माकार तथा गोलाकार हो। उसके मध्य में एक गढ़ा करके, गोबर से लीपकर, पञ्चगव्यों से प्रोक्षणकर उसके मध्य में, गज, गरुड तथा ब्रह्ममणि की प्रतिष्ठा करे। इसकी आठों दिशाओं में, सम्बन्धित देव-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए, वज्र आदि (हीरा) रत्न तथा सुवर्ण गैरिक आदि धातुओं (विभिन्न) बीजों, श्रीवत्स आदि मङ्गल द्रव्यों, पञ्चायुधों तथा स्तुवा आदि के चिह्न मेघ तथा विद्युत् प्रभा स्थित कर उसके ऊपर भी रूपवाली हरिणी तथा उसके ऊपर कूर्म रखकर रेशमी वस्त्र से ढककर, ऊपर से चूने का लेपन करे। रत्न के अभाव में स्वर्ण, बीजों के अभाव में उनके प्रतिनिधि, नवविध धातुओं के अभाव में पारद आदि को उनके प्रतिनिधि रूप में विन्यस्त करे। उत्सव बेर की पीठिका बिना रत्न के ही तैयार की जाये।

१. विमानार्चनकल्प, पटल ३२.

२. क. खिलाधिकार १७/१०४-१०६;

ख. यज्ञाधिकार २९/११.

३. क्रियाधिकार ८/३७-३८.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३३; ख. क्रियाधिकार पृष्ठ ९८-९९.

कुछ लोगों का मत है कि सुवर्ण के टुकड़ों का प्रयोग किया जाये। पुराने मन्दिर की पीठिका में पहले रत्नादि प्रतिष्ठित हों, तो उन-उन रत्नों का ज्ञान करके तत्सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण करे।^१ श्रीदेशिकाचार्युलु का रत्नन्यास के सन्दर्भ में कहना है कि—“नवग्रहादिदेवतानां प्रतिनिधयो नवरत्नादयः। तेषां रत्नानां न्यासेन ब्रह्माद्यष्टदिक्पालकानां नवग्रहाणां च निग्रहानुग्रहसामर्थ्यम् अस्मिन् विग्रहे अस्तीति सम्प्रदायविदोऽभिप्रयन्ति। अनेन मार्गेण प्रतिष्ठापितस्य देवस्य देवादीनां ग्रहादीनां च पादान्तर्वर्तित्वं तेजस्वित्वं चाप्यऽस्मिन् विग्रहेऽस्तीति प्रतिध्वन्यते।”^२

कलान्यास

प्रतिष्ठा प्रकरण में कलान्यास मुख्य तथा प्रधान होता है, जिसका स्वरूप अधोलिखित है—“अत्र प्रतिष्ठाप्रकरणे कलान्यासो मुख्यतमः प्रधानश्च भवति। चतुर्विंशतितत्त्वात्मकोऽयं देहः। अष्टचत्वारिंशज्जीवकलायुतो विग्रहः। पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशेति पञ्चभूतानि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेति पञ्चतन्मात्राणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणेति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानीत्यान्तःकरणचतुष्टयात्मको देहः पञ्चविंशात्मकः पुरुषः। अतः पञ्चविंशात्मको जीव इति मरीचिना त्र्यशीतितमे पटले उपदिश्यते।

अत्र विग्रहे सोमसूर्यमरुद्वह्निकला अभिहिता भवन्ति। अर्थात् सोमस्य षोडशकलाः, सूर्यस्य द्वादशकलाः, मरुतो दशकलाः, अग्नेर्दशकलाः-आहत्य अष्टचत्वारिंशज्जीवकला भवन्ति।

“चन्द्रमा मनसो जातः” इति श्रुतिप्रमाणेन विराट्पुरुषस्य मनसोत्पन्नस्य षोडशकलापूर्णस्य कलानिधेरमृतकिरणस्य सोमस्य कलावाहनेन क्रमेण अमृतत्वं दिनदिनाभिवृद्धिं बिम्बे मनसः स्थापनम्।

“चक्षोः सूर्योऽजायत” इति श्रुत्यनुसारेण विराट्पुरुषस्य चक्षुषोत्पन्नस्य जगच्चक्षोर्द्वादशात्मनो द्वादशकलावाहनेन ज्योतिष्मत्त्वम् अज्ञानान्धकारनिरासकत्वं जनसंदर्शनशक्तिमत्त्वं च।

१. क. ज्ञानकाण्ड ६७; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ३३; ग. समूर्तार्चनाधिकरण ३४/१-३९;

घ. वासाधिकार १५; ७. ड. क्रियाधिकार ८/१-३३.

२. आगमसुषमा, पृष्ठ ८०.

“प्राणाद्वायुरजायत” इति प्रमाणेन विराट्पुरुषस्य प्राणादुत्पन्नस्य जगत्प्राणस्य वायोर्दशकलावाहनेन पिपीलिकादि-ब्रह्मपर्यन्तं देहान्तर्वर्तित्वं चैतन्यत्वं प्राणप्रदापकत्वम् अपमृत्युनिवारकत्वम्।

“मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च” इति श्रुत्यनुसारेण विराट्पुरुषस्य मुखादुत्पन्नस्य जातवेदसो दशकलावाहनेन देहान्तर्वर्तित्वं दोषविदग्धत्वं “श्रियमिच्छेद्भुताशनात्” इति अखिलैश्वर्यप्रदायकत्वं च साधयति। एतासाम अष्टचत्वारिंशद्भौवकलानामावाहनेन तत्तद्देवतानिर्दिष्टानां फलानां च प्रतिनिधित्वेन ताः शक्तय आवाहिता भवन्ति।

स्थापकस्य तपोयोगात् पूजायाश्चातिशायनात् ।

आभिरूपाच्च बिम्बस्य त्रिभिः सान्निध्यमुच्यते ॥१॥

बेरपीठ का संयोजन

शय्या में सोये हुए भगवान् को प्रणव के उच्चारण से जगाकर, बेर को उठाकर, पहले के वस्त्राभूषणादि निकालकर, नूतन वस्त्रालंकारों से सजाकर, शुभ मुहूर्त में ज्योतिषियों की पूजा कर, सभी वाद्यों से युक्त, शकुनसूक्त से समन्वित, आचार्य, तोयधारा तथा पुष्पवृष्टि करते हुए, कुम्भ को अपने शिर पर रखकर आगे-आगे चले। पीछे-पीछे चलने वाले मूर्तिधारक देवालय की प्रदक्षिणा करे, विष्णुसूक्त का पाठ करते हुए मूर्ति की स्थापना करे।^१

बन्ध द्रव्य—भैंस का मक्खन, लाक्षाचूर्ण, शर्करा, कपास तथा गुग्गुला^२

अष्टबन्ध द्रव्य—शंखचूर्ण, मोम, लाक्षा, त्रिफल, कपास, गुग्गुल, रक्त शिला चूर्ण तथा भैंस का मक्खन।^३

त्रिबन्ध द्रव्य—भैंस का मक्खन, लाक्षाचूर्ण तथा शर्करा।^४

१. आगमसुषमा, पृष्ठ ८०-८१.

२. क. खिलाधिकार १७/२९५-३१२;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३५/२०-२८;

ग. यज्ञाधिकार २९/१२-२०;

घ. ज्ञानकाण्ड ६७;

ङ. विमानार्चनकल्प, पटल ३३.

३. क्रियाधिकार ३५/२३

४. क्रियाधिकार ३५/२१-२२.

५. क्रियाधिकार ३५/२४.

अष्टबन्ध द्रव्यों के अधिष्ठाता देवता

शंखचूर्ण के चन्द्रमा, मोम के रोहिणी, हरीतकी के हरि, लाक्षा के अग्नि, कपास के वायु, गुग्गुल के चण्डदीधिति, शिलाचूर्ण के स्कन्द और नवनीत के यमा^१ वप्रस्थ शंखचूर्ण, अर्धप्रस्थ गुग्गुल, उतना ही लाक्षाचूर्ण, १/४ कपास, हरीतकी, मोम तथा शिलाचूर्ण भी १/४। सभी को एकत्रित कर, नवनीत में मिलाकर, रगड़ कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक (मूर्ति पर) छापे (लगाये)। अन्य देवालयों में रुद्र तथा कालीहेतु उपयुक्त अष्टबन्धों का ग्रहण विष्णु के लिए न करे। बिम्बपीठ के छिद्र में अष्टबन्ध आरोपित करे। अष्टबन्ध में किसी द्रव्य की कमी हानिप्रद है।^२ पूरब द्रव्यहीनता से राष्ट्र का नाश, आग्नेयकोण से अग्नि-दाह, दक्षिण से व्याधि-पीड़ा, नैऋत्य से कृषिनाश, पश्चिम से वृष्टिनाश, वायव्य कोण से श्रीविनाश, उत्तर से धननाश, ईशानकोण से ग्रामनाश तथा सर्वत्र से राष्ट्रनाश होता है। अतः इनमें कमी होने पर उनका पुनः समायोजन करना चाहिए।^३

सूक्तादि का जप—कौतुक के समक्ष अत्र के ऊपर कुम्भ रखकर आत्मसूक्त, विष्णुसूक्त, श्रीसूक्त तथा ध्रुवसूक्तों का जप करे।^४

प्रतिमा में व्याहृति आदि न्यास—सुवः, भूः, भुवः क्रम से बेर के ललाट, नाभि तथा दोनों पैरों में न्यास करे। अकार से प्रारम्भ कर क्षकारादि पर्यन्त सभी वर्णों का पैरों से लेकर मूर्धा तक विन्यास करे। उसी भाँति मूर्धा से पाद पर्यन्त एकाक्षरादि मन्त्र का न्यास करे। इसी भाँति देवियों तथा उनके पार्षदों में उनके बीजमन्त्रों का हृदय में न्यास करे।^५

१. क्रियाधिकार ३५/२५-२६.

२. क्रियाधिकार ३५/२८-४१.

३. क्रियाधिकार ३५/१-४.

४. क. यज्ञाधिकार २९/१८-२३;

ख. ज्ञानकाण्ड ६८;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३३;

घ. समूर्तार्चनाधिकरण ३५/३१-३३.

५. क. वासाधिकार १५;

ख. यज्ञाधिकार २९/२४-४०.

आवाहन—‘इदं विष्णुरिति’ इस मन्त्र के द्वारा कुम्भ स्थित देव को शक्ति के सहित कूर्च से निकाल कर ‘आयातु भगवानिति’ विष्णुमावाहयामि इति बिम्ब के शिर पर गिरावे। उनकी पीठिका के चतुर्दिक् पुरुष आदि आवरण के देवतामय श्री, भू, ब्रह्मा, शङ्कर प्रभृति देवताओं तथा उनके परिचरों को तत्सम्बन्धी मन्त्रों से आहूत करे। दीप से दीप प्रज्ज्वलित करने की भाँति ध्रुवबेर से शक्ति का प्रणिधि के जल में ध्यान करते हुए कौतुक में आवाहित करे। उसी भाँति स्नपनोत्सव बलि आदि का बेरों में क्रमशः आवाहन करे। कुम्भ जल से कौतुक के चतुर्दिक् सुभद्रा आदि आवरण के बीच देवों का आवाहन करे और अन्य परिचरों को भी तत् तत् मन्त्रों से आवाहित करे।^१

प्रतिष्ठा के पश्चात् अर्चनक्रम का विधान विहित है।^२ ध्वजारोहणपूर्वक विष्णु का एकरात्र, त्रिरात्र, पञ्चरात्र, सप्तरात्र अथवा नवरात्र उत्सवों में से किसी एक उत्सव को आरम्भ करते हैं। एक रात्रोत्सव में ध्वजारोहण नहीं होता। अन्त में उत्सवान्त स्नपन-सम्पादन का निर्देश है।^३

प्रतिष्ठाविधि में द्रव्यहीनता से द्रव्यहानि, क्रियाहीनता से कर्महानि तथा मन्त्रहीनता से सर्वार्थनाश कहा गया है। मन्त्र की विशिष्टता वर्णित है।^४

प्रतिष्ठाफल को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो विधि-विधान से प्रतिमा-प्रतिष्ठा करता है, वह अपने इक्कीस पीढ़ी पूर्व तथा इक्कीस पीढ़ी अग्रिम कुल के साथ स्वयं विष्णुलोक को जाता है। क्षत्रिय विजय-कीर्ति प्राप्त करता है, समुद्र पर्यन्त भूभर्ता होकर अन्त में विष्णु-सारूप्य को प्राप्त होता है। वैश्य सभी मनोरथ पूर्ण कर विष्णुसामीप्य लाभ

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३३;
ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३५/३६-५५;
ग. वासाधिकार १६.
२. यज्ञाधिकार २९/६५-६९.
३. क. खिलाधिकार १७/३३०-३३३;
ख. समूर्तार्चनाधिकरण ३५/५८-६१.
४. खिलाधिकार १७/३३३-३३५.

करता है। शूद्र धनसम्पन्न होता है, सभी कामनाओं को भोग कर विष्णुसालोक्य को जाता है।^१

वैखानसभगवच्छास्त्र में विष्णुपरिवार प्रतिष्ठा, अष्टलक्ष्मी प्रतिष्ठा, केशवादिचतुर्विंशति ध्रुवबेरों की प्रतिष्ठा, सूर्यप्रतिष्ठा, दुर्गाप्रतिष्ठा, वाग्देवी प्रतिष्ठा, भक्तबेर प्रतिष्ठा, गृहारचा प्रतिष्ठा आदि विषयों का विशद विवेचन प्राप्त होता है।^२

उपर्युक्त देवताओं की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त वैखानस ग्रन्थों में विमान-प्रतिष्ठा^३ गोपुरप्रतिष्ठा, शिखरप्रतिष्ठा आदि का भी सामान्य निर्देश किया गया है। इन सबके प्रतिष्ठाविधान में अग्निकार्यादि सामान्यक्रिया प्रतिष्ठा विधि की तरह निरूपित हैं।



-
१. क. समूर्तार्चनाधिकरण ३५/६६-७८.
ख. खिलाधिकार १७/३४२-३५४.
ग. विमानार्चनकल्प, पटल ३३.
ङ. ज्ञानकाण्ड ६८.
 २. वैखानसागमकोश (प्रतिष्ठा प्रकरण) भाग ५.
 ३. क. विमानार्चनकल्प, पटल ३९;
ख. क्रियाधिकार ८/१०३-११६.

द्वितीय अध्याय अर्चन, उत्सव एवं स्नपन

आलय में भगवत्प्रतिष्ठा के पश्चात् निरन्तर चलने वाली विग्रह आराधना प्रक्रिया को मुख्य रूप से चर्या का विषय कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत प्रथम नित्यार्चन को माना जा सकता है। द्वितीय क्रम में नाना नैमित्तिकार्चनों को स्वीकार किया जा सकता है।

वैखानस शास्त्र के अनुसार—अर्चन के दो भेद—साकार तथा निराकार निरूपित हैं।^१ प्रतिमार्चन को साकार तथा श्रेष्ठ कहा गया है।^२ स्थण्डिल में, जल में, हृदय में या सूर्यमण्डल में जो आराधना होती है, उसे निराकार की संज्ञा दी गयी है।^३ पुनः समूतार्चन के दो भेद—आलय तथा गृह निर्दिष्ट हैं।^४ आलय-पूजा परार्थ है तथा गृहपूजा आत्मार्थ।^५ गृहार्चन में गृहस्थ अधिकारी है। आलयार्चन में गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी दोनों का प्रवेश अनुमान्य है।^६

अकाम अर्चन में ध्रुवबेर का प्रयोग होता है। सकाम तथा अकाम—उभयार्चन में कौतुकबिम्ब को प्रशस्त बताया गया है।^७ नित्यार्चन में कौतुक, काम्यार्चन में उत्सवबेर तथा नैमित्तिकार्चन में अर्चाबिम्ब का विधान विहित है।^८ नित्यार्चन में कौतुकबेर की पूजा के पश्चात् उत्सव बलिबेरार्चन करने का

१. विमानार्चनकल्प, पटल ५१.

२. क. खिलाधिकार २०/१७; ख. अर्चनाधिकार २३.

३. क. खिलाधिकार २०/१७-१९; ख. क्रियाधिकार ९/३.

४. खिलाधिकार २२/१५८.

५. खिलाधिकार २२/१७१-१७२.

६. खिलाधिकार २२/१५८-१७०.

७. क्रियाधिकार ९/१२-१४.

८. खिलाधिकार २०/७-८.

निर्देश है। नैमित्तिक कर्मों में उत्सव-स्नपन आदि अर्चा का विधान है।^१ पुनः हरि की आराधना के तीन भेद कहे गये हैं—१. शान्तिक, २. पौष्टिक तथा ३. काम्य।^२ व्याधि, दुर्भिक्ष, दुःस्वप्न, शत्रुपीडा, ग्रहशान्ति तथा अन्य दोषों की शान्ति के लिए जो अर्चना की जाती है, उसे शान्तिक अर्चन कहते हैं।^३

अर्चनोपकरण तथा उनके संस्कारादि का विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।^४ अर्चन उपकरण के दानादि का फल विशेष रूप से प्रतिपादित है।^५ कहा गया है—

अर्चकस्य तपोयोगात् पूजायाश्चातिशायनात् ।

अभिरूप्याच्च बिम्बस्य सन्निधिः प्रोच्यते हरेः ॥^६

प्रदक्षिणा, प्रणामादि का फल यज्ञफल के समान होता है।^७ आलयानुलेपन का फल^८, घण्टासमर्पण का फल^९, ध्वजसमर्पण का फल^{१०} तथा हविरादिनिवेदन के फल^{११} के साथ विभिन्न वस्तुओं के दान के फल का सम्यक् विवेचन किया गया है।^{१२}

देवपूजार्थ पुष्पपत्राङ्गुरादि का विधान सविशेष निरूपित है। कहा गया है कि हाथों को धोकर, आचमन करके एक पुष्प वरुण के लिए, एक सोम के लिए और एक पुष्प महीदेवी को यथाक्रम अर्पित कर, पूर्वाभिमुख होकर, शुद्ध पात्र में, शुभ पुष्पों को 'देवस्य त्वा' इति मन्त्र से पुष्पों को ग्रहण करना

१. खिलाधिकार २०/७, १५.

२. क. विमानार्चनकल्प, पटल २४, २५;

ख. निरुक्ताधिकार २७.

३. शान्तिकं पौष्टिकं काम्यमिति भिन्नं त्रिधाऽर्चनम्, क्रियाधिकार १९/१

४. क्रियाधिकार १९/२-३.

५. क. प्रकीर्णाधिकार ३५; ख. खिलाधिकार २४/१३९.

६. प्रकीर्णाधिकार ३५/३०४.

७. प्रकीर्णाधिकार ३५/२९९-२०१.

८. प्रकीर्णाधिकार ३५/३५-५४.

९. प्रकीर्णाधिकार ३५/२९०-२९१.

१०. प्रकीर्णाधिकार ३५/२७६.

११. प्रकीर्णाधिकार ३५/३६५-३७१.

१२. प्रकीर्णाधिकार ३५.

चाहिए।^१ अर्चनार्ह पुष्पों में सौवर्ण पुष्प को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।^२ वर्णभेद के आधारपर पुष्पों की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। यथा—ब्राह्मण-श्वेत वर्ण पुष्प, क्षत्रिय-रक्तवर्ण पुष्प, वैश्य-पीतवर्ण पुष्प तथा शूद्र-कृष्णवर्ण पुष्प से अर्चना की विशेषता विहित है।^३

विष्णु को श्वेत पुष्प प्रिय है। उससे शतगुना मालती और मल्लिका प्रिय है।^४ श्रीदेवी को मल्लिका तथा भूदेवी को कान्ता तथा रुद्र के लिए नीलोत्पल की श्रेष्ठता बतायी गयी है।^५ श्वेतपुष्प शान्तिप्रद तथा पीतपुष्प पौष्टिक कहा गया है।^६ तुलसी कृष्णभूततृण की सभी पुष्पों में श्रेष्ठ कही गयी है।^७ तुलसीमाहात्म्य विस्तार से विवेचित है।^८ अर्चनार्थ अङ्कुरादि का भी वर्णन प्राप्त होता है।^९ नित्यार्चन में सामान्यतः अर्चक, वरि, दीप तथा पुष्प—ये चार ग्राह्य होते हैं। इनसे पूजन की पूर्णता होती है।^{१०}

विग्रह और भोग उपचार शब्द के पर्याय है।^{११} अर्चन के लिए विशेष रूप से पूजा के लिए ग्रहण की हुई मूर्ति उपचार तथा विग्रह शब्द से जानी जाती है।^{१२} जिन वस्तुओं से देवताओं की पूजा होती है, उसीको उपचार

१. क. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/३८-४२;

ख. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/६.

४. ज्ञानकाण्ड ७२.

५. क. ज्ञानकाण्ड ७२;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/२४, २२.

६. क. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/१०;

ख. ज्ञानकाण्ड ७२;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

७. क. ज्ञानकाण्ड ७२; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/२६.

८. प्रकीर्णाधिकार ३५/३२०-३४२.

९. क. ज्ञानकाण्ड ७२; ख. वासाधिकार २८;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/२६; घ. विमानार्चनकल्प, पटल ४६.

१०. क्रियाधिकार १०/५३-५४.

११. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४२; ख. वासाधिकार २७; ग. खिलाधिकार २२/२.

१२. समूर्तार्चनाधिकरण ४३/२.

कहते हैं।^१ बाह्य उपचार के दो भेद—स्पृश्य तथा अस्पृश्य निर्दिष्ट हैं।^२ आसन, पादपीठ, पादुका, अर्घ्य, तैल, स्नानाङ्गमर्दन, वस्त्रोपवीताभरण, गन्ध, पुष्पाङ्गराग—ये सभी स्पृश्य उपचार में प्रयुक्त होते हैं।^३

दर्पण, धूप, दीप, आरती अथवा नीराजन, चामर, छत्र, ध्वज, व्यजन, नृत्त, गेय, वाद्य, स्तोत्रवाद्य तथा घोष आदि—अस्पृश्य उपचार के नाम से अभिहित हैं।^४ भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य तथा पेय—ये सभी पाँच आभ्यन्तर उपचार से व्यवहृत हैं।^५ दन्तमार्जन, जिह्वाग्रमार्जन, मुखवास तथा जल—ये सभी बाह्याभ्यन्तर उपचार के नाम से जाने जाते हैं।^६

संख्या की दृष्टि से उपचार के नव भेद उत्तमोत्तम बताये गये हैं,^७ जो इस प्रकार हैं—

पूजा के ६४ उपचार— आसन, स्वागत, अनुमानन, पाद्य, आचमन, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, अर्घ्य, आचमन, स्नान प्लोत, वस्त्र, उत्तरीय, भूषण, उपवीत, पाद्य, आचमन, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, आचमन, हवि, मन्त्र, पानीय, आचमन, मुखवास, पाद्य, आचमन, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, अर्घ्य, आचमन, दर्पण, छत्र, चामर, तालवृन्त, ध्वज, गज, रथ, अश्व, नृत्त, गेय, वाद्य, आयुधसेवा, मङ्गल, वेद, पुराण, मात्रा, मधुपर्क, हवि, होम, पानीय, आचमन, मुखवास, बलि, प्रणाम, पुष्पाञ्जलि, स्तुति, दक्षिणा, तथा अनुमानन—ये सभी चौसठ उपचारों के अन्तर्गत प्रयुक्त होते हैं।^८ विमानार्चनकल्प में सर्वोत्तम पूजन में चौबीस उपचारों को स्वीकारा गया है।^९

१. समूर्तार्चनाधिकरण ४३/२.

२. वासाधिकार २५.

३. वासाधिकार २५.

४. वासाधिकार २५.

५. वासाधिकार २५.

६. वासाधिकार २५.

७. क्रियाधिकार १०/२-४.

८. क्रियाधिकार १०/९-१६.

९. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४२;

ख. ज्ञानकाण्ड ७३;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ४३/६-१०; घ. वासाधिकार २५.

षोडशोपचार में—आसन, स्नान, वस्त्र अलङ्कार, पाद्य, आचमन, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, अर्घ्य, आचमन, हवि, पानीय, आचमन, मुखवास तथा दक्षिणा की गणना की गयी है।^१

उपचारविधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।^२ सर्वप्रथम आवाहन करने को कहा गया है। वह दो प्रकार का अचल तथा चल निर्दिष्ट है।^३ तत्पश्चात्, आसन, स्वागत, अनुमानन, पादुका, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, उत्तरीय, भूषण, पुष्प, गन्ध, अक्षत, धूप, दीप, मधुपर्क, हवि, पानीय, मुखवास, होम, दण्डप्रणाम, पञ्चाङ्गप्रणाम तथा उद्वासनादि उपचारक्रिया सम्पन्न की जाती है।^४

नित्यार्चन पूजाकाल के अन्तर्गत—षट्काल, त्रिकाल, द्विकाल अथवा एककाल का विधान है।^५

यहाँ इनके फल का भी क्रम बताया गया है। उषाकाल की अर्चना से प्रजा तथा पशु की वृद्धि होती है। मध्याह्न अर्चन से राजराष्ट्र की अभिवृद्धि, सायंकालार्चन से सर्वसम्पदा-अभिवर्धन, अपराह्णार्चन से दैत्यनाश, निशीथार्चन से चतुष्पदाभिवर्धन होता है।^६ देवालयों में त्रिकाल पूजन को प्रशस्त कहा गया है।^७ नवधा पूजाकाल-विभाग का भी निरूपण प्राप्त होता है।^८

नित्यार्चन उपक्रम में अर्चनाङ्गभूत चतुर्दश कर्मों का उल्लेख है—
१. मनसा मन्त्रोच्चारण, २. प्रणिधापन, ३. सम्भाराहरण, ४. सामग्री-शोधन, ५. हरिसेनेश का अर्चन, ६. ध्यानसमावेश, ७. देवावाहन, ८. अव्यग्र

१. विमानार्चनकल्प, पटल ४२.

२. क. खिलाधिकार २२; ख. ज्ञानकाण्ड ७३.

३. ज्ञानकाण्ड ७३.

४. क. खिलाधिकार २२; ख. ज्ञानकाण्ड ७३; ग. वासाधिकार २४.

५. क. प्रकीर्णाधिकार १८/२४९;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण १८/२४९.

६. प्रकीर्णाधिकार १८/२५०-२५३.

७. खिलाधिकार २४/२४.

८. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

रूप से समस्त अनुष्ठान करना ९. याचन, १०. परिपूजन, ११. अर्घ्यदान, १२. परिवारसमर्चन, १३. यूथाधिप-पर्यन्त पूजन, १४. बलिदापन।^९

यजमान^२ तथा अर्चक^३ के लक्षणों को सविस्तार बताया गया है। यहाँ ये लक्षण पूर्व में दिये गये लक्षणों के प्रायः अनुरूप हैं। अर्चक ब्राह्म मुहूर्त में उठे। मन्त्रस्नान करे, आचमन, प्राणायाम, सावित्रीजप करे, सन्ध्या-उपासना कर ब्रह्मयज्ञ करे।^४ यजमान परिचारकों के साथ सभी वाद्यों के साथ देवागार की ओर प्रस्थान करे।^५ देवमन्दिर में प्रवेश कर विमान की परिक्रमा कर कवाटोद्घाटन कर देव के समक्ष प्रणामाञ्जलि दे।^६

आलय में प्रवेश कर, देव को प्रणाम कर, भेरी-पणव-शङ्ख-आदि सर्ववाद्यघोष से देव को प्रबोधित करे।^७ आदर्श गाय, कन्या, हाथी, अश्व, वेदज्ञाता ब्राह्मण, नर्तक, गायकों और माङ्गलिकों को देव के समक्ष स्थापित कर यवनिका का उद्घासन, नीराजन कर माङ्गलिकों को देवदर्शन कराये।^८ इसे ही विश्वदर्शन कहते हैं। तत्पश्चात् सम्भारार्चन का कार्य सम्पादित किया जाता है, जिसका विभिन्न मन्त्रों द्वारा विस्तार से विवेचन किया गया है।^९

हविष्पाक के लिए आलय के प्रथमावरण या द्वितीयावरण में पाकशाला होती है। अर्चक के गृह में भी पाक कार्य हो सकता है।^{१०} हविष्सामग्री^{११}, प्रमाण आदि के निर्देश के साथ इनके विधि का क्रम भी निर्दिष्ट है।^{१२} विभिन्न देवों के

१. समूर्तार्चनाधिकरण ४४/५७-६४.
२. प्रकीर्णाधिकार १८/२६-३०.
३. क. खिलाधिकार २२/१७८-१८०; ख. वासाधिकार २६.
४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४१; ख. वासाधिकार २६.
५. प्रकीर्णाधिकार १८/३५-३७.
६. क. खिलाधिकार २०/४०-४५;
ख. समूर्तार्चनाधिकरण ४०/९-१४.
७. खिलाधिकार २४/२८.
८. प्रकीर्णाधिकार १८/४५-५१.
९. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४१; ख. प्रकीर्णाधिकार १८; ग. वासाधिकार २६, २८.
१०. क. प्रकीर्णाधिकार १९/६१; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.
११. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४३; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ४५/३-४.
१२. तत्रैव.

आवाहन, अर्चन, हौत्रशंसनादि में आने वाले मूर्तिमन्त्रों का निर्वचन किया गया है।^१

मन्त्रासन, स्नान-आसन, अलङ्कारासन, भोज्यासन, यात्रासन तथा पर्यङ्कासन—ऐसे छः आसनों का उल्लेख है।^२ मन्त्रासन में त्रयोदशोपचार से पूजन होता है या पञ्चोपचार भी हो सकता है।^३ स्नानासन में षट्त्रिंश या आठ उपचारों का विधान है।^४ अलङ्कारासन में अष्टाईस अथवा दशोपचार का प्रयोग परिलक्षित है।^५ भोज्यासन में षोडश या पञ्चोपचार का क्रम दिया जाता है।^६ यात्रासन में षोडश या पञ्चोपचार का विधान वर्णित है।^७ मृगनाभि, ताम्बूल, गन्ध, पुष्प, प्रदक्षिणा तथा नमस्कार—ये छह उपचार पर्यङ्कासन में विहित हैं।^८ चल तथा अचल आसन—ये दो भेद भी बताये गये हैं।^९ मन्त्रासन में उपचार-समर्पण के विभिन्न मन्त्रों के विनियोगों का प्रयोग भी प्रतिपादित है।^{१०}

स्नानासन में परब्रह्म को मन्त्र द्वारा कौतुकबिम्ब में आवाहित कर स्नानपीठ पर संस्थापित कर, आसन, स्नपन, पाद्य, आचमन, प्लोत, अलकामोचन, तैल, केशबन्धन, पुष्प, ताम्बूल, चामर, दन्तधावन, आम्ल, आमलक, पञ्चक्षीर, अङ्कशोधन वास, हरिद्राकल्क, गन्धोदकस्नान, प्लोत, वस्त्र दाम, उत्तरीय, उपवीत, पवित्र, कुङ्कुम, स्नक्, चन्दन, धूप, दीप, शुद्धाभिषेक, आचमन, कटक, वस्त्र, आचमन तथा पुष्पदाम—ये षट्त्रिंश उपचार दिये जाते हैं।^{११} 'इषे त्वा' या पुरुषसूक्त से स्नपनकार्य सम्पादित

१. क. विमानार्चनकल्प, पटल २०; ख. समूर्तार्चनाधिकार ३६; ग. ज्ञानकाण्ड ७४.
२. वासाधिकार २७, २४.
३. वासाधिकार २४, २५.
४. वासाधिकार २४, २७.
५. वासाधिकार २४.
६. वासाधिकार २७, २४.
७. वासाधिकार २७, २५.
८. वासाधिकार २४.
९. अर्चनाधिकार २५, २६.
१०. क. प्रकीर्णाधिकार १८/१०९-११९; ख. खिलाधिकार २०/६१-७३; ग. वासाधिकार २५.
११. क. वासाधिकार २६; ख. क्रियाधिकार ९/५४-६९; ग. खिलाधिकार २०/९०.

किया जाता है। विष्णुपञ्चक, संक्रान्ति तथा राजा के जन्मादि के अवसर पर नित्यस्नानोक्त मार्ग से अभिषेक का विधान होता है।

अलङ्कारासन में देव वस्त्र, कुङ्कुम, आभूषण, उत्तरीय, यज्ञोपवीत, पुष्प, माला, गन्ध, अञ्जन, ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक, धूप, दर्पण, स्तोत्रपाठ, पादुका, सवारी, रथ, घोड़े, हाथी, आरती, आचमन, छत्र, चामर, पाँच प्रकार के वाद्य, तथा नृत्त इस प्रकार अट्टाईस उपचार से पूजित होते हैं।^१ कुश, अक्षत, जल, शरणागति, ओङ्कार से परिपूर्ण गायत्री, ध्रुवस्थान का प्रोक्षण, 'संयुक्तमेत' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा ध्रुव तथा कौतुक के ऊपर कूर्च का प्रक्षेपण करे।^२

भोज्यासन में हविर्निवेदन उत्तमोत्तम भेद से चार प्रकार का होता है। चारों समय में हवि का दान उत्तमोत्तम कहलाता है। तीन काल में हवि निवेदन उत्तम कहलाता है। दो कालों में निवेदन मध्यम कहलाता है। एककालिक निवेदन अधम कोटि का होता है।^३ कुछ लोग हविनिवेदन तीन कालों में ही उत्तमोत्तम स्वीकार करते हैं।^४

हविर्निवेदन से पूर्व मधुपर्क का विधान विहित है।^५ पश्चात् आचमन, समभाग में दधि, क्षीर, मधु, घृत, इक्षुरस 'अग्निमीले' मन्त्र से मधुपर्क की क्रिया सम्पादित होती है। पाँचों द्रव्यों में यदि सभी न प्राप्त होवें, तो मात्र दधि से भी अर्चा हो सकती है।^६ हवि-अर्पण समय में देव का दर्शन तथा प्रणामादि वर्जित है।^७ हविर्निवेदनविधि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।^८

१. क. वासाधिकार २६; ख. विमानार्चनकल्प, पटल ४१;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ४०/९-८३, ८६-९८.

२. क. ज्ञानकाण्ड ६९; ख. खिलाधिकार २०/९०, ९२;

ग. प्रकीर्णाधिकार; घ. समूर्तार्चनाधिकरण ४०/७९-८३.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ४५/७३-७४.

४. ज्ञानकाण्ड ७५.

५. प्रकीर्णाधिकार १८/१९९.

६. क्रियाधिकार ९/१५७-१५८.

७. प्रकीर्णाधिकार १८/२०४.

८. क. यज्ञाधिकार ३२/७४-८०; ख. क्रियाधिकार ९/१५८-१७०;

ग. समूर्तार्चनाधिकरण ४०/९९-१११; घ. ज्ञानकाण्ड ७०;

ङ. विमानार्चनकल्प, पटल ४१.

नारायण के पश्चात् अन्य देवों के लिए निवेदित अन्न-प्रसाद अर्चक को ही या उन देवताओं के भक्त को ग्रहण करना चाहिए। ब्राह्मणों के लिए सर्वथा निषेध है। यदि ब्राह्मण प्रसादग्रहण करता है, तो उसे प्रायश्चित्त स्वरूप चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।^१ अन्य देवों में भी जो सौम्य देव हैं, उन देवों के निवेदित अन्न को पुजारी या भक्त ग्रहण कर सकते हैं। रुद्र आदि क्रूर देवों के निवेदित अन्न को जल या अग्नि में विसर्जित कर देना चाहिए।^२

देवेश के लिए निवेदित प्रसाद को प्राप्त करने से सभी पापों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। तथा पवित्र शरीर से सभी कार्यों को करने का अधिकारी हो जाता है।^३ विष्णु को जो हवि प्रदान करता है, उसे अनन्त फल प्राप्त होता है।^४ प्रातःकाल अर्चन के पश्चात् कवाट बन्द कर देना चाहिए।

यात्रासन में तीनों कालों में बलि देना उत्तम माना गया है। द्विकाल को मध्यम तथा एक काल को अधम की श्रेणी में रखा गया है।^५ पूर्वाह्न तथा मध्याह्न में अन्नबलि समर्पित की जाती है। सायंकाल में अर्घ्यबलि दी जाती है। प्रातःकाल जो पुष्पबलि देता है, वह अधम कल्प में आता है।^६ दर्पणादि वस्तुओं द्वारा राजोपचार अर्पित करना चाहिए।^७ तत्पश्चात् मन्त्रपुष्पाञ्जलि दी जाती है।^८ तदनन्तर अर्चक के द्वारा तीर्थप्राशन करना चाहिए।^९ पुजारी के लिए ही यह विधि विहित है। इस प्रकार के प्रातःकालीन पूजानन्तर मन्दिर का किवाड़ बन्द कर देना चाहिए।^{१०}

१. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

२. ज्ञानकाण्ड ७५.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ४३.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४३;

ख. ज्ञानकाण्ड ७५.

५. खिलाधिकार २४/९४-९५.

६. खिलाधिकार २४/९५-९६.

७. क्रियाधिकार ९/१५३-१५४.

८. प्रकीर्णाधिकार १८/१८५-१८६.

९. प्रकीर्णाधिकार १८/२४८.

१०. क. खिलाधिकार २०/१९१-१९२; ख. यज्ञाधिकार ३२/८७;

ग. विमानार्चनकल्प, पटल ४१.

श्री तथा भूदेवी का नित्यार्चन षोडशोपचार द्वारा निर्दिष्ट है।^१ पूजाद्रव्य के परिमाण आदि के आधार पर नित्यार्चन की नौ विधियों का वर्णन प्राप्त होता है।^२ सपत्नीक विष्वक्सेनार्चन^३, सपत्नीक गरुडार्चन^४, शेषनाग का नित्यार्चन तथा इनके अर्चन का फल^५ भी प्रतिपादित है। सपरिवार सूर्यादि नित्यार्चन^६ का विधान विस्तार से उल्लिखित है।

धनधान्यादि-वृद्ध्यर्थ अर्चन को पौष्टिक नाम से अभिहित किया गया है।^७ यत्किञ्चिदभिकांक्ष्यार्थ आराधना को काम्य अर्चना बताया गया है।^८ पूर्वाह्न में शान्तिक, मध्याह्न में पौष्टिक तथा अपराह्न में काम्यार्चन का समय निर्धारित किया गया है।^९ त्रिविध अर्चनाओं की विधियाँ सविस्तार निर्दिष्ट हैं।^{१०} पूजाद्रव्यपरिमाणादि के अनुरोध से अर्चना की नव विधियाँ भी निरूपित हैं।^{११} नित्यार्चन के साङ्गोपाङ्ग निरूपण के लिए वैखानसागमकोश भाग ६ के प्रथम तथा द्वितीय भाग को देखा जा सकता है।^{१२}

-
१. क. प्रकीर्णाधिकार १८/१८६-१८७; ख. वासाधिकार २७;
ग. खिलाधिकार ४२/४२-६४; घ. ज्ञानकाण्ड ७६.
 २. क. समूर्तार्चनाधिकरण ४६/१-२; ख. ज्ञानकाण्ड ७६;
ग. खिलाधिकार २४/१-२; घ. विमानार्चनकल्प, पटल ४५.
 ३. वासाधिकार २३.
 ४. वासाधिकार २४.
 ५. वासाधिकार २५.
 ६. खिलाधिकार ४३-६३.
 ७. क्रियाधिकार १९/३.
 ८. क्रियाधिकार १९/४.
 ९. क्रियाधिकार १९/५.
 १०. क्रियाधिकार १९/६-३८.
 ११. क. समूर्तार्चनाधिकरण ४६/१-२; ख. ज्ञानकाण्ड ७६;
ग. विमानार्चनकल्प, पटल ५४; घ. निरुक्ताधिकार २५.
 १२. वैखानसागमकोश भाग ६ का (प्रथम तथा द्वितीय भाग) राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, २००७.

उत्सव

उत्सव लोकजीवन को गतिमान् बनाये रखते हैं। सरसता, समरसता, सौहार्द, सहयोग, समन्वय और सुख की सृष्टि उत्सवों से ही होती है। सामाजिक जीवन में उत्सवों का विशेष महत्त्व होता है। उत्सवों से जन-जीवन में उत्साह और उमंगों का सञ्चार होता है। भारत एक उत्सवप्रधान देश है। सामान्यतः उत्सव शब्द उत् पूर्वक 'सू' धातु में 'अप्' प्रत्यय के साथ निष्पन्न होता है, जिसका अभिप्राय पर्व, हर्ष या आनन्द के अवसर का परिचायक है।^१ 'सू' धातु प्रसव-ऐश्वर्य (प्रसवैश्वर्ययोः) या 'षु अभिषेक' (षुज्) धातु की महत्ता अभिषवन अर्थ में रही है।^२

समूर्तार्चनाधिकरण ने उत्सव को परिभाषित करते हुए कहा है—

उत्सवं सर्वलोकानां शान्तिपुष्टिकरं विदुः ।

सवो यज्ञः समाख्यातः सर्वयज्ञविशेषतः ॥

उत्कृष्टोऽयं यतस्तस्मादुत्सवस्त्विति कीर्त्यते ॥^३

अर्थात् 'सव' को यज्ञ कहा गया है। यज्ञ से उत्कृष्ट होने के कारण भगवदाराधन-रूप इस क्रियाविशेष को उत्सव कहते हैं। उत्सव के द्वारा लोक में शान्ति और पुष्टि होती है। पाञ्चरात्र आगम की नारदीयसंहिता में भी यही परिभाषा दी गयी है।^३

उत्सव सामान्य रूप से तीन तरह के होते हैं—(१) नित्योत्सव, (२) शान्त्युत्सव तथा (३) श्रद्धोत्सव।^४ बारहों माह के प्रत्येक मास में नित्य संकल्पित किया जाने वाला उत्सव नित्योत्सव कहा जाता है। भय, दुर्भिक्ष, व्याधि, ग्रहपीडादि की शान्ति के लिए किये जाने वाले उत्सवाचरण को शान्त्युत्सव कहते हैं। श्रद्धा द्वारा किये जाने वाले उत्सव को श्रद्धोत्सव कहते

१. पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, पृष्ठ ५१२-५१३.

२. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/२-३.

३. नारदीयसंहिता १८/१-२.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ५१.

हैं।^१ ज्ञानकाण्ड तथा समूर्तार्चनाधिकरण में कालोत्सव, (२) श्रद्धोत्सव तथा (३) निमित्तोत्सव या नैमित्तिकोत्सव का वर्णन प्राप्त होता है।

कश्यपज्ञानकाण्ड में कालावधि को आधार मानकर उत्सव के नव भेदों का निर्देश मिलता है—३० दिनों का उत्सव उत्तमोत्तम, २५ दिनों का उत्सव उत्तम, २१ दिनों का उत्तमाधम, १५ दिनों का मध्यमोत्तम, १२ दिनों का मध्यम, नव दिनों का मध्यमाधम, एक सप्ताह का अधमोत्तम, पाँच दिनों का अधममध्यम तथा तीन दिनों का या एक दिन का अधमाधम कहा गया है।^२

समूर्तार्चनाधिकरण में भी उत्तम, मध्यम तथा अधम का भेद करते हुए नव प्रकार के उत्सव का विधान देखते हैं। ज्ञानकाण्ड से अन्तर यहाँ यह है कि पक्ष, त्रयोदश, एकादश, नवाह, सप्ताह या पञ्चाह, त्रिदिन, द्विदिन अथवा एक दिन का उल्लेख है।^३ विमानार्चनकल्प में नवाहोत्सव, सप्ताहोत्सव तथा पञ्चाहोत्सव का निर्देश है।^४ पाञ्चरात्र की पारमेश्वरसंहिता में भी समयावधि को आधार मानकर विविध उत्सव-स्वरूपों का विवेचन किया गया है।^५

उत्सव का प्रारम्भ तीन तरह से होता है और उसीके आधार पर पूर्वोक्त एक-एक उत्सव तीन-तीन तरह के हो सकते हैं। (१) ध्वजारोहण-पूर्वक, (२) देवताह्वानपूर्वक तथा (३) अंकुरार्पणपूर्वक। सामान्यतः सभी उत्सवों में ध्वजारोहण, देवताह्वान तथा अंकुरार्पण किया जाता है।^६ पारमेश्वरसंहिता में प्रत्येक उत्सवों को परिभाषित किया गया है। जैसे **ध्वजारोहणपूर्वक उत्सव** उसे कहते हैं, जहाँ उत्सवारम्भ-दिन में ध्वजारोहण सम्पादित कर रात्रि में भेरी-ताडन तथा पालिकाओं में अंकुरार्पण कर उत्सवाचरण होता है। **देवताह्वान पूर्वक** वह उत्सव है, जिसमें भेरी-ताडनपूर्वक आघोषण कर उसके पश्चात् अंकुरार्पण कर उत्सवाचरण

१. क. ज्ञानकाण्ड ८८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/४-६.

२. ज्ञानकाण्ड ८८.

३. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/९-११.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ५१.

५. पारमेश्वरसंहिता १६/९-११.

६. क. ज्ञानकाण्ड ८८; ख. समूर्तार्चनाधिकरण ५४.

करते हैं। उसे देवताह्वान उत्सव कहते हैं। अंकुरार्पणपूर्वक उत्सव—जहाँ सायंकाल में अंकुरार्पण के पश्चात् ध्वजारोहण तथा उसके अनन्तर भेरी ताडन किया जाता है और उत्सवाचरण होता है उसे अंकुरार्पणपूर्वक उत्सव कहा जाता है।^१

उत्सवाचरण के लिए अधोलिखित काल कहे गये हैं—मार्गशीर्ष मास, श्रवण नक्षत्र, द्वादशी, विषुव तथा राजा या यजमान के जन्म नक्षत्र तिथियों में उत्सवाचरण विहित है। ग्राम जन्म-नक्षत्र, प्रतिष्ठा-दिन, इन सबमें तीर्थयात्रा का विधान किया गया है।^२

पाञ्चरात्र के नारदीयसंहिता तथा विष्वक्सेनसंहिता में भी उक्त समय का ही विधान देखते हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि यहाँ चैत्रमासादि का निर्देश है।^३

वैखानस विधान के अनुसार उत्सव ध्वजारोहणपूर्वक होना ज्यादा श्रेयस्कर कहा गया है। ध्वजारोहण के लिए ध्वजपट-कल्पन आवश्यक है। ध्वज का मान चार हस्त आयत एवं चतुस्ताल विस्तारयुक्त एक हस्तोन्नत शिर दो पाद से संयुक्त यथारुचि पताका का आयाम तथा विस्तार विहित है। ध्वज पर गरुड का चिह्न अंकित करते हैं। गरुड द्विभुज, पक्ष-संयुक्त है। उसका उच्छ्राय मूल बेर के बाहु, कर्णान्त अथवा नाभि के अन्त तक कहा गया है। उसका कल्पन नवताल-प्रमाण से विहित है। गरुड (श्वेत, रक्त, हरित, कृष्ण तथा पीत) पञ्चवर्ण-समायुत, सुवर्ण सदृश, कुण्डल आदि से विभूषित, मुकुटोज्ज्वल, हेमपिञ्जरवर्णाङ्ग तथा सर्वालङ्कार-सुशोभित होता है। गरुड का वाम पाद संकुचित तथा दक्षिण पाद संप्रसारित दक्षिण वाम हस्त में चक्र, शंख तथा स्वस्तिकासीन कल्पित है।^४

१. पारमेश्वरसंहिता १६/३१-३५.

२. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/१२-१५; ज्ञानकाण्ड ८८;
विमानार्चनकल्प, पटल ५१.

३. नारदीयसंहिता १८/१२-१५;
विष्वक्सेनसंहिता २७/१०-११.

४. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/१६-२७;
ज्ञानकाण्ड ८८.

पूर्वलक्षणों से युक्त गरुडध्वज के लिए ध्वजदण्ड का स्वरूप प्रतिपादित है। ब्राह्मण के लिए वैणव (वेणु), क्षत्रिय के लिए जाति, वैश्य के लिए चम्पक तथा शूद्र के लिए क्रमुक का विधान है। ध्वजदण्ड को ऋजु तथा कृमिकीट रहित होना चाहिए। ध्वजदण्ड का आयाम विमान के आधार पर तय किया जाता है। विमान के समान, चौथाई तथा अर्ध आयाम निर्दिष्ट है।^१ ध्वजदण्ड आयाम के षट्, पञ्च अथवा चतुः भाग में वैणवी यष्टि का संयोजन किया जाता है। तत्पश्चात् पताकासहित ध्वज का उसमें संयोजन होता है। ध्वजस्थापन के लिए भूमि को पञ्चताल, चतुस्ताल अथवा त्रिताल खोदते हैं।^२

इतनी क्रिया सम्पन्न करने के पश्चात् यजमान आचार्य का वस्त्रादिदान के द्वारा सम्मान करता है। फिर दोनों चक्र और ध्वज का देव के सम्मुख पूजन का विधान होता है। ध्वज को संप्रोक्षित करना, ध्वज में गरुड की अर्चना और चक्र से विष्वक्सेन का विधिपूर्वक अर्चन सम्पन्न करते हैं। मुखवासादि निवेदित कर यहाँ ब्रह्मघोष किया जाता है। वादकादि को वस्त्रादि से अलङ्कृत कर उनके द्वारा भेरी-ताडन का विधान विहित है। ब्रह्मघोष के पश्चात् बलि दिया जाता है। ग्राम के बाहर वीथि के सन्धि में भूतों, यक्षों, पिशाचों, राक्षसों, सर्पों तथा गन्धर्वों आदि को पुष्प, जल आदि की बलि दी जाती है। दिशाओं में मन्त्रघोष किया जाता है। यज्ञ-उत्सव की घोषणा होती है। ग्राम तथा नगरादि में गद्य-पद्यादि घोषित किए (गाये) जाते हैं। इस प्रकार के उत्सव से ही हरि प्रसन्न होते हैं। ऋषि, पितर सपत्नीक मुदित होते हैं। इस उत्सव-काल में सभी सादर पधारते हैं और प्रीतिपूर्वक बलि ग्रहण करते हैं। विप्रादि सभी अलङ्कृत होते हैं। वादकगण सभी वाद्यों को ग्राम के मध्य, विमान तथा ब्रह्मस्थान में बजाते हैं। पुनः इसी क्रम से देवालय में वापस आते हैं। पूर्वोक्त आलयावरण-भ्रमण एवं ग्राम-भ्रमण काल में ध्वज के गिर जाने पर भयंकर विनाश की बात उल्लिखित है; उसके शान्ति के उपाय भी निर्दिष्ट हैं। ध्वजारोहण के समय त्रिकाल-अर्चन तथा महाहविष-निवेदन किया जाना विहित है। इस प्रकार ध्वजारोहण उत्सवाङ्ग क्रम समाप्त होता है।^३

१. विमानार्चनकल्प, पटल ५१; समूर्तार्चनाधिकरण ५४/२८-३१.

२. समूर्तार्चनाधिकरण ५४/३२-३७.

३. समूर्तार्चनाधिकरण-५४/३८-८२; विमानार्चनकल्प, पटल-५१.

उत्सवाङ्ग-कर्म ध्वजारोहण तथा भेरी-ताडनपूर्वक देवताह्वान के पश्चात् अङ्कुरार्पण के विषय में कुछ विवरण प्रस्तुत है। उत्सवारम्भ-दिन के पूर्वाह्ण में विधिवत् देव का स्नपन तथा महाहविष्-निवेदन सम्पादित कर अपराह्न में मृदाद्युत्सव शुरु होता है। इस क्रम में अत्यन्त समारोहपूर्वक पुण्योद्यान अथवा वन से 'मृत्संग्रह' करते हैं।^१

महोत्सव के आरम्भ में आचार्य और यजमान प्रातः स्नान कर दोनों मिल कर रथ, शिबिका या डोली को विविध अलङ्कारों से सजाते हैं। पूजित वाहन पर उत्सवार्चा या देव-विग्रह को स्थापित किया जाता है। तत्पश्चात् शङ्ख, वीणा, वेणु, मृदङ्ग, पणव तथा भाण्डादि वाद्य का घोष, जयनाद, स्तुति तथा नर्तक और गायकों तथा भक्तों के साथ महान् समारोहपूर्वक वाहन द्वारा प्रासाद की प्रदक्षिणा कर ग्रामवीथी-भ्रमण किया जाता है। भ्रमणकाल में बलि पुष्प-फलादि देवोपहार देनेवाला देव के आगे दूर चलता है। समलङ्कृत ग्राम अथवा नगर का प्रदक्षिणाक्रम से परिभ्रमण कर विभिन्न दिशाओं में बलि-प्रदान करते हुए ग्राम के मध्य उत्सव की समाप्ति होती है। इस प्रकार ग्राम तथा आलय का परिभ्रमण कर भगवदाराधनानन्तर विग्रह को वाहन से अवतरित कराते हैं। पुनः देवालय में पुष्प से उनकी आराधना की जाती है।

महोत्सव के समय नित्याराधन में कुछ विशेष विधान किया जाता है। सामान्य दिनों की अपेक्षा महोत्सव के समय में विशेष भोग विहित है। नित्य ब्राह्मणों एवं दीक्षितों को भोजन कराया जाता है। प्रतिदिन प्रदक्षिणा का समारोहपूर्वक होना विहित है। भूततर्पण का विधान किया जाता है।^२

उत्सव का अन्तिम अङ्ग तीर्थोत्सव होता है। इसका विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।^३ नारदीयसंहिता में भी इस उत्सव का सविस्तृत निर्देश है।^४ तीर्थयात्रा के पश्चात् पुष्पयाग का अवसर आता है। पुष्पयाग का पूर्ण विधान प्रतिपादित है।^५

१. विमानार्चनकल्प, पटल-५२; समूर्तार्चनाधिकरण-५५/१-३७.

२. ज्ञानकाण्ड ८९.

३. ज्ञानकाण्ड ८९; विमानार्चनकल्प, पटल ५४; समूर्तार्चनाधिकरण-५६.

४. नारदीयसंहिता अध्याय १९.

५. विमानार्चनकल्प, पटल ५४.

वैखानसागम-ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त अन्य उत्सवों का विधिवत् वर्णन किया गया है। जैसे पवित्रोत्सव का विधान सविस्तार वर्णित है। यह विषय वैखानस तथा पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में प्रतिपादित है।^१ शैवागम ग्रन्थों में भी पवित्रोत्सव का विधान निर्दिष्ट है।^२

पवित्रारोपण का फल प्रतिपादित करते हुए मुनि मरीचि करते हैं कि यह सर्वयज्ञफलप्रद, सर्वदोषोपशमन, सर्वतुष्टिकर, सर्वकामप्रद, सर्वलोकशान्ति प्रदान करने वाला है। मन्त्रक्रिया तथा द्रव्यहानि आदि दोषों की शान्ति के लिए पवित्रारोपण का विधान होता है। पवित्रारोपण के बिना जो पूजा की जाती है, वह निष्फल होती है, राज-राष्ट्र का विनाश करती है, अतः पवित्रारोपण करना चाहिए।^३

इसका इष्टकाल आषाढ, श्रावण प्रोष्ठप्रद मास कुछ लोगों के मत में निर्दिष्ट है तथा कुछ लोग शुक्ल द्वादशी को सम्पादित करने को कहते हैं।^४

वैखानसागम-ग्रन्थों में पवित्र की सूत्र-संख्या बताई गई है। उत्तमादि पवित्र-भेद के आधार पर निम्नलिखित रूप से पवित्रों की सूत्र-संख्या विहित है—

- | | | | |
|------------------|-----------|------------------|-----------------------|
| १. उत्तम पवित्र | १०८ सूत्र | २. मध्यम पवित्र | ५४ सूत्र |
| ३. अधम पवित्र | २७ सूत्र | ४. वनमाला पवित्र | १००८ सूत्र |
| ५. अधिवास-पवित्र | २५ सूत्र | ६. परिवार पवित्र | १२ सूत्र ^५ |

पवित्र-सूत्र-संख्या-वर्णन के बाद पवित्र-ग्रन्थियों का वर्णन द्रष्टव्य है। पवित्र-कल्पन के क्रम में सूत्र के बीच-बीच में ग्रन्थि देते हैं। इस ग्रन्थिबन्धन के विषय में भी सामान्यतः सभी संहिताएँ समान मत की नहीं हैं। ग्रन्थि का प्रमाण अंगुष्ठाग्र के समान होना चाहिए। विविध पवित्रों में अधोलिखित क्रम से ग्रन्थियों की संख्या भिन्न-भिन्न कही गई है। जैसे—

-
१. वासाधिकार ३९; प्रकीर्णाधिकार ३२; विमानार्चनकल्प, पटल ७८; पारमेश्वरसंहिता १२; ईश्वरसंहिता १४.
 २. सोमशम्भुपद्धति, पृष्ठ २१५.
 ३. विमानार्चनकल्प, पटल-७८.
 ४. विमानार्चनकल्प, पटल-७८.
 ५. क. विमानार्चनकल्प, पटल ७८; ख. प्रकीर्णाधिकार ३२/५५-५६.

पवित्र नाम	ग्रन्थि संख्या
१. कनिष्ठ पवित्र	द्वादश ग्रन्थि
२. मध्यम पवित्र	चतुर्विंशति ग्रन्थि
३. उत्तम पवित्र	षट्त्रिंशत् ग्रन्थि
४. वनमाला पवित्र	अष्टोत्तरशत ग्रन्थि
५. अधिवास पवित्र	द्वादश ग्रन्थि
६. परिवार-पवित्र	अष्ट ग्रन्थि
७. दीक्षित पवित्र	द्वादश अथवा अष्ट ग्रन्थि ^१

अनिरुद्धसंहिता ने पवित्रसूत-संख्या की तरह ही पवित्र-ग्रन्थियों की कोई निश्चित संख्या का निर्देश नहीं किया है। यथेच्छ ग्रन्थि का विधान वर्णित है।^२ पवित्र-ग्रन्थि का स्वरूप पक्षी के अण्डे के समान अथवा धात्रीफल या स्थूल मुक्ताफल की तरह निर्मित होना कहा गया है।^३

ग्रन्थियुक्त पवित्र-कल्पन के पश्चात् उसके वर्ण-कल्पन का अवसर आता है। वैखानसागम-संहिताओं के अनुसार पवित्र रँगने के लिए हरिद्रा, कुंकुम, गोरोचन, सिन्दूर तथा गैरिक विशेष रूप से विहित हैं। पवित्रों के लिए सम्मिश्रित वर्ण अधोलिखित रूप में उत्तमादि भेद से निर्दिष्ट हैं—

१. श्रेष्ठ वर्ण—कर्पूर तथा कुंकुम का सम्मिश्रण।
२. मध्यम वर्ण—गोरोचन तथा सिन्दूर का सम्मिश्रण।
३. अधम वर्ण—हरिद्रा तथा गैरिक का सम्मिश्रण।

यहाँ हरिद्रा का ग्रहण कुंकुमादि के अभाव में कहा गया है।^४ पाञ्चरात्र संहिताओं में भी पवित्र को रँगने के लिए कुंकुमादि का प्रयोग बताया गया है।^५

१. क. मार्कण्डेयसंहिता २३/४५-४८; ख. वासाधिकार ३९;
ग. नारदीयसंहिता २३; घ. विमानार्चनकल्प, पटल ७८.
२. अनिरुद्धसंहिता २४/५१.
३. अनिरुद्धसंहिता २४/४१.
४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ७८,
ख. वासाधिकार ३९.
५. क. नारदीयसंहिता २३/३२;
ख. अनिरुद्धसंहिता २४/६०.

पवित्रारोपण प्रयोगविधि का विस्तार से विधान प्रतिपादित है। इसके करने से सभी कामनाओं की प्राप्ति होती है। अन्त में विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।^१

विमानार्चनकल्प तथा अन्यान्य वैखानसागम ग्रन्थों ने विविध विशिष्ट अर्चनों का निर्देश किया है। यथा—स्नपनोत्सव, विवाहविधि^२, मार्गशीर्ष द्वादशीपूजा, चैत्रमासपूजा, माघमासपूजा, लक्ष्मीपूजा, प्रौष्ठपदपूजा, फाल्गुनमास-पूजा, विशाखापूजा, कार्तिकमास-पूजा, श्रावणमास-पूजा, आषाढमासपूजा वैशाखमासपूजा, रेवतीनक्षत्र में महादेवीसहित देवपूजा, पुनर्वसुपूजा, ज्येष्ठमासपूजा तथा कृत्तिका दीपोत्सव का स्वरूप वर्णित हैं।^३ विविध विशिष्ट अवसरों पर सम्पादित होनेवाली उत्तम, मध्यम तथा अधम स्नपन विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं।^४

तिरुपति स्थित बालाजी का उत्सव जिस विधान से होता है, उसी भाँति काशी में भी पंचगंगा घाट स्थित श्री वैकटेश बालाजी मन्दिर में उत्सव का आयोजन किया जाता है। तदनुसार आश्विन मास के नवरात्र में ब्रह्म-महोत्सव होता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न वाहनों—शेर, घोड़े हाथी, सूर्यरथ, चन्द्रमारथ, हनुमानजी, मयूर, शेषनाग, दो घोड़े के रथ एवं गरुड पर चतुर्भुज भगवान् बालाजी की भव्य झांकी सजायी जाती है। ब्रह्म-महोत्सव के मूल नक्षत्र में भगवान् बालाजी का विवाह उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव ११ दिवसीय होता है। इसमें प्रत्येक दिन भगवान् बालाजी का विभिन्न स्वरूपों में शृंगार किया जाता है। साथ ही भजनों का भी आयोजन किया जाता है। कार्तिक की पूर्णिमा पर बालाजी का मक्खन से विशेष प्रकार से शृंगार किया जाता है। बालाजी को पंचामृत से स्नान कराने के बाद नवीन वस्त्रों को धारण कराया जाता है। चन्दन, इत्र, केसर तथा रोली आदि सुगन्धित फूलों से बालाजी का शृंगार किया जाता है। फल, फूल, नैवेद्य, ताम्बूल के साथ षोडशोपचार पूजन किया जाता है। वर्षा ऋतु

१. विमानार्चनकल्प, पटल ७८.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ४०.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ४६.

४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४७, ४८, ४९;

ख. समूर्तार्चनाधिकरण ५२.

में भगवान् बालाजी को मयूर एवं सावन में झूले पर बैठा कर वर्षा की मनोरम झांकी सजायी जाती है। काफी संख्या में श्रद्धालु भक्तगण दर्शनों के लिए आते हैं, दर्शनों का लाभ पाकर अपने जीवन को धन्य और कृतार्थ महसूस करते हैं। बालाजी के स्वरूप का ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—

श्रीवत्सं मणिकौस्तुभं च मुकुटं केयूरमुद्राङ्कितम्;
बिभ्राणं वरदं चतुर्भुजधरं पीताम्बरोद्भासितम् ।
मेघश्यामतनुं प्रसन्नवदनं फुल्लारविन्देक्षणं;
ध्यायेद् व्यङ्कटनायकं हरिरमाधीशं सुरैर्वन्दितम् ॥^१

इस प्रकार विविध वैखानसागम-ग्रन्थों में वर्णित तथा भक्तिभावना तथा उपासना के लिए प्रदर्शित इन उत्सवों का स्वरूप इस आगम-साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय कहा जा सकता है। आज भी दक्षिण-भारत के देवालियों में ये उत्सव भव्य समारोहपूर्वक सम्पादित होते हैं। ब्रह्मोत्सव^२ आदि अवसरों पर लाखों की संख्या में भक्तजन सम्मिलित होकर आध्यात्मिक लाभ से परिपूर्ण होते हैं।

स्नपन

विविध यागादि तथा आगमिक अनुष्ठानों में स्नपन अर्थात् अभिषेक एक प्रमुख क्रिया के रूप में प्रतिपादित हैं। वैखानस-परम्परा में विविध अवसरों पर स्नपन का विधान विहित है। स्नपन के निम्नलिखित अवसर बताये गये हैं—

प्रतिमा प्रतिष्ठा के अन्त में, उत्सव के अन्त में, विषुव दिन में, सूर्य-चन्द्र के राहुयोग होने पर, दुर्निर्मित के उदय होने पर, राजा तथा यजमान के जन्मदिन पर, दुःस्वप्न, दुर्भिक्ष तथा सर्वोपद्रव की शान्ति के लिए तथा ऐसे ही अन्यान्य अवसरों पर, स्नपन का विधान किया गया है।^३ यहाँ

१. खिलाधिकार २०/१६.

२. दैनिक समाचार पत्र आज, ८ अक्टूबर २००८.

३. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४८. ख. ज्ञानकाण्ड, ७७.

ग. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/१-४. घ. क्रियाधिकार, १३/१-४.

ङ. खिलाधिकार, २९/१-३.

स्नपन के तीन भेद बताये गये हैं—१. नित्य, २. नैमित्तिक तथा ३. काम्य ।^१ तीनों में प्रत्येक स्नपन का निमित्त-निर्देश भी किया गया है । सर्वप्रथम नित्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

अयनद्वये तथा विषुवे च स्नपनं यत् नित्यम् ।^२ अर्थात् अयनद्वय में तथा विषुव दिन में किया गया स्नपन नित्य नाम से जाना जाता है । नैमित्तिक का निदर्शन करते हुए कहा गया है—चन्द्रसूर्ये राहुग्रस्ते वा यत्स्नपनं तत्रैमित्तिकम् ।^३

इसके अतिरिक्त जो स्नपन किया जाता है उसे काम्य स्नपन कहते हैं । (नित्यनैमित्तिकस्नपनकालभिन्नेषु) शेषेषु यत्स्नपनं तत्काम्यम् ।^४ कलशसंख्या के अनुरोध से कश्यपज्ञानकाण्ड में नव प्रकार के स्नपन का विधान भी वर्णित है ।^५ पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी स्नपन-भेद का विवरण उपलब्ध है ।^६

स्नपन-क्रिया-सम्पादन के लिए स्नपनालयादि-कल्पन का विधान देखते हैं ।^७ स्नपन-क्रम में अङ्कुरार्पण का निर्देश निर्दिष्ट हैं तत्पश्चात् यह क्रिया स्नपन से पूर्व नवें, सातवें अथवा तीसरे दिन की जानी चाहिए ।^८ इसके पूर्व स्नपनसम्भारसंग्रहण करने को कहा गया है ।^९

स्नपन में द्वादश प्रधान द्रव्य होते हैं—१. पञ्चगव्य, २. घृत, ३. मधु, ४. दधि, ५. क्षीर, ६. गन्धोदक, ७. अक्षतोदक, ८. फलोदक,

१. क. प्रकीर्णाधिकार, २७/१९९. ख. विमानार्चनकल्प, पटल ६७.
ग. यज्ञाधिकार, ४६/२५-२६.
२. क. विमानार्चनकल्प, पटल ६७. ख. यज्ञाधिकार, ४६/२६.
ग. प्रकीर्णाधिकार, २७/२००.
३. तत्रैव.
४. क. विमानार्चनकल्प, पटल ६७. ख. प्रकीर्णाधिकार, २७/२०१. ग. यज्ञाधिकार, ४६/२६.
५. ज्ञानकाण्ड, ९०.
६. क. परमसंहिता २१/३७-४१.
ख. नारदीयसंहिता २०/८८-९४.
७. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४८. ख. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/३२-५८.
ग. ज्ञानकाण्ड, ८७. घ. वासाधिकार ३५.
८. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४७. ख. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/५.
ग. खिलाधिकार, २९/४.
९. खिलाधिकार २९/५-९.

९. कुशोदक, १०. रत्नोदक, ११. जप्योदक तथा १२. सर्वौषधियुक्त जल ।^१

स्नपन के लिए अपेक्षित कुम्भ के विचार क्रम में सुवर्ण, रजत तथा ताम्र का निर्देश है। अशक्य स्थिति में मृद् की भी मान्यता है।^२ स्नपन के लिए स्वीकृत कुम्भों का अधिवास किया जाता है। अधिवासित कुम्भों में तत्तत् स्नपन द्रव्यों का प्रक्षेप होता है। स्नपन के लिए स्वीकृत कलश-संख्या तथा उनमें प्रक्षिप्त (स्नपनद्रव्यों) के आधार पर स्नपन के अनेक भेद बताये गये हैं। स्नपन के ये विविध भेद वैखानसागम के अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। समूर्तार्चनाधिकरण ने १. उत्तम स्नपन, २. मध्यम स्नपन, तथा कनिष्ठ स्नपन—ये तीन भेद स्नपन के बताये हैं।^३ विमानार्चनकल्प ने उत्तम, मध्यम तथा अधम—ये तीन प्रकार के स्नपन, कलश संस्कार के समय निर्देशित किये हैं।^४ उत्तमोत्तम स्नपन के लिए द्वादश घटों में स्थापित पूर्वोक्त द्वादश द्रव्यों से स्नपन का विधान है।^५ खिलाधिकार में सहस्र कलश-स्नपन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।^६ पाञ्चरात्रागम की पारमेश्वरसंहिता ने इस स्नपन को अनन्त-कलश-स्नपन कहा है।^७

स्नपनद्रव्यन्यास^८, स्नपनपूर्व देवशायन विधान^९, स्नपनद्रव्यदेवार्चन^{१०},

-
१. क. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/७-९.
ख. विमानार्चनकल्प, पटल ४८.
ग. ज्ञानकाण्ड, ८७.
घ. खिलाधिकार, ३०/६, १८.
 २. क. क्रियाधिकार, ३०.
ख. प्रकीर्णाधिकार, ३५/४११-४१६.
 ३. अर्चनाधिकार, २५.
 ४. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/४८-४८-५०.
 ५. विमानार्चनकल्प, पटल ४८.
 ६. समूर्तार्चनाधिकरण, ४९/५२, ५३.
 ७. खिलाधिकार, ३०.
 ८. पारमेश्वरसंहिता १४/३४३.
 ९. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४९.
ख. ज्ञानकाण्ड, ८७.
 १०. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४९. ख. क्रियाधिकार, १३/२५-३२.
ग. ज्ञानकाण्ड, ८७.

स्नपनप्रयोग^१, शुद्धस्नपन प्रयोग^२, पञ्चगव्य स्नपन, पञ्चामृत स्नपन^३ का पृथक्-पृथक् विवरण आदि वैखानस विधान में देखे जाते हैं। समूर्तार्चनाधिकरण में महाभिषेक विषय का वर्णन एक सम्पूर्ण अध्याय में प्रतिपादित है।^४ महाभिषेक का फल अधोलिखित है—

भक्त्या यः कुरुते विष्णोरभिषेकं विधानतः ॥
 काम्यं च चक्रवर्तित्वं प्राप्य निष्कण्टकां महीम् ।
 चतुस्सागरपर्यन्तां प्राप्नोत्येव विशेषतः ॥
 अर्ध्यान्तं कारयेद्यस्तु विष्णुलोकं समासाद्य ।
 भक्त्या च परया युक्तो विष्णुवन्मोदते चिरम् ।
 एतेन विधिना विष्णोरालये तस्य संनिधौ ।
 अभिषेकं वरं राज्ञा कारयेदिति शासनम् ॥
 श्रियो देव्याश्च भूदेव्या देवदेवस्य चोपरि ।
 राजा तस्य प्रसादेन भूराज्यं श्रियमाप्नुयात् ।
 अनेन तत्प्रसादेन सदा संपदमाप्नुयात् ।
 इह लोके सुखान् भुक्त्वा अन्ते मोक्षं समाप्नुयात् ॥

१. क. समूर्तार्चनाधिकरण, ५१/७-२१.

ख. ज्ञानकाण्ड, ८८.

ग. यज्ञाधिकार ३५/१-११.

२. क. विमानार्चनकल्प, पटल ४९.

ख. प्रकीर्णाधिकार, २२/१२९-१५४.

ग. ज्ञानकाण्ड, ८९.

३. क्रियाधिकार, ३३.

४. समूर्तार्चनाधिकरण, ६४.

५. समूर्तार्चनाधिकरण, ६४/५१-५६.

तृतीय अध्याय दीक्षास्वरूप

आगम तथा तन्त्रशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में दीक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। वैष्णवागम की प्रमुख शाखा पाञ्चरात्रागम ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक दीक्षा विषय का वर्णन किया है।^१ वैष्णवों के लिये दीक्षा को अपरिहार्य संस्कार कहा गया है। वस्तुतः दीक्षा के बिना वैष्णवत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु वैखानस सम्प्रदाय की दीक्षा तथा पाञ्चरात्र की दीक्षा में पर्याप्त मतभेद है।

वैखानस आगम ग्रन्थों में वर्णित वैखानस वैष्णवों की दीक्षा का विधान अन्य सभी सम्प्रदायों की दीक्षा-विधि से सर्वथा भिन्न है। इस आगम के अनुसार वैखानस लोग साक्षात् विष्णु से ही दीक्षा ग्रहण करते हैं। उन्हें गर्भवैष्णव कहा जाता है। उनके लिये वैष्णवत्वापादन हेतु अलग से दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। इस सम्प्रदाय के लोगों के लिये एक विशेष प्रकार का संस्कार विहित है। उस संस्कार को गर्भचक्र-संस्कार कहा गया है।

वैखानस सम्प्रदाय के लोग इसे विष्णुबलि के नाम से अभिहित करते हैं। यह संस्कार उस समय किया जाता है, जिस समय शिशु माता के गर्भ के आठवें मास में होता है। इस विषय का उल्लेख वैखानसस्मार्तसूत्र (३.१३.११५), क्रियाधिकार, आनन्दसंहिता तथा अन्य वैखानस आगम-ग्रन्थों में भी मिलता है।^२ इस संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ शिशु तथा गर्भधारण की हुई माता की रक्षा है। इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ

१. नारदीयसंहिता, अध्याय ७, ९, १ जयाख्यसंहिता पटल १६.

२. वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम् ॥

यो विष्णुबलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण लाञ्छितः ।

स गर्भवैष्णवो जातमात्र इत्युच्यते बुधैः ॥—आनन्दसंहिता ८/१०-११.

सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार की विशेषता यह होती है कि इसमें विष्णुबलि का विधान होता है। यह बलि गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती है। साथ-साथ गर्भस्थ शिशु को परम वैष्णव बनाती है। आनन्दसंहिता के दसवें अध्याय, वैखानस सूत्रानुक्रमणिका भाग दो तथा कुछ अन्य वैखानस आगम-ग्रन्थों के अनुसार इस संस्कार के क्रम में हवन आदि के बाद गर्भवती महिला को याज्ञिक पायस पान कराया जाता है। उस पायस में पहले ही विष्णुचक्र को डुबोया गया होता है। आनन्दसंहिता के अनुसार महिला के पायसपान करते समय अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण आवश्यक है—

त्वत्सुतो भाग्यवान् धन्यो गर्भवैष्णवसंज्ञितः ।

अप्राकृतो महात्माऽसौ गर्भचक्रेण लाञ्छितः ॥^१

इस सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास है कि इस संस्कार के क्रम में भगवान् विष्णु स्वयं ही गर्भस्थ शिशु की बाँह पर शंख की छाप लगाते हैं। इस तरह शिशु वैष्णव रूप में ही उत्पन्न होता है। क्रियाधिकार में कहा गया है—

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम् ।

तत्करस्थेन चक्रेण शङ्खेन प्रथितौजसा ॥

करोति चक्रशङ्खाङ्गं शिशोर्वै बाहुमूलयोः ।

वैखानसेन सूत्रेण स्यादयं गर्भवैष्णवः ॥

निसर्गवैष्णवः शुद्धः जन्मनाचार्यसंज्ञितः ॥^२

श्रीनिवास मखी ने वैखानस गृह्यसूत्र की तात्पर्यचिन्तामणि नाम की व्याख्या में स्पष्ट निर्देश किया है कि वैष्णवजन गर्भस्थ शिशु के वैष्णवत्वापादन तथा शिशु की रक्षा के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। इसलिये वैखानस कुलोत्पन्न एक वैखानस वैष्णव के लिये अन्य किसी दीक्षा या संस्कार की अपेक्षा नहीं है। वैखानस वैष्णव जन्म से ही अर्चक के अधिकार से सम्पन्न होता है।

१. आनन्दसंहिता ८/१०-११.

२. क्रियाधिकार ३६/४३, ४४, २८.

इस दृष्टि से वैखानस वैष्णवों की स्थिति पाञ्चरात्र वैष्णवों से सर्वथा भिन्न है। जैसे—पाञ्चरात्र वैष्णवों के लिए उनके बाल्यकाल में ही दीक्षा तथा तप्तमुद्रांकन की व्यवस्था का विधान किया गया है। इस प्रक्रिया में विष्णु के शंख तथा चक्र को तप्त कर उससे वैष्णव बालक की बाँह को मुद्रित किया जाता है। कुछ वैष्णवों को उसके जन्म से ग्यारहवें दिन शीतल मुद्रांकन के द्वारा अंकित किया जाता है। शीतल मुद्रांकन में धातुनिर्मित मुद्रा को शीतल जल में डुबोकर उसमें सफेद चन्दन लगाते हैं और उससे बालक की बाँह को अंकित करते हैं। वैखानस वैष्णवों के लिये उक्त पाञ्चरात्रिक प्रक्रिया के विपरीत तप्त मुद्रांकन या शीतल मुद्रांकन का सर्वथा निषेध किया गया है। कहा गया है कि तप्त मुद्रांकन से अंकित वैखानस देवालय में प्रवेश के योग्य नहीं होता, अतः उसे देवालय में प्रवेश नहीं कराना चाहिये। इसके साथ ही उसके द्वारा भगवदर्चन का भी निषेध किया गया है। अज्ञानवश या बलात् यदि वैखानस वैष्णव का चक्रांकन किया जाता है, तब वैसा वैखानस अधम एवं सर्वकर्म अनर्ह हो जाता है। अज्ञानवश, अर्थलोभ, मोह या परपीडन के कारण यदि तप्त मुद्रांकन किया गया हो, तो उस स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।^१

क्रियाधिकार में भी यह विषय इसी प्रकार कहा गया है—“मत्पुत्राणां न चिह्नानि दीक्षिताश्चिह्नधारिणः”^२। आगे कहा गया है—

अहमेव गुरुस्तेषां गर्भवैष्णवजन्मनाम् ।
तापादिपञ्चसंस्कारक्रिया नार्हन्ति मामकाः ॥
मद्भक्तियुक्तस्य मदौरसस्य निषेककर्मादिविराजितस्य ।
वैखानसस्यास्य न तप्तमुद्रा न मन्त्रदीक्षा न गुरुर्मया विना^३ ॥

वैखानससूत्र में निर्दिष्ट विधान के अनुसार आचरण करने वाला

१. आनन्दसंहिता १९/१३-१४.

२. क्रियाधिकार ३६/४८.

३. क्रियाधिकार ३६/५१, ५४.

प्रत्येक वैखानस स्वाभाविक रूप से अर्चक होता है। इसलिये उसे गृह तथा देवालय में विष्णु की पूजा का अधिकार होता है। अर्चकत्वापादन के लिये क्रियाधिकार में औपचारिक रूप से तीन तरह की दीक्षाओं का निर्देश किया गया है—मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक। भूतशुद्धि के द्वारा की गई पवित्र भावना मानसिक दीक्षा, चक्राब्जमण्डल में मन्त्रों के जप के साथ की गई दीक्षा वाचिक तथा तप्तमुद्रांकन के साथ की जाने वाली दीक्षा शारीरिक दीक्षा कही गई है। क्रियाधिकार ने इस दीक्षा को अवैखानस सम्मत दीक्षा बताया है ।

आनन्दसंहिता ने तीन प्रकार की दीक्षाओं का अधोलिखित रूप में निर्देश किया है—

तैषूक्तदीक्षाविधयः पृथगेव प्रकीर्तिताः ॥
 दीक्षा तु त्रिविधा प्रोक्ता सामान्येन तथोच्यते ।
 विष्णुबल्यग्निना तप्तचक्रेण हरिरङ्कितम् ॥
 यत्प्राश्यते सैव गर्भचक्रदीक्षेत्युदाहृता ।
 उपनयनाग्निना तप्तचक्रेणाङ्गनमंसयोः ॥
 या सा बहिस्तप्तचक्रदीक्षेत्येवमुदाहृता ।
 या चक्रजलजाकारलेखनं तु भुजद्वये ॥
 सा न्यासचक्रदीक्षा स्याद् दीक्षात्रयमिति स्मृतम् ।
 औखेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम् ॥
 उक्ता तथा न्यासचक्रदीक्षा भागवतोचिता ॥
 एवं दीक्षात्रयं प्रोक्तं वैष्णवानां महात्मनाम्^१ ।

इस प्रकार आनन्दसंहिता ने दीक्षा के तीन प्रकार, अर्थात् गर्भचक्रदीक्षा, बहिस्तप्तचक्रदीक्षा तथा न्यासचक्रदीक्षा का तथा उसके अधिकारियों का निर्देश किया है। इस वर्णन के बाद तप्तमुद्रा के दो भेद अधोलिखित रूप में वर्णित हैं—

पुनश्च गर्भ-चक्राब्जमुद्रा द्वेधा स्मृता बुधैः ।
अन्तस्तापो बहिस्ताप इति तापो द्विधा भवेत्^१ ॥

इन दोनों के ऊपर विचार करते हुए गर्भ-चक्रदीक्षा को अन्तस्ताप तथा पाञ्चरात्र विधि से सम्पादित होने वाली दीक्षा को बहिस्ताप दीक्षा कहा गया है। सामान्य रूप से वैखानसागम ग्रन्थों में वर्णित दीक्षा का यही स्वरूप है।

दीक्षित शिष्य को नियम का पालन करना पड़ता है। वैखानस धर्मसूत्र में सदाचार पालन करने पर विशेष बल दिया गया है तथा कहा गया है कि सदाचार धर्म से सम्बद्ध रहता है।^२ सदाचार रूप में निरूपित अंशों में प्रधानता शारीरिक शौच-निरूपण के रूप में पाया जाता है। इस शारीरिक शौच की प्रमुखता का कारण यह हो सकता है कि भगवदालय-रूप देह को सदा पवित्र रखना आवश्यक है। उक्त सदाचार रूपी वर्णाश्रम धर्मों के शौच, अनुष्ठान प्रधान रूप में पाये जाते हैं। शौच-दक्षिण कर्ण पर यज्ञोपवीत धारण करके दिन में उत्तराभिमुख हो, रात में दक्षिणाभिमुख हो तृणान्तरित स्थल में मूत्र पुरीष का विसर्जन करे। उस समय गो, विप्र, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्रमा को न देखें। मिट्टी तथा जल से अंगों की अच्छी तरह शुद्धि कर ले। बाद में मुखशुद्धि करके सूत्रोक्त रीति से स्नान करके तर्पण, सायं-प्रातः कालों में सन्ध्योपासना-समिधाधान करते हुए गुरु-शुश्रूषा करना ये ब्रह्मचारी के धर्म हैं। गृह्यसूत्र एवं स्मृति के अनुसार गृहस्थ को नित्य कर्म करते हुए सदाचार का पालन करना चाहिए।^३ उक्त अंशों में नित्य होम के अनन्तर भगवान् विष्णु की नित्यार्चा, स्वगृह या देवालय में भक्ति से करने से समस्त देवताओं की अर्चा होती है।^४

१. आनन्दसंहिता ८/३०-३१.

२. धर्म्य सदाचारम्—वैखानसधर्मसूत्र ९/९/१.

३. “गृहस्थोऽपि स्नानादिनियमाचारो नित्यमौपासनं कृत्वा पाकयज्ञयाजी वैश्वदेवहोमान्ते गृहागतगुरु-स्नातकश्च प्रत्युत्थायाभिवन्द्य आसनपाद्याचमनानि प्रदाय मधुना तोयेन वा घृतदधिक्षीरमिश्रितं मधुपर्कं दत्त्वा अन्नाद्यैर्यथाशक्ति भोजयति”—वैखानस सू० प्र० ९ ख० ४.

४. “अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा सर्वदेवार्चा करोति। गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातर्होमान्तेऽर्चयति”—वैखानस सू० ४।१०.

वैष्णव सम्प्रदायों में मस्तक तथा शरीर के अन्य अङ्गों पर पुण्ड्र चिह्न लगाने की एक प्राचीन प्रथा है। वैखानस श्रौतसूत्र में यह उल्लिखित है कि यज्ञकर्ता को यज्ञ के अन्त में अपने ललाट, वक्ष, उदर, बाँह तथा ग्रीवा पर चतुर्भुजीय चिह्न के आकार में भस्म लगाना चाहिए। इतना ही नहीं, उस चिह्न की खड़ी मध्य रेखा का सम्बन्ध आत्मा से रहता है और वह परमात्मा के साथ मिलन कराता है।^१ अभी तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार पवित्र पुण्ड्र चिह्न का यह प्राचीनतम प्रमाण है। महर्षि मरीचि ने भी पुण्ड्र धारण विधान का उल्लेख करते हुए कहा है कि बिना पुण्ड्र धारण किये, जप, होम और अर्चा आदि नहीं करना चाहिए। करने पर वह विफल हो जाता है। अत एव ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए।^२



१. वैखानसश्रौतसूत्र २/६.

२. ऊर्ध्वपुण्ड्र विना जपहोमार्चनाध्यादीन् कुर्यात् । कुर्याच्छेन्निष्फलं भवति । तस्मादूर्ध्वपुण्ड्रं धारयेत्—
विमानार्चनकल्प, पटल ८१.

चतुर्थ अध्याय प्रायश्चित्त

धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त का विशद वर्णन किया गया है। डा० पी.वी. काणे ने “हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र” में इन सभी परिभाषाओं का सम्यक् विवेचन किया है।^१ धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त के दो स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। प्रथम में पाप तथा उसके उपशम के लिए की जाने वाली विधाओं का वर्णन है, तो दूसरी में धार्मिक अनुष्ठानों में हुई भूलों के निवारण को लक्ष्य बनाया गया है। वैखानसागम में इसका अयोग दूसरे लक्ष्य को ध्यान में रख कर किया गया है। इसका अभिप्राय पाप का निवारण, तपस्या तथा शुद्धि है। महाभाग भृगु के निरुक्ताधिकार में ‘प्रायः’ तथा ‘चित्त’ को अलग-अलग करके इसकी व्याख्या की गयी है। ‘प्रायः’ का अर्थ बुराई तथा ‘चित्त’ का अर्थ दूर करना माना गया है।^२ विमानार्चनकल्प में प्रायश्चित्त को अधोलिखित रूप में कहा गया है—**प्राय इति शब्देन दोषसम्पातानां चित्तमिति तस्य प्रतिषेधः, तस्मात् प्रायश्चित्तमिति उच्यते।**^३ पाञ्चरात्र की पाद्मसंहिता में इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ध्यान में रखकर यह बताया गया है कि ये ऐसे धार्मिक कृत्य हैं, जिनके करने से पापक्षय होता है तथा प्राप्त दोषों का परिमार्जन होता है।^४ अतः सामयिक तथा नित्य कर्मों को न करना या असमय में करना प्रायश्चित्त का कारण बनता है। इस प्रकार ‘प्रायः’ का अर्थ नित्य-नैमित्तिक कर्मों में विक्षेप तथा ‘चित्त’ का अर्थ हुआ धार्मिक अनुष्ठान।

१. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ४, पृष्ठ ५७-८०.

२. क. निरुक्ताधिकार, ३१—प्रायो दोषसमुत्पातः चित्तं तस्य निरासनम्। तस्मादोषनिरासोऽयं प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

ख. खिलाधिकार ३७/६०

ग. हेमाद्रिकोष—द्र० प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यते॥

३. विमानार्चनकल्प, पटल ६१.

४. पाद्मसंहिता, चर्यापाद १८/१-२अ.

आगम में प्रायश्चित्त का प्रधान उद्देश्य है भगवान् की निर्बाध, निर्दोष तथा पवित्र रूप में अर्चा करना, जिसकी उपेक्षा से पाप प्रादुर्भूत होते हैं। इसी पाप के निवारणार्थ प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। कहीं-कहीं अनिष्ट निवारण के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वैखानसागम में देवालय-कल्पन से प्रारम्भ कर नित्यार्चन तथा नैमित्तिकार्चन के सम्पादन के सन्दर्भ में ज्ञात-अज्ञात रूप से हुए दोषों के परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। समूर्तार्चनाधिकरण का कथन है कि प्रायश्चित्त न करने से यजमान को दुर्भिक्ष, व्याधि तथा विनाश की सम्भावना होती है। राष्ट्र तथा राजा को दोष लगता है, अतः प्रयत्नपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए।^१

भूमिपरीक्षण तथा बीजवपन के समय हुए दोषों के निवारणार्थ द्विगुण होम का विधान वर्णित है।^२ कर्षण-काल में प्रमादवश व्रणयुक्त होने पर विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त से हवन करने को कहा गया है।^३ भूपरीक्षा से लेकर देवालय निर्माण तक हुई भूलों के उपशमन के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का निरूपण विमानार्चनकल्प में प्रतिपादित है।^४ प्रतिमा-निर्माण एवं उससे सम्बद्ध अनेकविध उपादान द्रव्यों में हुई अनवस्थाओं को दूर करने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का निर्देश है।^५

इसी प्रकार सम्पूर्ण नैतिक तथा नैमित्तिक पूजन-अर्चन और उत्सवादि में हुई कमियों तथा अव्यवस्थाओं से हुए दोषों के परिमार्जन के अनुरूप विस्तारपूर्वक प्रायश्चित्तों का विधान प्रतिपादित है। यथा—अंकुरार्पणकाल में ब्रह्म, सोमादि देवताओं के अर्चन में हविर्निवेदन में हुई न्यूनताओं के उपशमन के लिए विष्णुसूक्त, पुरुषसूक्त से हवन कर पुनः अंकुरार्पण करना चाहिए।^६ आचार्य दक्षिणा का काल अतीत होने पर वैष्णव-मन्त्र या मुनिमन्त्र से एक सौ आठ आहुति दे कर यथोक्त दक्षिणा देने का निर्देश है।^७

१. विमानार्चनकल्प, पटल ६६/३-४.

२. विमानार्चनकल्प, पटल ६६/५-६.

३. विमानार्चनकल्प, पटल ६६/१२-१३.

४. विमानार्चनकल्प, पटल ६१.

५. विमानार्चनकल्प, पटल ६२.

६. विमानार्चनकल्प, पटल ६५.

७. विमानार्चनकल्प, पटल ६५.

नित्यार्चन करते समय आसनादि सर्वोपचार में विपर्यय होने पर 'क्षमस्वेति' देव को प्रणाम कर अर्चना करनी चाहिए।^१ ज्ञानकाण्ड में अर्चनाहीन प्रायश्चित्त के लिए विष्णुयाग का विधान वर्णित है।^२

उत्सवध्वज का पतन या भग्न होने पर वैष्णव व्याहृति से आहुति का निर्देश है।^३ उत्सवबलि-पतनादि की प्रायश्चित्तविधि विशेष रूप से प्रतिपादित है।^४ पाञ्चरात्रागम में भी उपर्युक्त प्रायश्चित्तों का विस्तार से वर्णन है। इनका सम्यक् विवेचन डॉ० एच. डेनियल स्मिथ ने अपने सारगर्भित शोधपत्र "प्रायश्चित्त इन दी कानोनिकल वर्क्स आफ दी पाञ्चरात्रागम" में किया है।^५ वैखानस भगवच्छास्त्र में प्रायश्चित्त के अलग-अलग आलयनिर्माणदोषप्रायश्चित्त, बेरनिर्माणदोष प्रायश्चित्त, प्रतिष्ठादोषप्रायश्चित्त, नित्यार्चनदोषप्रायश्चित्त तथा स्नपनदोषप्रायश्चित्त का विस्तृत विवेचन किया गया है।^६ इनके अतिरिक्त भी प्रायश्चित्त के अनेक स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त होता है।^७

वैखानसागम पर आक्षेप तथा निराकरण

वैखानस आगम की प्रामाणिकता पर दो प्रकार की आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। प्रथम आपत्ति यह है कि वैखानस कल्पसूत्र काल्पनिक है, क्योंकि इनका एक विशेष समूह के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं है। इसीलिए इनका लेखक भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। दूसरी आपत्ति वैखानस मतावलम्बियों के पेशे को लेकर है। यह माना जाता है कि जो पुरोहित विष्णु की पूजा करते हैं, उन्हें उस उपहार से प्राप्त द्रव्य पर ही अपनी जीविका चलानी चाहिए। इस सूत्र को मानने वालों के लिए किसी अन्य प्रकार का व्यवसाय विहित नहीं है। इनको 'देवलक' कहा जाता है। 'देवलक' का अभिप्राय है 'देवस्वं लाति' अर्थात् देवता

१. विमानार्चनकल्प, पटल ६६.

२. ज्ञानकाण्ड ९९.

३. ज्ञानकाण्ड १०२.

४. ज्ञानकाण्ड १०३.

५. आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, वा० ३०, १९६६, पृष्ठ २३-३३.

६. वैखानसागमकोशः, भाग १०, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति, २००९ई०

७. वैखानसागमकोशः, भाग ११, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति, २०१०ई०.

की जो सामग्री है, उसे ले ले। ऐसे पुरोहित को गर्हित माना गया है।^१ वी० वरदाचारी ने इन दोनों आपत्तियों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उनका कथन है कि वेद-विरुद्ध न होने के कारण वैखानस कल्पसूत्र प्रामाणिक है, जिस प्रकार आश्वलायन एवं आपस्तम्ब आदि के कल्पसूत्र। यदि वैखानसानुयायी अपने क्रियाकलापों में अन्य सूत्रों का प्रयोग नहीं करते, तो इसका तात्पर्य है कि वे अपने कल्पसूत्र को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। विष्णु-पूजा ही सात्त्विक पूजा है। इसके अतिरिक्त ये लोग वर्णाश्रमधर्म के अनुकूल ही कर्तव्य निर्धारण करते हैं। अतः इनके कल्पसूत्र या आगम अप्रामाणिक कदापि नहीं हो सकते। ये सभी संस्कारों से सुसंस्कृत व्यक्ति को ही पौरोहित्य कर्म में नियोजित करते हैं, अतः इन्हें हिन्दू समाज में हीन नहीं माना जा सकता।^२

काश्यप, अत्रि आदि द्वारा प्रणीत वैखानस साहित्य विष्णु की पूजा तथा अर्चना के लिए है। इस पूजा का उद्देश्य पुजारी का जीविकोर्पाजन नहीं है। दूसरी ओर यदि ये अपने कर्तव्य का ठीक से पालन नहीं करते, तो इन्हें च्युत माना जाता है। वैखानस-ग्रन्थों के अनुसार वैखानस अर्चकों को चाहे वे गृहार्चा में संलग्न हों, या आलयार्चा में, उन्हें निश्चित रूप से साम्प्रदायिक तथा आध्यात्मिक शास्त्राध्ययन में संलग्न रहना चाहिए। उन्हें चरित्रवान् सत्यभाषी, ईमानदार, बुद्धिमान् तथा यौगिक प्रक्रिया का जानकार होना चाहिए। वैखानस को केवल भक्तिमूलक अर्चन ही स्वीकार करना चाहिये। अन्य

१क. देवकोशोपजीवी यः स देवलक उच्यते ॥ वृत्यार्थं पूजयेद् देवं त्रीणि वर्षाणि यो द्विजः ।
स वै देवलको नाम सर्वकर्मसु गर्हितः ॥ —आगमप्रामाण्य, पृ० ८;

ख. स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३९६;

ग. “आहायका देवलका नक्षत्रग्रामयाजकाः । एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः” ॥
महाभारत, शान्तिपर्व, ७४.

२. “वैखानसास्तु ये विप्रा हरिपूजनतत्पराः ।

न ते देवलकाः प्रोक्ताः विष्णुपादाब्जसंश्रयात्” ॥

आगमकोश (आगम इन्साइक्लोपीडिया) कल्पतरु रिसर्च एकेडेमी, प्र०सं० १९९०,
पृ० ४६.

किसी भी कारण से अर्चन करना स्वीकार नहीं करना चाहिये,^१ अतः ये देवलक की परिभाषा में नहीं आते। इसी भाँति वैखानस सूत्रों के रचयिता काश्यप आदि ऋषियों की कृतियों का उल्लेख विद्यास्थान में नहीं मिलता,^२ केवल इसी कारण इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। महाभारत में यह उल्लिखित है कि वैखानस लोग श्रेष्ठ कुल एवं वैदिक आचरण के अनुयायी थे।^३ महाभारत में वैखानस तथा पाञ्चरात्र को आदर का स्थान दिया गया है।

•

१. अध्यात्मगुणसंयुक्तो विप्रः स्वाध्यायसंयुतः ।

वृत्तवान् सत्यवादी च ज्ञानशीलश्च योगवित् ॥ —क्रियाधिकार ९, २३-२४.

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा भक्त्या वार्चनमारभेत् ॥

२. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, १-३.

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः ।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥ —विष्णुपुराण ३, ६, २८.

३. “वैखानसाः कुलश्रेष्ठाः वैदिकाचारचारिणः” —महाभारत, अनुशासनपर्व, २५४.

उपसंहार

वैखानस परम्परा के विपुल वाङ्मय-स्रोत के अध्ययन के प्रसंग में हमने अद्यतन प्रकाशित ग्रन्थों की स्रोत-सामग्री के सभी महत्वपूर्ण पक्षों का विवेचन किया। तदनुसार भारतीय धार्मिक इतिहास की एक सशक्त किन्तु अल्पज्ञात अतिशय महत्वपूर्ण वैष्णव वैखानस धारा का यथेष्ट अभिज्ञान हुआ।

धर्म की द्विधा स्थिति है— इष्ट और पूर्त। उनमें से इष्ट की वैदिक तथा पूर्त की तान्त्रिक रूप से यहाँ पहचान की गई है। वस्तुतः देह को दिव्य तथा अध्यात्म का साधन मानकर “देवो भूत्वा यजेद् देवम्”^१ सिद्धान्त पर आधारित आगम सिद्धान्त में बाह्य ‘वरिवस्या’ को आन्तर पूजा का प्रक्रियात्मक सोपान माना गया है, तदनुसार आगम और निगम में व्यवहार तथा परमार्थ के सामरस्य एवं एकान्वयिता की उद्घोषणा है।

वैखानस तथा पाञ्चरात्र ये दो भेद ऐसे हैं जिनके अनुसार वैष्णव ‘दिव्यदेशों’ में अर्चना और आराधना का क्रम प्राचीन काल से लेकर आज भी अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। श्रीवेदान्तदेशिक के शब्दों में यह सत्य अधोलिखित है-

“त्वां पाञ्चरात्रिकनयेन पृथग्विधेन वैखानसेन च यथा नियताधिकाराः।
संज्ञाविशेषनियमेन समर्चयन्तः प्रीत्या नयन्ति फलवन्ति दिनानि धन्याः॥”^२

तिरुपति में वैखानसमतानुसार भगवान् श्रीनिवास तथा श्रीरङ्गम्,

१. धर्मो द्विविधः, इष्टः पूर्तश्चेति। तत्रेष्टो वैदिकः, पूर्तस्तान्त्रिकः-अष्टप्रकरण पृष्ठ ३६, सम्पादक पं. ब्रजवल्लभद्विवेदी, काशी संस्करण, ।

२. द्र०-एवं विष्णुमयो भूत्वा स्वात्मना साधकः पुरा। मानसेन तु यागेन ततो विष्णुं समर्चयेत्॥
जयाख्यसंहिता - १२/१

३. शरणागतिदीपिका - ३२।

मेलकोटे तथा काञ्चीपुरम आदि दिव्यदेशों में पाञ्चरात्रागम के अनुसार वर्तमान में भी विधि पूर्वक आराधना की जाती है।

वैखानस उपासना की यह पद्धति जगत्पिता ब्रह्मा से प्रसूत मानी गयी है। ब्रह्मा का एक नाम 'विखनस' है। इसी के आधार पर इस पद्धति को वैखानस माना गया है।

श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार—

वैखानसऋषिर्देवि ब्रह्मणो नखनिःसृतः ।
हिमवच्छिखरे रम्ये गङ्गाद्वारे तपस्यति ॥
पाञ्चरात्रसमं शास्त्रं मत्पूजार्थं करिष्यति ।
तच्छिष्या भृगुमुख्या वै वैखानसमुनीरितम् ॥
शास्त्रं वैखानसं नाम ह्यधीत्य मुनिपुङ्गवाः ।
तच्छास्त्रोक्तविमानानि बिम्बानि ह्यालयानपि ॥
तच्छास्त्रेण प्रतिष्ठाप्य पूजयिष्यन्ति वै रमे ।^१

वेदों का एक नाम 'ब्रह्म' भी है। अतः इस उपासना का स्रोत वैदिक विधियों के आधार पर ही नियत किया गया है। इसके प्रधान देव भगवान् नारायण हैं। वैखानस धर्म की सर्वाधिक बड़ी विशेषता समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा है। विभिन्न सम्प्रदायों में, दार्शनिक अभिमतों में, कर्म और ज्ञान के आदर्शों में, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में, पुरातन व नूतन में सर्वत्र एक विलक्षण समन्वय का भाव इस आगम धर्म का वैशिष्ट्य रहा है।

वैष्णवों की एक अन्य उपासना पद्धति 'पाञ्चरात्र' है, जिसमें वैदिक मर्यादाओं का सम्यक् पालन नहीं किया जाता किन्तु वैखानस आगम में विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा दीक्षा आदि का शास्त्रीय विधान ही माना जाता है। सब देवों एवं धर्मों के श्लाघायुक्त समन्वय का श्रेय इसी वैष्णव-वैखानस धर्म को है। वासुदेव-विष्णु के रूप में सर्वदेवों का समन्वय वैखानसी दृष्टि की विशेषता रही है। विष्णु ही सभी देवों में प्रभविष्णु, अप्रमेय, शाश्वत रूप में स्वीकार हुए। लोक में विभिन्न स्तरों पर जिन देवों

की पूजा की जा रही उन सबको देवाधिदेव विष्णु की दिव्य विभूतियाँ मान लिया गया है। वैखानसों ने खुले दिल से अहिंसा धर्म को मान्यता दी।^१

उपासना के दो स्वरूप हैं— सगुणोपासना तथा निर्गुणोपासना। निर्गुणोपासना आलम्बन रहित होने के कारण दुष्कर है। सगुणोपासना में ध्यान और भक्ति के लिए आलम्बन प्राप्त हैं, उसके बिना भक्ति की सामीप्य, सायुज्य तथा सारूप्य निष्ठा असम्भव है। वैखानस आगम ने इसी हेतु सगुणोपासना तथा मूर्ति-पूजा पर विधिपूर्वक विचार किया है।

यद्यपि युग के प्रभाव, विचार स्वातन्त्र्य तथा सांस्कृतिक संक्रमणों ने इस धारा में अनेक अवरोध उपस्थित किये हैं किन्तु आज भी यह पद्धति दक्षिणी भारत में जीवन्त है। इस विषय पर राष्ट्रभाषा में आज-तक कोई प्रामाणिक कृति उपलब्ध नहीं थी अतः यहाँ इस पद्धति के सभी अङ्गों का विशद-विवरण प्रस्तुत करने का एक प्रयास किया गया है जिससे यह सभी के लिए सुगम हो सके। अभी तक उत्तरी भारत में यह उपासना पद्धति प्रचलित नहीं है।

इस पुस्तक को विषय-प्रवेश के अतिरिक्त तीन भागों में विभक्त किया गया है। विषय-प्रवेश में आगमशास्त्र का सामान्य परिचय दिया गया है तथा यह निर्देशित किया गया है कि आगमशास्त्र शब्द-प्रमाण तथा श्रुति सम्मत होने के कारण वैदिक श्रुति ही हैं जैसा कि कुल्लूकभट्ट ने श्रुतियों के दो भागों का प्रतिपादन करते हुए नैगमिक तथा आगमिक दो प्रकार की श्रुतियों का उल्लेख किया है। साथ ही यहाँ पाञ्चरात्रागम का विश्लेषण भी किया गया है। 'तन्त्र' शब्द के बीस अर्थों का सामञ्जस्य करते हुए, पराशर-माधवीय के अनुसार इसे भक्तिमार्ग के षड्दर्शनों में समाविष्ट भी किया गया है। तन्त्र तथा आगम दोनों ही अभिधान विषय वस्तु के विस्तार का नियोजन करते हुए इसे अविच्छिन्न परम्परा में भी समायोजित कर इसकी प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है।

प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में वैखानस आगम का परिचय तथा तन्निहित तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस खण्ड में चार अध्याय

हैं। द्वितीय अध्याय को तत्त्वदर्शन का विषय बनाकर उसमें ब्रह्मतत्त्व तथा सृष्टि-प्रक्रिया का सम्यक् विवेचन है। तृतीय-अध्याय में मन्त्रों के प्रयोग न्यास आदि पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में यौगिक क्रियाओं तथा उनके प्रभावों का निरूपण किया गया है, साथ ही नाडीचक्रों का सविस्तर प्रतिपादन तथा उनके उपयोगों और प्रभावों का विवेचन है।

द्वितीय भाग में भी चार अध्यायों में प्रतिमा-विज्ञान का निरूपण है। यह अध्याय मूर्तिकलाविषयक ज्ञान का निरूपण करता है जिसमें मूर्ति के विभिन्न-अङ्गों के विषय में विधिवत् विवेचन है। दूसरे अध्याय में प्रतिमा निर्माण में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों तथा उनके उपादानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रतिमा तथा उसके विविध-अङ्गों के माप तथा आकार का वर्णन है और चतुर्थ में प्रासाद (मन्दिर), आलय (मूर्तिगृह) के कल्पन तथा उनके निर्माण की शास्त्रीय विधियों का विशद-चित्रण किया गया है।

तृतीय भाग में भी चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मूर्ति की स्थापना तथा प्राण-प्रतिष्ठा का निरूपण है। मान्यता है कि मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने वाला व्यक्ति प्रतिमा के पिता की भूमिका में रहता है क्योंकि बिना शास्त्रीय विधि से स्थापित देवमूर्ति फलवती नहीं होती क्योंकि उसमें भावना की स्थापना नहीं होती।

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृत्तिके ।

भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

प्रतिमा की प्रतिष्ठा में शुभकाल, नक्षत्रादि का विचार किया जाता है। आचार्य, अङ्कुरार्पण, सामग्री संग्रहण, यज्ञशाला-निर्माण, बेर का निर्माण-क्रम आदि का विचार अत्यन्त ही अनिवार्य होता है। वास्तुहोम, 'आधार' होम, कुम्भपूजा आदि का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का विषय है। जपादि सभी क्रियाओं का विवेचन विस्तार से किया गया है।

दूसरे अध्याय में अर्चन, स्नपन तथा उत्सव का विवरण है क्योंकि यज्ञ का एक उद्देश्य संगतिकरण भी है जिसमें सामाजिक लोगों की भागीदारी

प्रमुख होती है। इस कृत्य से दर्शकों में श्रद्धा तथा पूज्य भावना का उदय होता है। तृतीय अध्याय में दीक्षा-विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है, दीक्षा के माध्यम से आचार्य या गुरु शिष्य में अपनी शक्ति का आधान करता है। चतुर्थ अध्याय में यज्ञ में अनवधानता या अज्ञान के कारण जो स्खलन हो जाता है, उसके निवारणार्थ प्रायश्चित्त करने का विधान है जिससे दोष का निवारण हो जाये।

इसके पश्चात् सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची, सप्तावरण देवमण्डल तथा विशिष्ट शब्दों की सूची के समावेश से ग्रन्थ की उपयोगिता की वृद्धि की गयी है और साथ ही साथ पद्धति से अपरिचित के लिये वैखानस-भक्ति-सम्बन्धी सभी प्रक्रियाओं के विशद-वर्णन से शोधकर्त्ताओं को भी इस विषय पर कार्य करने का दिशा-निर्देश मिलता है। इस प्रकार यहाँ साधकों, अनुसन्धान-कर्त्ताओं तथा जिज्ञासुओं को दृष्टि में रखकर विषय-प्रतिपादन करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है।



सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. अथर्ववेद, आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर संवत् १९५७।
२. अनिरुद्धसंहिता, श्रीनिवास अय्यंगर मैसूर ई० १९५७।
३. अमरकोश, अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२९।
४. अहिर्बुध्न्यसंहिता, भाग १, २ पं० वी० कृष्णामाचार्य, अडियार लाईब्रेरी रिसर्च सेन्टर, मद्रास, द्वि० सं० १९६६।
५. आगम और तन्त्रशास्त्र, आचार्य ब्रजबल्लभ द्विवेदी, परिमल प्रकाशन दिल्ली १९८४।
६. आगम कोश, वैखानस एवं पाञ्चरात्रागम भाग २, ३, कल्पतरु रिसर्च अकादमी बंगलोर १९९०।
७. आगम परिज्ञान और प्रभातिलक, शम्भुलिंग शिवाचार्य, पं० काशीनाथ शास्त्री मैसूर १९३०।
८. आगमप्रामाण्यम्, यामुनाचार्य, गायकवाड़ ओररियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा १९७६।
९. आनन्दसंहिता (तेलगु) ईगापालेम, आन्ध्रप्रदेश १९२४।
१०. आपस्तम्बश्रौतसूत्र, संपादक रिचर्ड गार्वे, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिसर्स दिल्ली, द्वि० सं० १९८३।
११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, आचार्य अभिनवगुप्त, भाग १-३ सं० प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९८६।
१२. ईश्वरसंहिता, सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम् १९२३।
१३. ऋग्वेद, योगेश्वरगुरु गंगेश्वर चैरिटेबल ट्रस्ट, तुलसीनिवास चर्चगेट बम्बई, विक्रमाब्द २०४८।
१४. कर्पिजलसंहिता, राघवाचार्य और गोपाचार्य, के सी० पी० प्रेस कुड्डापेट १८९६।

१५. काश्यप ज्ञानकाण्ड, सम्पादक आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य; तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति १९४८।
१६. गुह्यसमाजतन्त्र, सम्पादक—विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा १९३१।
१७. गौतमधर्मसूत्र, सम्पादक-डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९६६।
१८. चरकसंहिता, चक्रपाणि, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
१९. चिन्मयभारत, डॉ० कुबेरनाथ राय हिन्दूस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९९६।
२०. छान्दोग्य उपनिषद्, श्रीरंगरामानुज मुनि, सुन्दरम् चैरिटिज, मद्रास १९७३।
२१. जयाख्यसंहिता, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा १९३१।
२२. तन्त्र और तसव्वुफ, प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, राका पब्लिकेशन, इलाहाबाद, १९८९।
२३. तन्त्र दर्शन, परमहंस निरंजनानन्द, श्री पंचदशनाम परमहंस, अलखवाडा देवघर १९६३।
२४. तन्त्रालोक (जयरथटीका), भाग-२, प्रथम आह्निक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८७।
२५. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१५।
२६. तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।
२७. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी०वी० काणे (हिन्दी संस्करण), हिन्दी समिति लखनऊ १९७५।
२८. नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, कन्हैयालाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली १९८४।
२९. नारदपाञ्चरात्र, अनु० स्वामी विजयानन्द, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद, १९२१।
३०. नारदीयसंहिता, डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, केन्द्रीय सं० विद्यापीठ, तिरुपति १९७१।

३१. निगम तथा शैव-शाक्त-वैष्णव आगम परम्पराओं का अन्तः सम्बन्ध, प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, नई दिल्ली, २०१० ई.।
३२. परमसंहिता, डॉ० एस० कृष्णस्वामी अय्यंगार, गायकवाड सीरीज, बड़ोदा १९४०।
३३. पाञ्चरात्र परिशीलन, प्रो. अशोक कुमार कालिया, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, नई दिल्ली, २०१० ई.।
३४. पाञ्चरात्रागम डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९८७।
३५. पाद्मसंहिता, श्रीमती सीतापद्मनाभम् और डॉ० आर० एन० सम्पत् (भाग-१), पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास, १९७४।
३६. पारमेश्वरसंहिता श्रीरंगम् १९५३।
३७. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी तृ० सं० १९८७।
३८. पौष्करसंहिता, एच० एच० श्रीयतिराज सम्पत् कुमार एवं रामानुज मुनि ए० निवास एण्ड थिरुमल चैरिटी, बंगलोर १९३४।
३९. बृहदेवता (शौनक), सं० रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९८९।
४०. बौद्धचर्यावतार, हिन्दी अनुवादक डॉ० रामनिवास तिवारी, आँकर ग्रन्थमाला, वाराणसी १९९३।
४१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, लखनऊ, द्वि० सं० १९७६।
४२. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग ३) डॉ० एस० एन० दासगुप्त राजस्थान, हिन्दी अकादमी, जयपुर १९७४।
४३. भारतीय संस्कृति और साधना, म०म०पं० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९७७।
४४. भारद्वाजसंहिता, प्रो० बाबूलाल शुक्ल, खेमराज श्री कृष्णदास प्रकाशन बम्बई, १९९०।

४५. मनुस्मृति, सम्पादक आचार्य जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८३।
४६. महाभारत, सम्पादक श्रीपद कृष्ण बेलवलकर, भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पुणे १९५४।
४७. मार्कण्डेयसंहिता, सी०वी० शेषाचार्युलु, तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम् १९७५।
४८. लक्ष्मीतन्त्र, वी कृष्णमाचार्य, अडयार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, १९५९।
४९. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, सम्पादक ए० सुब्रह्मण्यम् अय्यर, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९८३।
५०. वाल्मीकिरामायण, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८३।
५१. विमानार्चनकल्प, सम्पादक श्री व० रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य, चेन्नपुरी, मद्रास, १९२६।
५२. विश्वामित्रसंहिता, उनदेमानशंकर भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९७०।
५३. विष्णुपुराण, नाग पब्लिसर्स दिल्ली १९८५।
५४. विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् (प्रथम भाग) ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९६१।
५५. विष्णुसंहिता, सम्पादक गणपतिशास्त्री, नाग पब्लिसर्स, दिल्ली १९९१।
५६. विष्वक्सेनसंहिता, लक्ष्मीनरसिंह भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९७२।
५७. वैखानस आगम कोश, भाग १-११, सम्पादक, प्रो. लक्ष्मीनृसिंह भट्ट आदि, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९९३-२०१० ई.।
५८. वैखानस विजय, उत्तमूर टी० वीर राघवाचार्य, तिरुपति १९६३।
५९. वैखानसश्रौतसूत्र, डॉ डब्लू० कैलेण्ड, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिसर्स, दिल्ली, १९९१।
६०. वैखानसस्मार्तसूत्र, डॉ डब्लू० कैलेण्ड, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन दिल्ली, १९८९।

- ६१क. वैष्णवागम विमर्श, आचार्य ब्रजवल्लभ द्विवेद्वी, सम्पूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९७।
- ख. श्रीवैखानस पैतृमेधिक प्रयोगः, प्रधान सम्पादकः, श्री सन्निधान सुदर्शन शर्मा, श्री वेङ्कटेश्वरवेदविश्वविद्यालय, तिरुपति, २००९।
६२. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत (हिन्दी संस्करण), डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।
६३. शतपथब्राह्मण, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी १९८१।
६४. शाण्डिल्यसंहिता, अनन्तशास्त्री फडके, सरस्वती भवन, टेक्स्ट ६०, वाराणसी १९३५-१९३६।
६५. शारदातिलक, म०म० श्री मुकुन्द झा बक्शी, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, १९३।
६६. शिवमहिम्नस्तोत्र, अंग्रेजी अनुवाद डॉ० रामनिवास तिवारी, पिलिग्रिम्स बुक हाऊस, काठमाण्डु।
६७. श्रीप्रश्नसंहिता, श्रीमती सीतापद्मनाभम्, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९६९।
६८. श्रीपाञ्चरात्ररक्षा, श्रीवेदान्तदेशिक, अडियार लाईब्ररी एण्ड रिसर्चसेण्टर, मद्रास, १९६९।
६९. श्रीभाष्य, श्रीललितकृष्णगोस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, प्रयाग १९७४।
७०. श्रीशक्तिसंगमतन्त्र, डॉ० बी० भट्टाचार्य, गायकवाड़ ऑरियन्टल इस्टीच्यूट, बड़ोदा १९७८।
७१. शुक्लयजुर्वेद, पं० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।
७२. समूर्ताचनावधिकरण, श्री० व०रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य, तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति, १९४३।
७३. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८४।
७४. सांख्यतत्त्वकौमुदी, रमाशंकर भट्टाचार्य मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७।

७५. सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा, डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य, शैवभारती भवन, वाराणसी १९८९।
७६. सीतोपनिषद् (ईशादि-अष्टोत्तरशतोपनिषद्) श्री वासुदेव लक्ष्मण पणिकर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९९०।
७७. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास (तन्त्रागम खण्ड) उ०प्र० संस्कृत संस्थान, लखनऊ १९९७।
७८. सन्मार्ग, आगम विशेषांक, सन्मार्ग दैनिक, तुलसीघाट, वाराणसी, १९८०।
७९. सन्मार्ग, भारतीय संस्कृति विशेषांक, सन्मार्ग दैनिक तुलसीघाट, वाराणसी, १९८०।
८०. हयशीर्षसंहिता, कालीकुमार दत्त और कल्याणकुमार दासगुप्त एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९७५।
81. Agama Susama, Editors, Prof. Lakshminarasimha Bhatt & others, Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 2005.
82. Agamas And South India Vaisnavism, Dr. Vardachari, Prof. M. Rangacharya Memorial Trust Tripalichen, Madras, 1982, I Ed.
83. A History of Indian Literature, Maurice Winternitz, University of Calcutta, 1938.
84. Aspects Of Visnuism, J. Gonda, Motilal Banarsidass Publisher, Delhi, 1954.
85. Discriptive Bibiliography of The Panchratra (Part1-2), Dr. H. Deniyal Smith, Orientel Institute, Barodara, 1975, 1980.
86. Elements of Hindu Iconography, T.A. Gopinath Rao, Vol. I, part I, Madras 1914.
87. Hindu Tantrism Gupta, Goudriaan And Moens, Leiden, 1979.
88. History of Dharmashastra Vol. 2, P. V. Kane, Bhandarker Oriental Research Ins. Poona, 1974.
89. Introduction of The Pancratra And The Ahirbudhnya Samhita, F.O. Schrader, Adiyar, 1916.
90. Journal of The Karnatka University Homantism, 1970.
91. Journal of The Oriental Research, Madras, 1964-66.

92. Journal of The Royal Asiatic Society, London, 1931.
93. Journal of The Tirumal Tirupati Devasthanam, Tirupati, May-June-1967.
94. Kasyapa's Book of Wisdom, T. Goudriaan, Mouton & Co Hague, 1965.
95. Laxmi Tantra, Sanukta Gupta, Liden, 1974.
96. Sakti And Sakta, Sir John Woodroffe, Ganesh & Co, Madras, 1954, X Ed. 1994.
97. Sanskrit English Dictionary, Sir Monier Williams, Oxford Clarendon Press, 1960.
98. South Indian Images of God And Goddesses, H. Krishna Shastri, Madras, 1916.
99. The Development of Hindu Iconography, J.N. Banerjea, Calcutta, 1956.
100. The Tantra Study On Their Religion And Literature, Chinta Haran Chakravarti, Punthi Pustak Prakashan, Calcutta.
101. The Tantric Tradition, Agehanand Bharti, B. I. Pub., III Ed. 1983.
102. The Visnu Samhita, Dr. N.P. Unni, Trivedrum Sanskrit Series LXXXV, Nag Pub. Delhi, 1925.
103. Vaikhanas Worship, Prof. S. K. Ramchandra Rao, TT Devasthanams, Tirupati 2004.
104. Proceeding of the National Conference on Vedas and Sastras, Tirumala Jan. 29-Feb. 3, 1992 Published by Sri Ajeyakallam, TT Devasthanams, Tirupati, First Edition 2004

विशिष्ट शब्दों की विवरणी (वर्णानुक्रम से)

अग्नि—१. आहवनीय, २. अन्वाहार्य, ३. गार्हपत्य, ४. आवसथ्य, ५. सभ्य। २. नृसिंह, ३. वामन, ४. परशुराम, ५. राम, ६. बलराम, ७. कृष्ण ८ कल्की, ९. मत्स्य, ११. कूर्म, १२.

अग्निकुण्ड—१. चतुरस्र, २. अर्द्धचन्द्राकृति, ३. भूमण्डलाकृति, ४. त्र्यस्र, ५. पुण्डरीक। २. नारायण।

अष्टमङ्गल—१. शङ्ख, २. चक्र, ३. स्वस्तिक, ४. कलश, ५. श्रीवत्स, ६. चामर, ७. सिंह, ८. ताक्ष्य।

आसन—१. योगासन, २. स्नानासन, ३. अलङ्कारासन, ४. भोजनासन, ५. यात्रासन

उत्सव (कालाधृत)—१. द्वादशा-होत्सव, २. नवाहोत्सव, ३. सप्ताहोत्सव, ४. पञ्चाहोत्सव, ५. त्र्यहोत्सव, ६. एकाहोत्सव।

उत्सव (त्रिविध)—१. नित्योत्सव, २. नैमित्तिकोत्सव, ३. काम्योत्सव।

उत्सवरात्र-देवता—१. वराह,

उत्सवरात्र-बलिदेवता—१. सर्वभूत, २. पैत्रिक, ३. यक्ष, ४. नाग, ५. ब्रह्मा, ६. शिव, ७. विष्णु।

कर्मेन्द्रियाँ—१. वाक्, २. पाणि, ३. पाद ४ पायु, ५. उपस्था

काम्यदेवता—१. अग्नि, २. ब्रह्मा, ३. धनद, ४. श्री, ५. स्कन्द, ६. सूर्य, ७. दुर्गा, ८. रुद्र, ९. विष्णु, १०. इन्द्र।

क्षिति (चतुर्विध)—१. वारुणी, २. ऐन्द्री, ३. वायवी, ४. आग्नेयी।

गर्भागार-पद—१. ब्राह्म, २. दैवत, ३. मानुष, ४. पैशाच।

चतुर्मूर्ति—१. वासुदेव, २. सङ्कर्षण, ३. प्रद्युम्न, ४. अनिरुद्ध।

चतुर्मूर्ति देवियाँ—१. शान्ति, २. श्री, ३. सरस्वती, ४. रति।

जाति (मन्त्रस्थ)—१. नमः, २. स्वाहा, ३. वषट्, ४. वौषट्, ५. हूँ, ६. फट् ।

तत्त्व—१. पृथ्वी, २. आप, ३. तेज, ४. वायु, ५. व्योम, ६. गन्धतन्मात्रा, ७. रसतन्मात्रा, ८. रूपतन्मात्रा, ९. स्पर्शतन्मात्रा, १०. शब्दतन्मात्रा, ११. वाक्, १२. पाणि, १३. पाद, १४. पायु, १५. उपस्थ, १६. श्रोत्र, १७. त्वक्, १८. नेत्र, १९. जिह्वा, २०. घ्राण, २१. अहंकार, २२. बुद्धि, २३. मन, २४. तम, २५. रज, २६. सत्त्व ।

तन्त्र—१. वैखानस, २. शैव, ३. पाशुपत, ४. पाञ्चरात्र ।

तीर्थक्षेत्र—१. सालग्राम, २. द्वारवती, ३. चक्रदान, ४. कुरुप्रिय, ५. रङ्ग, ६. सौकर, ७. कण्ठ, ८. काञ्ची, ९. शिवप्रिय ।

द्वारपाल—१. चण्ड, २. प्रचण्ड, ३. जय, ४. विजय, ५. पूर्ण, ६. पुष्कर, ७. गरुड, ८. विष्वक्सेन, ९. आनन्द, १०. नन्द, ११. वीरसेन, १२. सुषेण, १३. सम्भव, १४. प्रभव ।

दिक्पाल—१. इन्द्र, २. यम, ३. वरुण, ४. धनद, ५. वह्नि, ६.

नैऋति, ७. वायु, ८. ईशान ।

देवपुरी—१. अमरावती, २. तेजोवती, ३. वैवस्वती, ४. रक्षोवती, ५. शुद्धवती, ६. गन्धवती, ७. महोदया, ८. यशस्विनी ।

द्वारकुम्भदेव—१. पद्मराग, २. प्रवाल, ३. वैडूर्य, ४. पुष्पक, ५. नील, ६. मरकत, ७. मुक्ताफल, ८. स्फटिक ।

धान्य (वन्य)—१. वेणु, २. श्यामाक, ३. नीवार, ४. जर्तिला, ५. गवीधुक्, ६. कर्कट, ७. श्रुतक ।

नियम (दस)—१. शौच, २. इज्या, ३. तप, ४. सत्य, ५. स्वाध्याय, ६. उपस्थनिग्रह, ७. व्रत, ८. उपवास, ९. मौन, १०. ध्यान ।

पञ्चगव्य (त्रिविध)—१. प्रोक्षणार्थ, २. प्राशनार्थ, ३. स्नपनार्थ ।

पञ्चगव्यद्रव्य (प्राशनार्थ)—१. शकृद्दरस, २. मूत्र, ३. दधि, ४. आज्य, ५. पय ।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपनार्थ)—१. गोमूत्र, २. गोक्षीर, ३. गोदधि, ४. गोघृत, ५. गोशकृत् ।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपन)—१. घृत, २. शकृत्, ३. रस, ४. दधि,

५. क्षीर ।

पञ्चभूत—१. पृथ्वी, २. आप, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश ।

पाताल सप्ततल—१. आभास, २. परतल, ३. नितल, ४. गभस्तिमत्, ५. महातल, ६. सुतल, ७. रसातल ।

पिण्डिकान्यास-बीज—१. यव, २. ब्रीहि, ३. निष्पाव, ४. प्रियङ्गु, ५. तिल, ६. माष, ७. नीवार, ८. महाशालि ।

पिण्डिकान्यास-रत्न—१. रत्न, २. मौक्तिक, ३. वैडूर्य, ४. शङ्ख, ५. स्फटिक, ६. पुष्टि, ७. चन्द्रकान्त, ८. इन्द्रनील, ९. पद्मराग, १०. मनःशिला, ११. हरताल, १२. अञ्जन, १३. श्यामशीशक, १४. सौराष्ट्र, १५. रोचन, १६. गैरिक, १७. पारद, १८. हिरण्य, १९. रजत, २०. ताम्र, २१. आयस, २२. त्रपु, २३. कांस्य ।

पूजा-साधन—१. आप, २. पुष्प, ३. पत्र, ४. गन्ध, ५. वास, ६. माला, ७. धूप, ८. दीप, ९. भूषणादि, १०. गुगुल, ११. मुद्ग, १२. मत्स्यपिण्ड, १३. दधि, १४. फल, १५. हतक, १६. सूप, १७. व्यञ्जनादि, १८. स्तुव ।

प्रतिमा (त्रिविध)—१. चित्र, २. अर्धचित्र, ३. चित्राभास ।

प्रतिमोपादानद्रव्यकृत भेद—१. शिलामयी, २. लौहमयी, ३. मणिमयी, ४. काष्ठमयी, ५. मृण्मयी ।

प्रतिष्ठाभेद (पञ्च)—१. स्थापना, २. आस्थापना, ३. संस्थापना, ४. प्रस्थापना, ५. प्रतिष्ठा ।

बिम्बमृद्भेद—१. शुक्ला, २. रक्ता, ३. पीता, ४. कृष्णा ।

बिम्ब (षड्विध)—१. मूल, २. कौतुक, ३. बलिबिम्ब, ४. तीर्थयात्राबिम्ब, ५. उत्सवबिम्ब, ६. स्नपनबिम्ब ।

भारतस्थ महाचल—१. महेन्द्र, २. मलय, ३. सह्य, ४. कीर्तिमान्, ५. ऋक्षपर्वत, ६. विन्ध्य, ७. पारियात्र, ८. कन्यक ।

महोत्सव-भेद—१. ध्वजा-रोहणपूर्वक, २. देवताह्वानपूर्वक, ३. अङ्कुरार्पणपूर्वक ।

यम (दस)—१. आनृशंस्य, २. क्षमा, ३. सत्य, ४. अहिंसा, ५. दम, ६. आर्जव, ७. शम, ८. प्रसाद, ९. माधुर्य, १०. मार्दव ।

यागोपकरण—१. समित्, २. इध्म, ३. परिधि, ४. आज्यपात्र,

५. प्रणीता, ६. प्रोक्षणी, ७. ब्राह्म, ३. रौद्र, ४. ऐन्द्र, ५. गारुड, अर्घ्यादिपात्र, ८. धूपपात्र, ९. द. भौतिक, ७. आसुर, ८. राक्षस सर्वपात्राधार, १०. घट, ११. वर्धनी, तथा ९. पैशाच ।

१२. कटाह, १३. कर्पर, १४. जलपात्र, १५. स्थाली, १६. मुकुटादि भूषण, १७. स्नपनद्रव्य १८. पञ्चगव्यद्रव्य, १९. वस्त्र, २०. ध्वज, २१. छत्र, २२. अष्टमङ्गल, २३. तालवृन्त, २४. पाद्यप्रतिग्रहपात्र, २५. आचमनप्रतिग्रहपात्र, २६. आसन, २७. पीठ, २८. विष्टर, २९. पादुका, ३०. दर्पण, ३१. ओदनपात्र, ३२. खट्वा ।

यौवनशिलाभेद—१. स्त्रीशि-
ला, २. पुंशिला, ३. नपुंसकशिला ।

रत्नोदक द्रव्य—१. माणिक्य,
२. पद्मराग, ३. नील, ४. वज्र, ५.
पुष्य, ६. प्रवाल, ७. मुक्तक, ८.
मरकत, ९. वैडूर्य ।

रुद्र-परिवार—१. गङ्गा-
यमुना, २. वृषभ, ३. सनक, ४.
स्कन्द, ५. सनत्कुमार, ६. ब्रह्मा,
७. चन्द्र, ८. आदित्य ।

लोहोदकद्रव्य—१. रुक्म, २.
रूप्य, ३. ताम्र, ४. आयस, ५.
त्रपु ।

वास्तुदेश—१. वैष्णव, २.

वास्तुपददेव—१. ब्रह्मा, २.
गुरु, ३. पर्जन्य, ४. जय, ५. माहेन्द्र,
६. आदित्य, ७. सत्य, ८. भृगु,
९. अन्तरिक्ष, १०. वह्नि, ११. पूषा,
१२. गृहक्षता, १३. भृगु, १४. यम,
१५. गन्धर्व, १६. भृङ्ग, १७. राजा,
१८. पितृ, १९. दौवारिक, २०.
सुग्रीव, २१. पुष्पदन्त, २२. वरुण,
२३. असुर, २४. शोषण, २५.
पापयक्ष्मा, २६. रोग, २७. अहि,
२८. मुख्य, २९. भल्लाट, ३०.
सोम, ३१. भुजग, ३२. अदिति,
३३. दिति, ३४. आप, ३५. आप-
वत्स, ३६. सविता, ३७. सावित्र,
३८. इन्द्र, ३९. इन्द्रजय, ४०. रुद्र,
४१. यक्ष्मा, ४२. मारीचि, ४३.
विपश्चित्, ४४. मित्र, ४५. भृगु ।

शिलाभेद (अवस्थाकृत)—
१. बाला, २. वृद्धा, ३. मध्यमा ।

शिलाभेद (स्थानकृत)—१.
वारुणी, २. माहेन्द्री, ३. आग्नेयी,
४. वायवी ।

शिलासंग्रह-स्थान—१.

हिमवान्, २. हेमकूट, ३. निषध,
४. त्रिकूट, ५. माल्यवान्, ६. ऋक्ष,

७. शृङ्गवान्, ८. मलय, ९. शनैश्चर, ९. राहु, १०. केतु ।

गन्धमादन, १०. मेरु, ११. सत्य,
१२. विन्ध्य, १३. पारियात्र, १४.
अर्बुद, १५. श्रीपर्वत, १६. जयन्त,
१७. श्वेतपर्वत ।

षट्कालार्चन—१. प्रातः, २.
मध्याह्न, ३. अपराह्न, ४. सायं, ५.
निशीथ, ६. प्रत्यूष ।

षोडशोपचार (पूजन)—१.
आसन, २. स्वागत, ३. पाद्य, ४.
अर्घ्य, ५. आचमनीय, ६. मधुपर्क,
७. पुनराचमनीय, ८. स्नान, ९.
वसन, १०. भूषण, ११. गन्ध, १२.
पुष्प, १३. धूप, १४. दीप, १५.
नैवेद्य, तथा १६. स्तुति-पाठ ।

सप्तलोक—१. भू, २. भूव,
३. स्व, ७. मह, ५. जन, ६. तप,
७. सत्य ।

सूर्यकला—१. तपनी, २.
तापनी, ३. धूम्रा, ४. ज्वलिनी, ५.
ज्वालिनी, ६. पावनी, ७. हव्यावाहा,
८. तेजोवती, ९. शतधा, १०. वामा,
११. पद्मप्रबोधिनी, १२. तमोपहा ।

सूर्य-परिवार—१. उषा, २.
सन्ध्या, ३. चन्द्र, ४. अङ्गार, ५.
बुध, ६. बृहस्पति, ७. शुक्र, ८.

स्कन्द-परिवार—१. मयूर,
२. शक्ति, ३. मेधा, ४. प्रज्ञा, ५.
द्विरद, ६. ककुद्, ७. देवसेना, ८.
विद्या ।

स्नपन-द्रव्य—१. घृत, २.
उष्णोदक, ३. रत्नवारि, ४. फलोदक,
५. लोहाम्भ, ६. मार्जनाम्भ, ७.
गन्धाम्भ, ८. अक्षतवारि, ९. यवोदक,
१०. पाद्य, ११. अर्घ्य, १२.
आचमन, १३. पञ्चगव्य, १४. दधि,
१५. पय, १६. मधु, १७. कषाय,
१८. गुलोदक, १९. इक्षुरस, २०.
नालिकेर-रस, २१. शान्तिवारि, २२.
मङ्गलोदक ।

हविर्भेद—१. नित्य, २.
नैमित्तिक, ३. काम्य ।

हविर्भेद (आलंयार्चा में)—
१. उत्तमोत्तम, २. उत्तम-मध्यम, ३.
उत्तमाधम, ४. मध्यमोत्तम, ५.
मध्यम-मध्यम, ६. मध्यमाधम, ७.
अधमोत्तम, ८. अधम-मध्यम, ९.
अधमाधम ।

हविर्भेद (गृहार्चा में)—१.
उत्तम, २. मध्यम, ३. अधम ।

परिशिष्ट- १
सप्तावरण-देवमण्डल

देवता	आवरणक्रम	देवता	आवरणक्रम
अग्नि	२, ५, ७	चन्द्रमा	६
अच्युत	१	जेष्ठा	३
अथर्व	४	जया और अन्य	५
अनिरुद्ध	१	जवन	७
अनुमिति	५	जाम्बव	६
अप्सरस	६	तक्षक	४
अवापवत्सा	७	तापस	१
अर्यमा	५	ईश	७
अश्विन्	५	ईशान	२
असुर	६	ईशितात्मा	२
अक्षत	४	ऋक्	४
अक्षहन्ता	७	एकादश रुद्र	५
आदित्य	७	अङ्गारक	६
इन्द्र	२, ७	कपिल	१
इन्द्रज	७	कामिनी	६
गङ्गा	३	किन्नरमिथुन	६
गन्धर्व	५	किष्किन्ध	१
गरुड	२	कुबेर	२
गविष्ठ	४	कुहू	५
गुह	४	केतु	२
चक्र	३	कौतुकबेर	गर्भगृह
चण्ड	७ बाह्यपरिधि	गङ्गा	३

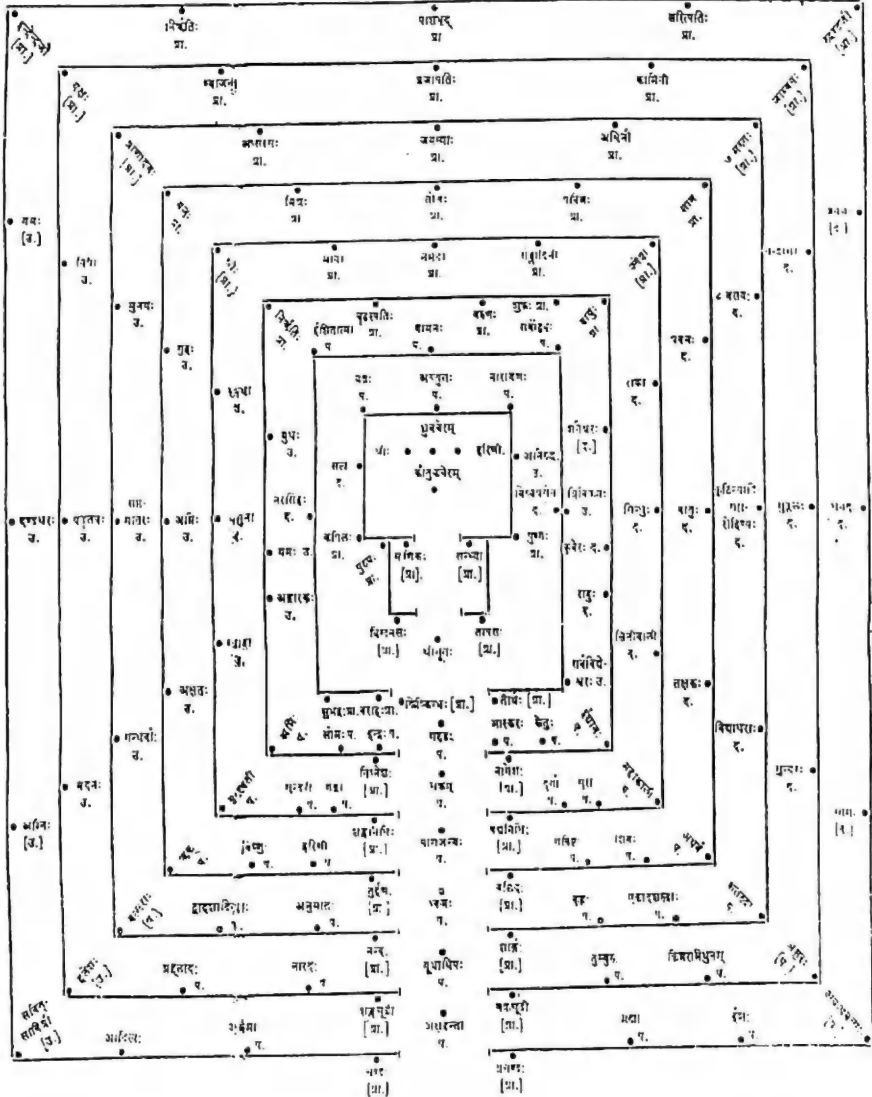
देवता	आवरणक्रम	देवता	आवरणक्रम
तुर्हन	५	बलिद	५
तोय	४	बुध	२
त्रिविक्रम	२	ब्रह्मा	७
दण्डधर	७	बृहस्पति	२
द्वादश आदित्य	५	भास्कर	२
दुर्गा	३	मणिक	२
ध्वज	५	रुद्रज	७
धनद	७	व्याजनी	७
ध्रुवबेर	गर्भगृह	वत्सरा	५
नन्द	६	वराह	५
नर्मदा	३	वरुण	२
नरसिंह	२	वसु आदि	५
नागेश	२	वामन	२
नारद	६	वायु	२/४
नारायण	१	विखनस	१
तीर्थ	२	विघ्नेश	४
तुम्बुरु	६	विद्याधर	५
पवन	४	विप	६
पवित्र	४	विष्णु	४
पाञ्चजन्य	४	विष्वक्सेन	१
पाशभूत	४	शतरुद्र	५
पुण्य	१	शनैश्चर	२
पुरुष	१	सर्वविघ्नेश्वर	६
प्रचण्ड	७ बाह्यपरिधि	सवितृ	७
प्रजापति	६	सर्वोद्वह	२
प्रह्लाद	६	सह्यादिनी	३
प्राण आदि	५	साम	४

देवता	आवरणक्रम	देवता	आवरणक्रम
सावित्र	७	सरित्पति	७
सिन्धु	७	सुभद्र	२
सिनीवाली	३	सुरा	३
सुन्दर या सुनन्द	६	सोम	२, ७
सुन्दरी	३	हरिणी	४, गर्भगृह
सरस्वती	३	हलेश	६

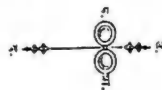
•

परिशिष्ट - २

वैखानसागमोक्त वैष्णवालयसप्तावरणदेवाः ।



अ = आ (३) ।
अ = आ (३) ।



द = आ (३) ।
अ = आ (३) ।

परिशिष्ट-३
विशिष्टशब्दसूची

अकाम (अर्चन)	२४०	आलवार	४९, ७७
अकार	८८	इज्या	३३
अग्रहार	१८५	उत्सव	२५०, २५२
अधिवास	२२२	उन्मान	१६६, १६७
अग्नि	५४, २१८, २२५	उपादान	३३
अङ्कुरार्पण	२०८, २०९, २५४	ऊर्ध्वपुण्ड्र	२६७
	२५९, २६९, २७६	ऋग्वेद	५१, ५४
अङ्गुलमान	१६४, १६७	एकायन	३४, ३५
अच्युत	४२, ७३, २१७, २१८	औखेय	५४, ५९
अत्रि	५६, ५८, ५९, ६५	कलश	२६०
अथर्ववेद	१४, १७	कश्यपाजू बुक-	
अन्वाहार्याग्नि	२१९	आफ विज्डम	६२
अभिगमन	३३	कुल्लूकभट्ट	२
अभिषेक	२५८	कुम्भपूजा	२२६, २७६
अर्चन	२४०, २४४	कुण्ड	२१९
अर्चावतार	३०, ७७	केशवाचार्य	६२
अष्टाक्षरमन्त्र	९१	क्रियाधिकार	६०, ११४-
अपवर्ग	८५		२०९, २५८
आगम	१-१०, १९-२४,	खिलाधिकार	६९
	४४, ५९	गरुडपुराण	७१
आधारहोम	२२६, २७६	गर्भगृह	१५७
आदिमूर्ति	७२, ७३	गर्भचक्रदीक्षा	२६०
आयुध (सायुध, निरायुध)	१२४, १२५	गर्भवैष्णव	२५८
		गृहार्चन	२४०

गोपुर	२०२	नारदीयसंहिता	१००, २०९, २४४
चक्राब्जमण्डल	२६५	निगम	१-३, ५-७
चतुर्व्यूह	७०	निगमागम	१
चर्या	६४	नित्यार्चन	२४७, २५२, २५६
चित्राधिकार	६१	नियम	८७, ९९
छान्दोग्योपनिषद्	१७, ३४	निरुक्ताधिकार	६१
जप	९२	नृसिंह	११९, १२०
जप्योदक	२६०	पञ्चकाल	३३
जयाख्यसंहिता	१५, ५३-५४	पञ्चबेर (ध्रुव, कौतुक, बलि,	
जलाधिवास	२२२	उत्सव तथा स्नपन)	१०८
जीव	८३-८५	पञ्चव्यूह	७०
जैनागम	२३	पञ्चवीर	७२
तन्त्र	१०-१९	पद	१८३
तन्त्रालोक	१२	परशुराम	१२३
तमिलप्रबन्ध	५७	पवित्रारोपण	२४९
तरुणालय	१९३	पाञ्चरात्र	२५-४०
तालमान	१६३, १६५, १६९	पातञ्जलयोगसूत्र	९७-९८
तैत्तिरीयआरण्यक	१७	पौष्करसंहिता	३, २६
देवालय	१७१	प्रकीर्णाधिकार	६०
देवीपुराण	५६	प्रणव	६९, ८८-९१, ९३
देहोत्पत्ति प्रक्रिया	७९-८०	प्रतिष्ठा	२०८-२३९
दीक्षास्वरूप	२६२-२६७	प्रतिमा	७८, ११०-११२
दैविकसूत्रम्	५६	प्रत्याहार	९७, ९९
धर्म	४	प्रादुर्भाव	७५
धारणा	९७	प्रायश्चित्त	२६, २६७
धारणाभेद	९९, १००	प्रासाद-लक्षण	१७२-२०४
ध्यान	९९, २३०	ब्रह्मस्वरूप	६४, ६७
ध्रुवबेर	११२	ब्रह्मपद	१८३
नाडीचक्र	१०३-१०५	ब्रह्मगुण्य	७२, ७३

बहिस्ताप-दीक्षा	२६२	रत्न	१४६, १५०, १५१
बादरायणसूत्रवृत्ति	६२	रात्र	२५
बेरपूजा	१०९-११०	राम	१२४
बौद्धधर्म	५३	रामानुज	५७, ८६
बौधायनश्रौतसूत्र	५४	रेचक	९८
बौधायनधर्मसूत्र	५५	लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन	५५
ब्रह्मसूत्रभाष्यम्	११	लक्ष्मीविशिष्टाद्वैतभाष्य	६२
भक्ति	८६	लिङ्गपूजा	१६
भगवदाराधन	१०९	वाक्यपदीय	३-४
भगवच्छास्त्र	४७, ५६	वाराहीतन्त्र	६
भरद्वाज	२८	वाराहमूर्ति	११७, ११८
भर्तृहरि	४, ६, २३	वाल्मीकिरामायण	५५
भागवत	३४	वासाधिकार	६१
मत्स्यपुराण	५६	वास्तुपुरुष	१८४, २२५
मनुस्मृति	२, ५६	वास्तुदेश	१८३, १८४
मन्त्रस्वरूप	८७, ९३, ९६	विभव	७४
मण्डप	२०२, २२४	विभवदेव	७६
महोत्सव	२५४	विमान	२२५
मातृका न्यास	८७-८८	विमानार्चनकल्प	५९
मूर्ति	११३, ११४-१३५	वेखणससूत	५३
यजुर्वेद	५४	वेदान्तदेशिक	३०, ५५
यज्ञाधिकार	६०	वैखानस आगम	४५, ४९, ५०, ५४
यतीन्द्रमतदीपिका	२३	वैखानस आगम साहित्य	५८
यामुनाचार्य	२६७	व्यूह	७०, ७१
योग	९७	शक्तितत्त्व	६८
योगाङ्ग	९७-१०३	शाण्डिल्यसंहिता	२७
यज्ञशाला	२१४-२१८, २२४	शिल्पशास्त्र	११०
योगलक्षण	९७	शिखाघट	२००, २०१

शैवागम	२२	सात्वतमत	३९
शोभा (द्वार)	२०२	सिद्धान्तरत्नावली	४०
श्रीदेवी	६९	सीतोपनिषद्	५४
श्रीनिवासमखी	४७, ६२	सूर्यमण्डल	१४१
श्रीप्रश्नसंहिता	२९, ३६, ११२	सृष्टिप्रक्रिया	६८, ७८
श्रीवैष्णव	५७	स्नपन	२५८-२६०
श्रौतसूत्र	५७	स्नपनकाल	२५८
सनत्कुमारसंहिता	३२, ३३	स्पन्दप्रदीपिका	३६
समूर्तार्चनाधिकरण	५९	स्वच्छन्दतन्त्र	६
साकार	१०९	स्वाध्याय	३३
सांख्यसप्तति	५	हयशीर्षसंहिता	२८, १२७
सत्य	७२, ७३	हनुमान्	१२५
		होमपूजा	१०९





लेखक परिचय



- नाम** : डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय
- जन्म तिथि** : २८ जनवरी १९६२ ई०
- पता** : ग्राम व पोस्ट:-कुरहुआ (द्वारा-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी-२२१००५
- पिता** : पं० श्री रामनाथ पाण्डेय
- शिक्षा** : प्रारम्भिक शिक्षा : १ से १० प्रायः ग्रामीण विद्यालय प्रायः प्रथम श्रेणी ।
उच्च शिक्षा : शास्त्री (ससम्मान) प्रथम श्रेणी, आचार्य-धर्मागम, (स्वर्णपदक प्राप्त), पी-एच०डी०-धर्मागम, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५ ।
- उपलब्धियाँ** : भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली, द्वारा पोस्ट डाक्ट्रल फेलोशिप प्राप्त, धर्म तथा आगम-तन्त्र (दर्शन) विषय में गहरी रुचि । प्रायः ३० शोध निबन्ध प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित । प्रायः ३५ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रिय शोध संगोष्ठियों में भागीदारी । प्रयाग स्थित धर्मज्ञानोपदेश संस्कृत महाविद्यालय द्वारा शास्त्ररक्षा सम्मान से सम्मानित ।
- सम्प्रति** : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मागम विभाग में असि० प्रोफेसर पद पर कार्यरत ।

लेखक परिचय



- नाम** : डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय
- जन्म तिथि** : २८ जनवरी १९६२ ई०
- पता** : ग्राम व पोस्ट:-कुरहुआ (द्वारा-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी-२२१००५
- पिता** : पं० श्री रामनाथ पाण्डेय
- शिक्षा** : प्रारम्भिक शिक्षा : १ से १० प्रायः ग्रामीण विद्यालय प्रायः प्रथम श्रेणी ।
उच्च शिक्षा : शास्त्री (ससम्मान) प्रथम श्रेणी,
आचार्य-धर्मागम, (स्वर्णपदक प्राप्त),
पी-एच०डी०-धर्मागम, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००५ ।
- उपलब्धियाँ** : भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली, द्वारा पोस्ट डाक्ट्रल फेलोशिप प्राप्त, धर्म तथा आगम-तन्त्र (दर्शन) विषय में गहरी रुचि । प्रायः ३० शोध निबन्ध प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित । प्रायः ३५ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रिय शोध संगोष्ठियों में भागीदारी । प्रयाग स्थित धर्मज्ञानोपदेश संस्कृत महाविद्यालय द्वारा शास्त्ररक्षा सम्मान से सम्मानित ।
- सम्प्रति** : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मागम विभाग में असि० प्रोफेसर पद पर कार्यरत ।